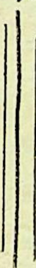
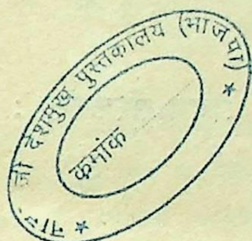
श्रीगुरुसिद्धांतपारिजात

(दस गुरुओं का इतिहास)



लेखक

श्रीहरसिंह साधु





हिन्दुत्वप्रबोधिनी टीका

रामकृष्ण शास्त्री 'अव्यय'

प्रकाशक

श्रीरामप्रकाशन

१२२ श्रीरघुनाथ पुरा, जम्मू



प्रथम संस्करण : ५००



सन् १९७४



मूल्य—: २० रुपये



मुद्रक—:

इन्टरनेशनल आर्ट प्रिंटर्ज

बाजार पीरमिट्ठा, जम्मू ।

श्रीगुरुसिद्धांतपारिजात

एक परिचय

१ कथावस्तु

श्रीगुरुसिद्धांतपारिजात, ब्रह्मकुटी, निर्मल-आश्रम, काशी के निवासी, संस्कृत-साहित्य के धुरन्धर विद्वान्, संत-कवि श्रीहरसिंह साधु का लिखा हुआ, उच्चकोटि का सद्ग्रंथ है। इसमें ग्रंथकार ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के सबल समर्थक, संरक्षक एवं हिन्दुत्व के सहज-अभिभावक आर्यगुरुओं (दस सिक्खगुरुओं) के आदर्श-जीवन, सत्य-सनातन-सिद्धान्त और तात्कालिक प्रमुख घटनाओं का निष्पक्ष, कलापूर्ण, मार्मिक वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के कुल पन्द्रह विश्राम हैं। इनमें क्रमशः अपने दस-गुरुओं का सर्वाङ्ग-सुन्दर इतिहास समुल्लिखित हैं।

२ भाषा-शैली

इस ग्रन्थ की भाषा पद्यमय-संस्कृत है। सरल, सरस और सर्वगम्य होते हुए भी इस में भावगंभीरता अन्तर्निहित है। अनुष्टुप्छन्द की प्रधानता में इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीड़ित आदि छन्द भी प्रसङ्गानुसार विराजमान हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा प्रभृति अलङ्कार अनुकूल स्थानों पर सजे-बजे हैं। ओजोमय प्रसादगुण झलकता-सा दृष्टिगोचर होता है। रसों की वर्षा घटनाक्रम के अनुसार हुई है। कविता में कला और भाव, दोनों पक्ष निःशुल्क समझौता कर बैठे हैं। रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों की शैली ही शिल्पता की आधारशिला है। संक्षेप में

यह सद्ग्रन्थ एक धर्मसापेक्ष ऐतिहासिक महाकाव्य की संज्ञा पाने का समुपयुक्त अधिकारी है, जो किसी भी धर्मग्रन्थ से कम महत्व नहीं रखता।

३ लेखक-परिचय

लेखक के नाम धाम आदि का उतना ही आंशिक पता मिलता है, जो पन्द्रहवें विश्राम के बाद लिखा हुआ है। इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं हुआ। विज्ञ-पाठकों से मेरा यह विशेष आग्रह है, कि इससे अधिक परिचय पाने वाले सज्जन कृपाकर मुझे अवश्य सूचित करें।

४ रचना-काल

विक्रम संवत १९४१ (सन् १८८४) में लिखा गया यह सद्ग्रन्थ, सम्भवतः तत्काल ही ग्रन्थकार के एक अनन्य शिष्य बाबू रामधारी सहाय के सत्प्रयत्न से पहलीबार पुरानी मुद्रालिपि में काशी से मुद्रित हुआ था।

लगभग एक सौ साल के बाद, आज इसकी गवेषणा से ऐसा मालूम होता है, कि इस बीच में इसका अन्तर्धान-सा हो गया था।

५ हिन्दी-टीका

मैंने यथा सम्भव मूलग्रन्थ का अक्षरशः भावार्थ प्रकट करने की लालसा से यह हिन्दी टीका लिखी है और इसका नाम "हिन्दुत्व-प्रबोधिनी' रखकर ग्रन्थकार के अन्तः करण की भारतीय ममता और क्षमता को समता में समुपस्थित करने की चेष्टा की है।

६ सम्भावना

इस पर समालोचक विद्वान्-पाठकों की विषयान्वित-सम्मतियों का समादर करने की सम्भावना को लेकर ही मैं इसके पुनर्मुद्रण के लिये आगे बढ़ा हूं।

७ उद्देश्य

मेरे अपने विचार में ग्रन्थकार का आर्यगुरुसिद्धांतों में चिरस्थायित्व एवं सर्ववेद्यत्व होने का सप्रयास दृष्टिकोण ही इस ग्रन्थ के निर्माण में सदुद्देश्य है। उनके मनोनीत प्रयाजन को यथामति समझ कर ही मैंने समयानुसार इसे राष्ट्रभाषा हिन्दी में भावार्थ-सहित सबके सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है इससे स्वतन्त्र भारत की जनसत्ता में फैली हुई कुछ राजनैतिक भ्रान्तियों का निराकरण होगा और हम अपना सामूहिक राष्ट्रीय उत्तरदायित्व समझने में सावधान होंगे।

८ कृतज्ञता

अब इसके संप्रकाशन में ललितकला, संस्कृति तथा साहित्य अकाडमी, जम्मू-कश्मीर से प्राप्त होनेवाली १८ सौं रुपये की आंशिक सहायता के लिए मैं अकाडमी का आभारी हूं।

शारद नवरात्र
अक्तूबर १९७४

रामकृष्ण शास्त्री 'अव्यय'
१२२, श्रीरघुनाथपुरा, जम्मू।

श्रीगुरुसिद्धांतपारिजात

विषय–सूची

नाम	पृष्ठ
१ प्रथम विश्राम.	
(क) श्रीनानक-जन्म से उनके पुत्र-जन्म पर्यन्त वर्णन	१
२ द्वितीय विश्राम.	
श्रीनानक की पूर्व-यात्रा का वर्णन	३२
३ तृतीय विश्राम.	
श्रीनानक की दक्षिण-यात्रा का वर्णन	६१
४ चतुर्थ विश्राम.	
श्रीनानक की उत्तर-यात्रा का वर्णन	११३
५ पंचम विश्राम.	
श्रीनानक की पश्चिम-यात्रा का वर्णन	१५०
६ षष्ठ विश्राम.	
श्रीनानक के सदुपदेश व महाप्रयाण का वर्णन	१७३
७ सप्तम विश्राम.	
(ख) श्रीअङ्गद का वर्णन	२०६
८ अष्टम विश्राम.	
(ग) श्रीअमरदास का वर्णन	२२६

९ नवम विश्राम.
(घ) श्रीरामदास का वर्णन २४७
१० दशम विश्राम.
(ङ) श्रीअर्जुनदेव का वर्णन २५७
११ एकादश विश्राम.
(च) श्रीहरिगोविन्द का वर्णन २८५
१२ द्वादश विश्राम.
(छ) श्रीहरिराय का वर्णन ३६३
१३ त्रयोदश विश्राम.
(ज) श्रीहरिकृष्ण का वर्णन ३७१
१४ चतुर्दश विश्राम.
(झ) श्रीत्यागबहादुर का वर्णन ३८५
१५ पंचदश विश्राम.
(ञ) श्रीगोबिन्द सिंह का वर्णन ४१९

:————:



श्री गणेशाय नमः

अथ प्रथमोविश्राम :

गणेशं रमेशञ्च नत्वातिभक्त्या
प्रसिद्धं जगत्याङ्गुरुम्ब्रह्मरूपम् ।
शिवं साम्बरूपङ्गिरंश्वेतवस्त्राङ्गुरो:
पारिजातंनिबन्धङ्करोमि ॥१॥

पहला विश्राम प्रारम्भ

श्री गणपति, श्री विष्णु, जग-विदित, ब्रह्मस्वरूप श्री गुरुदेव, श्री शङ्कर-पार्वती और शुक्ल-वसना श्री सरस्वती देवी को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर मैं (हरसिंह-हरिसिंह-साधु) इस गुरुसिद्धात-पारिजातग्रन्थ की रचना करता हूं ॥१॥

मद्रदेशे महापुण्ये तलवण्डीति नामिका ।
नगरी सत्समाक्रान्ता पुण्यारण्यसमावृता ॥२॥

पवित्र मद्रदेश (पंजाब) में 'तलवण्डी' नाम का एक ग्राम है। वहां पवित्र-आचार के लोग रहते हैं और उसके आस-पास बहुत से सुन्दर वन-विभाग दृष्टि-गोचर होते हैं ॥२॥

तत्र क्षत्रकुले पुण्ये जातः कल्याणनामकः ।
तस्य भार्या सुशीलासीत्सती तृप्तेति नामिका ॥३॥

उस गांव में, खत्री-वंश में 'कल्याण' नाम का एक सभ्य पुरुष था। उसकी धर्मपत्नी, बड़ी शीलवती एवं पतिपरायणा थी, जिसका नाम था "तृप्ता देवी" ॥३॥

शास्त्राक्षिबाणराकेशसंख्याते शुभवत्सरे ।
रवौ मेषे तृतीयायां सिते पक्षे शुभे दिने ॥४॥

मेषस्थ सूर्य अर्थात् वैशाख मास के शुक्लपक्ष की तृतीया तिथियुक्त शुभ दिन में, संवत् १५२६ में......॥४॥

रात्रेर्यामे चतुर्थे तु तस्यां जातो महाशयः ।
गुरुनानकरूपेण कलिदोषापहो हरिः ॥५॥

रात के चौथे पहर (ब्राह्म मुहूर्त्त) में उस कल्याण (वेदी) की अर्धाङ्गिणी (तृप्तादेवी) के गर्भ से, कलियुग के दोषों का नाश करने वाले, साक्षात् हरि-तुल्य, महापुरुष, श्री गुरुनानकदेव का शुभ-जन्म हुआ ॥५॥

देवकिन्नरगन्धर्वयक्षसिद्धोरगादयः ।
नाकीयसुमनोभारान् ववर्षुश्च जगुस्तदा ॥६॥

श्री गुरु नानकदेव की जन्म-वेला पर देवता, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध, नाग आदि सभी ने स्वर्गीय-फूलों की वर्षा की और हर्ष से

वर्धायन गीत गाये ॥६॥

पुत्रभार्यासमायुक्तास्तदा रागाः समागताः ।
कोटिसूर्यसमा जाता प्रभा तत्र विहायसि ॥७॥

उस मङ्गल-काल में सम्पूर्ण राग अपने-अपने परिवारों को साथ लेकर वहां समुपस्थित हुए और गगन-मण्डल पर असंख्य सूर्यों की तेजोराशि के समान दिव्य-प्रकाश दिखाई पड़ता था। ॥७॥

कृत्वा नीराजनं सर्वे गता धाम निजं निजम् ।
गुरोरेव गुणग्रामं वर्णयन्तः परस्परम् ॥८॥

इस प्रकार वे सभी देवता, किन्नर प्रभृति लोग बालक श्री गुरुनानकदेव की आरती कर उन्हीं के गुण-गान करते-करते अपने-अपने आवास को लौट गये ॥८॥

किं निमित्तोऽवतारोऽयमिति पृष्टः पितामहः ।
प्राह वृत्तमजानन्तं श्रूयतां भवताधुना ॥९॥

"श्री हरि का श्री गुरुनानकदेव के रूप में अवतार लेने का क्या प्रयोजन है ?" इस प्रकार जिज्ञासु देवगण द्वारा प्रश्न किये जाने पर, श्री ब्रह्मा ने, देवमण्डल से कहा, कि इसका कारण भी आप श्रवण करें ॥९॥

पापसङ्घसमाक्रांता यदाऽभूद्धरणी तदा ।
तस्मा भारातिदुःखेन शुक्लोधर्मो रुरोद ह ॥१०॥

यह पृथिवीमाता, जब पाप-ताप के सन्ताप से सम्पीड़ित हो गई, तो उसके दुःखभार से दुखी होकर विशुद्ध-धर्म भी रोने लगा ॥१०॥

एकपादेन युक्तोऽहं क्षीयते सोऽपि पातकैः ।
प्रभो पाहि प्रपन्नोऽहं रसा याति रसातलम् ॥११॥

धर्म ने व्याकुल होकर श्रीमन्नारायण से नम्र-प्रार्थना की, कि हे प्रभो ? मैं इस कलिकाल में वैसे ही एक चरणवाला रह गया हूं । परन्तु अब तो पाप-समूहोंद्वारा मेरा एक पाद भी तोड़ा जा रहा है । पापों से संक्लिष्ट होकर धरती माता भी पाताल में जाने को समुद्यत है। इस-लिए आत्म-त्राण की कामना से मैं आपकी शरण में आया हूं । आप हमारी रक्षा करें ॥११॥

इदं श्रुत्वा वचस्तस्य धर्मसेतुर्हरिः स्वयम् ।
आश्वासनं चकारास्य वाक्यजातविधानतः ॥१२॥

शरणार्थी धर्म की करुण-पुकार सुनकर, धर्म-त्राता श्रीहरि ने, विविध सान्त्वना देकर, उससे सुरक्षा की प्रतिज्ञा की ॥१२॥

गुरुरूपावतारेण दशावृत्या भवाम्यहम् ।
हृष्टं पुष्टं करिष्यामि धर्म त्वां प्रति मा शुचः ॥१३॥

श्रीमन्नारायण ने कहा, हे धर्म ! तुम चिन्ता मत करो। अब मैं गुरु-स्वरूप से दश बार अलग-अलग अवतार धारण करूंगा। मेरे आविर्भाव से तुम शुद्ध,-बुद्ध, हृष्ट-पुष्ट और शांत बने रहोगे ॥१३॥

नानकं रूपमाद्यं मे द्वितीयंचाङ्गदाभिधम् ।
अमराख्यं तृतीयंच रामदासं तुरीयकम् ॥१४॥

मेरे उन दश अवतारों के क्रमशः ये नाम होंगे, श्रीनानकदेव, श्री अङ्गददेव, श्री अमरदास, श्री रामदास ... ... ॥१४॥

पंचमंचार्जुनं षष्ठं हरिगोविन्दनामकम् ।
सप्तमं हरिरायाख्यमष्टमं हरिकृष्णकम् ॥१५॥

श्री अर्जुनदेव, श्री हरिगोविन्द, श्री हरिराय, श्री हरिकृष्ण ॥१५॥

त्यागबह्लादराख्यंच नवमं मामकं वपुः ।
गुरुगोविन्दसिंहाख्यं दशमं विद्धि सन्मते ॥१६॥

श्रीत्यागबहु-आदर, श्री गोविन्दसिंह ॥१६॥

भक्तरूपावतारास्ते मद्भक्तेरुपदेशकाः ।
विना भक्ति न नश्यन्ति कलेर्दोषाः कथंचन ॥१७॥

वे सभी मेरे भक्तस्वरूप अवतार, मेरीभक्ति का सदुपदेश करेंगे। क्योंकि भक्ति के बिना कलिकाल के दोषों का सर्वनाश होना असम्भव है ॥१७॥

वाक्यजातमिदं श्रुत्वा शान्तचित्तो बभूव ह।
शुक्लोधर्मोऽवतारः स्याद्धरेरेतन्निमित्तकः ॥१८॥

श्रीमन्नारायण की अवतार-ग्रहण की यह प्रतिज्ञा सुन कर धर्म के मन को शांति प्राप्त हुई। उसने समझ लिया कि धर्म-सम्वृद्धि के लिए ही गुरु-स्वरूप में, प्रभु का अवतार होने वाला है ॥१८॥

भक्तरूपावतारोऽयं हरेर्देवाः स्वभावतः ।
सिद्ध एवावगच्छध्वं यथासीत् कपिलोमुनिः ॥१९॥

हे देवगण ? जैसे पुराकल्प में कपिल मुनि हुए, वैसे ही भगमान् श्री विष्णु का भक्तरूप अवतार, यह श्री नानकदेव भी स्वभावसिद्ध जानो ॥१९॥

गुर्वपेक्षा न तत्राऽस्ति स्वयं ज्योतिः स्वभावतः ।
विवस्वतो यथापेक्षा नास्ति स्वस्य प्रकाशने ॥२०॥

जिस प्रकार श्री सूर्यनारायण को अपने सम्प्रकाश के लिए किसी और की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही श्री नानकदेव को भी किसी अन्य गुरु की आवश्यकता नहीं है। यह तो स्वयंज्योति स्वभाव-सिद्ध महापुरुष हैं ॥२०॥

कलिकालकृतं चायं धराभारं हरिष्यति ।
विघ्नसङ्घपरावृत्तौ देवपूजा भविष्यति ॥२१॥

यह अलौकिक महापुरुष कलिकाल के दोषों द्वारा परिपीड़ित पृथ्वी के भार का हरण करेंगे। विघ्न-बाधाओं के दूर होने पर यथापूर्व देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा होगी ॥२१॥

स्यात्तथात्रगुरोर्जन्म श्रुत्वा प्रीत्या समागताः ।
पुरीनारीजनाः सर्वे महामङ्गलहेतवे ॥२२॥

अस्तु, इसी प्रकार एक दूसरे से गुरु-जन्म का संवाद सुन कर, तलवण्डी के निवासी सब नर-नारीगण, प्रीतिपूर्वक मङ्गलोत्सव मनाते हुए, उनके आवास-गृह पर आ गए ॥२२॥

कल्याणस्य गृहे जातो मङ्गलध्वनिरक्षतः ।
कुलाचार्येण चागत्य कृतं कर्म यथाविधि ॥२३॥

श्री कल्याण (वेदी) के घर में अक्षय मङ्गल-ध्वनि होने लगी। उनके कुलपुरोहित ने आकर शास्त्रविधि से यथारीति सामयिक जातकर्म आदि धर्मानुष्ठान को संपन्न करवाया ॥२३॥

जन्मपत्रं च विन्यस्तं यदा तेन मनीषिणा ।
तदा दृष्ट्वा भविष्यत्वं गुरोराश्चर्यमाप्य सः ॥२४॥

तदनन्तर कुलाचार्य ने श्रीनानकदेव का जन्म-पत्र बनाया । उनके सुलक्षण और सुफल-ग्रहगति को देख कर आचार्य ने उज्वल-भविष्य की रूप-रेखा को पहचाना और बड़े आश्चर्य से कहा ॥२४॥

प्राह कल्याण बालोऽयं सर्वकल्याणकारकः ।
इदं सत्यं विजानीहि शास्त्रदृष्ट्यामयोच्यते ॥२५॥

हे कल्याण ? यह बालक (श्री नानक) लोकोत्तर-जन्मा है । इससे सबका कल्याण होगा । इस बात को तुम सत्य समझो । मैं शास्त्रानुसार ही इसके उत्तम-जीवन की घोषणा कर रहा हूं ॥२५॥

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा मग्नचित्तो बभूव सः ।
दानमानादिभिस्तेन तोषितानिखिला जनाः ॥२६॥

कुलपुरोहित की शास्त्रसम्मति को सुनकर श्री कल्याण (वेदी) का मन असीम आनन्द में बिलीन हो गया । तब उसने दान मान आदि उदार सत्कार्यों से जन-समुदाय को संतृप्त किया ॥२६॥

दिव्यकान्तियुतं पुत्रं दृष्ट्वा माता स्म तृप्यति ।
दिने-दिने शशीवायं ववृधेभुवनेश्वरः ॥२७॥

अलौकिक कांति वाले अपने पुत्र (श्री नानक) को देखकर माता (तृप्तादेवी) परम-सुख पाती थी । भुवन-पति यह बालक दिनों दिन, चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा ॥२७॥

सार्धे वर्षे व्यतीते तु जानुहस्तैः स्म गच्छति ।
स्वस्तिकाद्यासनं कृत्वाऽकरोन्मुद्रांचशाम्भवीम् २८॥

जन्म के डेढ़ वर्ष बाद ही यह बालक हाथों और घुटनों के बल पर इधर उधर चलने लगा। कभी-कभी स्वस्तिकासन आदि यौगिक आसनों से बैठकर शाम्भवी (योग-प्रसिद्ध) मुद्रा का अभ्यास करता था ॥२८॥

कदाचिदासने स्थित्वा भ्रुवोर्ध्यानं चकार ह ।
कर्णछिद्रापिधानेन कृतवान्नादचिन्तनम् ॥२९॥

किसी समय पद्मासन या सिद्धासन से बैठ कर भ्रूमध्य में ज्योतिर्ध्यान करता और कभी कानों को वन्द कर नाद-श्रवण का अभ्यास करता था ॥२९॥

द्वितीये वा तृतीये वा गते वर्षे स्म धावति ।
राम रामेति रामेति बालसङ्घे स्म गायति ॥३०॥

जन्म के दूसरे-तीसरे वर्ष में ही यह आस-पास में दौड़ने लगा। इसके साथ-साथ अपने सहचर-शिशुओं के मध्य श्री राम-नाम का संकीर्त्तन भी करने लगा ॥३०॥

सप्तमे च गते वर्षे पितुर्वाञ्छेत्यजीजनत् ।
सूनोर्यज्ञोपवीतादि भवेद्विद्याप्रपाठनम् ॥३१॥

जब श्रीनानक सात साल के हुए तो उनके पिता की हार्दिक इच्छा हुई कि अब अपने प्यारे पुत्र का यज्ञोपवीत-संस्कार करवाकर इसे विद्याभ्यास में लगाना चाहिये ॥३१॥

कुलाचार्यं समाहूय वृत्तमेतन्न्यवेदयत् ।
साधु साध्विति तेनोक्त्वा शोधितं शोभनं दिनम् ॥३२॥

इसी बिचार से उसने अपने कुलपुरोहित को बुलवाकर अपनी

सदभिलाषा प्रकट की। कुलाचार्यने ठीक है, बहुत अच्छी बात है, कह कर यथाशीघ्र ही तदुपक्त शुभ मुहूर्त का दिन निश्चित किया ॥३२॥

तद्दिनं प्राप्य चारम्भः कृतः कल्याणवेदिना।
यज्ञशालां सुसम्पाद्य तत्र वेदीं च पावनीम् ॥३३॥

उस शुभ दिन के आने पर श्री कल्याण वेदी ने उपनयन-संस्कार के समुपयुक्त साधन-सामग्री को जुटाना आरम्भ कर दिया। उसने सद्यः सम्पादित-यज्ञशाला में पवित्र-वेदी का निर्माण भी करवाया ॥३३॥

सूत्रयज्ञोपयोगानि शुचिद्रव्याणि यानि च।
विवृता वेदवेदाङ्गपारगा द्विजसत्तमाः ॥३४॥

तदुपयुक्त समस्त पवित्र-द्रव्यों का संग्रह कर लेने पर उसने वेद वेदाङ्गों के धुरन्धर विद्वान्, श्रेष्ठब्राह्मणों का वरण भी कर लिया ॥३४॥

दीर्घशाटिकया युक्तः स्थूलोष्णीषं च धारयन्।
कुलाचार्यस्तदायातो गुर्वाचार्यत्ववांछया ॥३५॥

तब लम्बी धोती और मोटी पगड़ी बांधे हुए कुलाचार्य ने श्री गुरु नानकदेव के आचार्य बनने के लिए सहर्ष आगे कदम बढ़ाया ॥३५॥

श्री गुरुं च समाहूय मध्यभागे न्यवेशयत्।
अद्य यज्ञोपवीतं ते श्रीनानक भविष्यति ॥३६॥

आचार्यवर ने श्रीनानक को बुला कर मध्यभाग में बिठलाया और कहा कि आज तुम्हारा उपनयन-संस्कार सम्पन्न होगा ॥३६॥

कीदृशं चेदमित्युक्तावीदृशं प्रत्युवाच सः।
लोकसिद्धमिदंसूत्रं किं करिष्यति मामकम् ॥३७॥

श्रीनानक ने पूछा, कैसा यज्ञ सूत्र ? तब आचार्य ने एक यज्ञोपवीत दिखा कर कहा कि ऐसा। श्रीनानक ने फिर कहा, कि इस लौकिक-सूत्र से मेरा क्या हित-साधन होगा ? ॥३७॥

अस्य वस्त्रं च कौपीनं धारयामि न संशयः।
लोकसिद्धफलं चास्य दृश्यते नात्र कर्हिचित् ॥३८॥

सूत्र-विनिर्मित वस्त्र और लंगोटी आदि तो मैं पहनता हूं। इनका प्रत्यक्षलाभ है। परन्तु इस सूत्र (यज्ञोपवीत) का कोई प्रत्यक्ष-फल मुझे मालूम नहीं होता ॥३८॥

लोकसिद्धेन तूलेन कृतं चैतद्विकर्मणा।
निर्मितं किं करिष्यामि सिद्धमेतेन कथ्यताम् ॥३९॥

यह यज्ञोपवीत साधारण-सूत्र से बना है और हीन-कर्मा (द्विज) ने इसे बनाया है। तब आप ही बतलाईये कि इससे मुझे क्या विशेष लाभ हो सकता है ? ॥३९॥

कारकस्य विकर्मत्वं श्रीमता कथमुच्यते।
हिंसकत्वाद्विजानीहि हिंसके न च विप्रता ॥४०॥

आचार्य ने पूछा, कि यज्ञोपवीत-निर्माता (ब्राह्मण) को, आपने विकर्मा (हीन-कर्म वाला) कैसे समझ लिया ? तब श्रीनानक ने उत्तर दिया, कि हिंसक होने से उस विप्र में ब्राह्मणत्व नहीं रह जाता ॥४०॥

इदं सर्पं प्रति प्राह धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
क्वापि हिंसा न कर्तव्या सदा श्रुत्या प्रमीयते ॥४१॥

धर्मपुत्र श्री युधिष्ठिर ने ऐसा ही सदुपदेश अजगर को दिया था, कि कभी कहीं पर किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। वेदों में भी

अहिंसा को महत्त्व देते हुए, हिंसा को वर्जितकर्म बतलाया गया है ॥४१॥

कथं प्रोक्ता श्रुतौ हिंसा यागादाविति चेच्छृणु ।
सदा हिंसकमालोच्य श्रुतिमात्रा विधीयते ॥४२॥

इस पर यदि यह प्रश्न हो कि यज्ञों में हिंसा (पशु-बलि) की आज्ञा वेदविहित क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि हमेशा हिंसा में प्रवृत्त लोगों को शनैः शनैः उससे हटाने के लिए एक सीमा का निर्धारण, वेदों ने किया है । परिणामतः अहिंसा ही वेदों को अभिप्रेत है ॥४२॥

अतोऽहिंसा न कर्तव्या सर्वदैव मुमुक्षुणा ।
यः करोति स विज्ञेयो राक्षसो न च मानवः ॥४३॥

इसलिये मुक्ति की कामना रखने वाले पुरुष को कभी कहीं पर किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए । जो कोई हिंसा में अभिरुचि रखता है, वह नर-पिशाच है । उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता ॥४३॥

दम्भहिंसादिसंयुक्ताः कलौ प्रायो द्विजातयः ।
तैर्निर्मितमिदं सूत्रं किं करिष्यति मामकम् ॥४४॥

इस कलियुग में प्रायः द्विज लोग वृथा अभिमान, हिंसा प्रभृति दोषों से युक्त हैं । तब उनके बनाये हुए इस यज्ञोपवीत से मेरा क्या कल्याण हो सकता है ? ॥४४॥

शिष्टाचारैश्च शास्त्रेण परिप्राप्तत्वहेतुना ।
सर्वधर्मोपकारित्वाद्धार्यतामिति चेच्छृणु ॥४५॥

यदि ऐसा कहें कि कुल-जाति की परम्परागत-मर्यादा, शास्त्राज्ञा और धर्मानुष्ठानों में सोपवीत को ही अधिकार-प्राप्ति के कारण इसे अवश्य धारण करना चाहिये, तो इसका प्रत्युत्तर भी सुनिये ॥४५॥

यथाऽस्पृश्येन सम्भिन्नं जलं शुद्धिकरं न हि।
वह्निमूलस्य वृक्षस्य फलोत्पादकता न हि ॥४६॥

जैसे अपवित्रद्रव्य या व्यक्ति के संयोग से पानी में पावन करने की शक्ति नहीं रह जाती और आग से दग्ध-मूल वृक्ष में फल पैदा करने की योग्यता समाप्त हो जाती है ॥४६॥

शवस्पृष्टे यथावह्नौ कर्मसाधकता नहि।
कर्तृदोषादिदं सूत्रं तथा पुण्यकरं नहि ॥४७॥

मृतक-व्यक्ति की दाहक चिताग्नि में, जैसे किसी भी धार्मिक क्रिया को संपन्न करने का सामर्थ्य नहीं है, ठीक उसी प्रकार कर्ता (निर्माता) के दोषयुक्त होने से इस यज्ञोपवीत में भी कोई पावनता नहीं रह जाती ॥४७॥

दयातूलेन संतोषो यदि सूत्रं समुद्भवेत्।
ब्रह्मचर्यं भवेद्ग्रन्थिः सत्समावर्तनं यदि ॥४८॥

यदि दया-रूप कपास से संतोष-रूप सूत्र तैयार हो। ब्रह्मचर्य-रूप ग्रन्थि और सत्य-रूप घेरा (मण्डलाकार) हो ॥४८॥

इदं सूत्रं हि जीवस्य वर्तते यदि दीयताम्।
त्रुटिरस्य न मालिन्यं दह्यते न च गच्छति ॥४९॥

तो ऐसा सूत्र (यज्ञोपवीत) जीवका वास्तव में हित-साधक है। यदि आप के पास यह पवित्र-सूत्र है, तो लाईये, मैं इसे स्वीकार करता हूं। क्यों कि इसमें टूटने, मैला होने, जलने या छीने जाने का कोई भय नहीं है ॥४९॥

इदं सूत्रं गृहीत्वा यो यत्र कुत्रापि गच्छति ।
धन्य धन्योऽस्ति लोकेऽस्मिन् वेदसारं स पश्यति ॥५०॥

इस प्रकार के पारमार्थिक-सूत्र (जनेऊ) को संधारण कर, कोई भी प्राणी अभय होकर जहां-कहीं जा सकता है। वह जीव संसार में धन्यवाद का पात्र है और वेदों का तत्व-ज्ञाता भी है ॥५०॥

गतास्तूष्णीमिदं श्रुत्वा ब्राह्मणा इतरे जनाः ।
अयं बालो न विज्ञेयस्तत्ववेत्ता प्रतीयते ॥५१॥

श्रीनानक की पूर्वोक्त ज्ञानोक्तियों को सुनकर वेदपाठी ब्राह्मण तथा अन्य सभ्य-जन चुप हो गये। उन्होंने अनुभव किया, कि यह साधारण बालक नहीं है। यह तो कोई तत्वज्ञानी महात्मा है ॥५१॥

अयं व्यासो वसिष्ठो वा विष्णुरेव न संशयः ।
एवमुक्त्वा कुलाचार्यैर्मानसी नतिराश्रिता ॥५२॥

निःसन्देह यह साक्षात् वेदव्यास, वसिष्ठ अथवा स्वयं नारायण ही है। इस प्रकार कह कर कुलाचार्य ने श्रीनानक की मानसिक वन्दना की ॥५२॥

इदं-सूत्रं समीपे मे वर्तते न च दीयताम् ।
गुरुम्प्राह कुलाचार्यो भक्तियुक्तमिदं वचः ॥५३॥

तब कुलाचार्य ने भक्तिपूर्वक श्रीनानक से कहा, कि ऐसा ज्ञान-सूत्र तो मेरे पास नहीं है। कृपा कर आप मुझे यह प्रदान करें ॥५३॥

श्रीगुरुवाच—: गीतासूक्तंतु यत्तत्वं विद्धि सूत्रं मयोदितम् ।
नहि गीतासमं शास्त्रं विद्यते भुवनान्तरे ॥५४॥

श्रीनानक ने कहा, श्रीमद्भगवद्गीता में जो तत्व-ज्ञान वर्णित है, उसी को सूत्र-रूप से, मैंने कहा है। क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता के समान सर्वसार बोधक-शास्त्र, और कोई नहीं है ॥५४॥

अमानित्वमदम्भित्वमित्यादिकं त्रयोदशे।
लक्षणं बोधपात्रस्य प्राह देवः सनातनः ॥५५॥

भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में मुमुक्षु का लक्षण कहा है, कि उसमें मानाभाव, दम्भहीनता, अहिंसा, सहिष्णुता, सरलता, सद्गुरु-सेवा, अन्दर और बाहिर की पवित्रता, स्थिरता, संयम, विषय-विकारों से वैराग्य, अहंकार का त्याग, जन्म, मरण, वृद्धता रोग प्रभृति में अत्यन्त क्लेश और दोषों का निरीक्षण, स्त्री, पुत्र, गृह आदि में आसक्ति एवं ममता का त्याग, अभिलषित तथा अवांछित कर्म-फलों की प्राप्ति और अप्राप्ति में सदा समानता, ईश्वर में अनन्यभाव से एकान्त-भक्ति, एकान्तवास, जन-समुदाय में अस्थिति, सर्वदा अध्यात्म-ज्ञान में निष्ठा, परम पुरुषार्थ-रूप मोक्ष का ही सर्वोत्कृष्ट चिन्तन, इत्यादि प्रवृत्तियों का होना आवश्यक है ॥५५॥

कैर्लिङ्गैस्त्रीनिति प्रश्ने गुणातीतस्य लक्षणम्।
उक्तवांश्च गुणातीत एवमेव चतुर्दशे ॥५६॥

किन चिन्हों से गुणातीत की पहचान होती है? अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय में गुणातीत का सब परिचय दिया है कि वह (गुणातीत-पुरुष) प्रकाश (ज्ञानात्मक-सत्व-कार्य), प्रवृत्ति (कर्मात्मक-रजःकार्य) और मोह (मिथ्याभिनिवेशात्मक-तमः कार्य) अर्थात् तीनों गुणों के सभी कार्यों

की स्वतः प्राप्ति-अप्राप्ति में राग-द्वेष नहीं रखता। साथ ही वह सदा साक्षीरूप से आसीन होकर इन तीन गुणों के कार्यों से, अपनी सत्त्व-रूपावस्था से विचलित नहीं होता और ये गुण ही अपने कार्यों में वर्त रहे हैं, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, इस विवेकभाव से मूक होकर बैठा रहता है, चलता नहीं। वह तो सुख-दुःख को समान मानता, सदा सत् स्वरूप में स्थित रहता, लोहा, पत्थर, सोना आदि को तुल्य समझता, इष्ट-अनिष्ट को एक-सा जानता, धीमान्, अपनी निन्दा-स्तुति में समभाव रखता है। उसे अपने मान-अपमान, मित्र-शत्रु में समता दीखती है। सभी दृष्ट-अदृष्ट परिणाम वाले उद्योग-धन्धे भी हेय प्रतीत होते हैं। उसकी सदा परमेश्वर में एकांत भक्ति भावना बनी रहती है। इन्हीं सदुपायों से वह गुणातीत-दशा को प्राप्तकर अन्त में मोक्ष का अधिकारी बन जाता है ॥५६॥

अभयं सत्वसंशुद्धिरित्यादिना च षोड़शे।
कृतं देवेन बोधस्य पात्रापात्रविवेचनम् ॥५७॥

भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में ज्ञान के अधिकारी-अनधिकारी का विवेचन किया है, कि निर्भयता, चित्त की प्रसन्नता, आत्मज्ञान के उपायों में परिनिष्ठा, दानभावना, इन्द्रिय-संयम, यज्ञानुष्ठान की आस्था, ब्रह्मयज्ञ, जपयज्ञ प्रभृति का अभ्यास, तन मन कर्मों से तपोनिष्ठा, परपीड़ा त्याग, यथार्थ सम्भाषण, क्रोधाभाव, उदारता, चित्तोपरति, परदोषों का अप्रकाशन प्राणीमात्र पर दयाभाव, लोभ-शून्यता, अक्रूरता, लोक-लज्जा, व्यर्थ क्रिया-विहीनता, प्रगल्भता, क्षमता, धीरता, अन्तर्बाह्य की शुद्धि, विध्वंस भावना का परित्याग, पूज्यत्वाभिमान-वर्जना, इत्यादि सभी विशेषताएं दैवी-

संपत्तिवाले पुरुष में होती हैं और वही एक मात्र ज्ञान का अधिकारी होता है। इसके विपरीत वृथा-प्रदर्शन, धनविद्यानिमित्तक मदोत्कर्ष, अहङ्कार, क्रोध, निष्ठुरता, अविवेक इत्यादि अवगुण, आसुरी-संपत्ति-युक्त मनुष्य में पाये जाते हैं, जिनसे वह ज्ञान का अनधिकारी समझा जाता है ॥५७॥

असक्तबुद्धिःसर्वत्र जितात्मेत्यादिना पुनः।
अष्ठादशे च संप्रोक्तं सूत्रमाभ्यन्तरं शुचि ॥५८॥

भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में सदुपदेश दिया है, कि जो पुरुष सर्वत्र सङ्ग-हीन बुद्धिवाला, निरहङ्कार, कर्मफल की कामना से शून्य है, वही कर्मासक्ति एवं फलप्राप्ति के त्यागरूप-संन्यास द्वारा सर्वकर्मनिवृत्तिरूप-सत्वशुद्धि को पाता है। यह सत्वविशुद्धि ही वस्तुतः पवित्र आन्तरिक सूत्र (जनेऊ) है ॥५८॥

विनैवाभ्यन्तरं सूत्रं बाह्यसूत्रं तु निष्फलम्।
प्रत्युच्चेदं सदम्भत्वान्निः श्रेयसो विघातकम् ॥५९॥

ऐसे पवित्र आभ्यन्तरिक-सूत्र (जनेऊ) के विना बाहिर का सूत्र (यज्ञोपवीत) बेकार है। अपितु यह दम्भ आदि दोषों से दूषित होने से मोक्ष-मार्ग को बिगाड़ने वाला ही है ॥५९॥

दैवीसंपत्तु सूत्रं स्यादसूत्रं चासुरी मता।
श्रुतेस्तत्वमिदं ज्ञेयं सतां चापि न संशयः ॥६०॥

संक्षेपतः दैवी संपत्ति, पवित्र-सूत्र और आसुरी-संपत्ति ही असूत्र है। वेदों और संतो का यही सिद्धान्त है। इसमें कोई शंका नहीं ॥६०॥

इदं श्रुत्वा कुलाचार्यः शान्तचित्तो बभूव ह ।
कृतं कृत्यं मया सर्वं प्राह देवमिदं वचः ॥६१॥

श्रीनानक के, श्रीमद्भगवद्गीता से सुप्रमाणित, उक्त शास्त्र-वचनों को सुनकर कुलाचार्य का चित्त शान्त हुआ। तब उसने कहा, कि हे देव, मैंने तुम्हारे यज्ञोपवीत की सारी सामग्री सङ्कलित-कर रक्खी है ॥६१॥

शिष्टाचारपरिप्राप्तं श्रुतिं दृष्ट्वा च धार्यताम् ।
इदं सूत्रं कृपासिन्धो गीतोक्तहरिवाक्यतः ॥६२॥

हे कृपालु ? अपने कुलपरम्परागत शिष्टाचार, वेदविहित धर्मानुसार और श्रीमद्भगवद्गीता में संप्रोक्त श्री भगवान् के वचनों के आधार पर भी इसको अवश्य ही धारण करना चाहिये ॥६२॥

प्राह देवस्ततोऽस्त्वेवं विप्रसङ्घः प्रसीदतु ।
इदं श्रुत्वा कुलाचार्यैः कृतं कर्म यथाविधि ॥६३॥

यह सुनकर श्रीनानक ने कहा, कि एवमस्तु। लाईये मैं तैयार हूं। ब्राह्मण-देवता प्रसन्न हो जाएं। तब कुलाचार्य ने आद्योपान्त विधि-विधान से श्रीनानक का यज्ञ-सूत्र-संस्कार करवाया ॥६२॥

ध्वनिना वेदपाठस्य यज्ञशाला प्रपूरिता ।
महाहर्षं गताः सर्वे ब्राह्मणाः पितरोऽपि च ६४॥

वेदपाठी ब्राह्मणों के वेदपाठ की गम्भीर-ध्वनि से सारी यज्ञ-शाला गूंज उठी। सब विप्र-गण और पितृ-गण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥६४॥

भोजनार्थं क्रियाः सर्वाः कृताः कल्याणवेदिना ।
दक्षिणामानदानेन तोषिता निखिला द्विजाः ॥६५॥

श्रीनानक के पिता ने ब्राह्मण-भोजन की सारी रीति निभाई और दक्षिणा, सम्मान, दान आदि से सब ब्राह्मणों को संतृप्त कर दिया ॥६५॥

स्वल्पे काले व्यतीते च सुतोद्वाहं चकार सः ।
सुलक्षणीं स्नुषां लब्ध्वा तृप्तातृप्ता बभूव ह ॥६६॥

उसके कुच्छ समय के बाद श्री कल्याण वेदी ने श्रीनानक का विवाह करवा दिया । श्रेष्ठलक्षणों वाली बहू को पाकर, श्रीनानक की माता तृप्तादेवी संतुष्ट हो गई ॥६६॥

विवाहेऽपि कृते देवो यत्र कुत्र स्म गच्छति ।
निजानन्दपदे लीनो वने वा शून्यमन्दिरे ॥६७॥

अपना विवाह हो जाने पर भी श्रीनानक अपनी आनन्दानुभूति की मस्ती में जहां तहां, जंगल, एकान्त-मन्दिर आदि स्थानों पर भाग जाते थे ॥६७॥

तं चरन्तं वने दृष्ट्वा गोलुलायी प्रपालकः ।
दर्शनीया इमाः प्राह ममदेहोऽतिदुःखितः ॥६८॥

एक दिन जंगल में घूमते हुए श्रीनानक को देख कर किसी गोचारक ग्वाले ने कहा, कि अरे भाई ? तू ज़रा इनका (गौओं का) ध्यान रखना कि कहीं ये आस-पास के किसी खेत में न चली जाएं । मेरा शरीर अस्वस्थ है । कुच्छ देर तक आराम कर लूं ॥६८॥

गच्छ गच्छेति तं प्रोच्य योगनिद्रां गतः स्वयम् ।
बहु मुक्त्वा च ताः सस्यं रोमन्थंचारु चक्रिरे ॥६९॥

श्रीनानक ने उसे कहा, कि जाओ, तुम विश्राम करो । कोई चिन्ता नहीं । मैं यहीं पर हूं । सब देखूंगा । इतना कह कर वे स्वयं योगावस्था में तल्लीन हो गये । गौओं ने खेत खूब खाया, पिया और आनन्द से जुगाली करने लगीं ॥६९॥

इदं दृष्ट्वा कृषेःकर्ता ग्रामाध्यक्षं गतः स्वयम् ।
ग्रामाध्यक्ष इदं श्रुत्वा सस्यदेशं जगाम ह ॥७०॥

असल में चरती-फिरती गौएं किसी के खेत में जा कर घास-फूस व अन्न को खा बैठी थीं । उन्हें देखकर उस खेत का हकदार किसान दौड़ता हुआ, ग्रामाध्यक्ष (नम्बरदार) के पास गया और खेत की वर्बादी की बात सुना बैठा । उसकी आपबीती को सुनकर मुखिया, स्वयं उस स्थान पर गया ॥७०॥

तत्र दृष्टा तरोश्छायावालदेशे स्थिता स्वयम् ।
फणी चैकः फणाच्छायामकरोन्नगतः स्वयम् ॥७१॥

ग्रामपाल ने वहां जाकर देखा, कि जिस पेड़ के नीचे श्रीनानक, निद्रालीन-से मस्त पड़े हुए थे, उसकी छाया केवल तरु-मूल तक ही रहगई थी । तब पास के पर्वत से उतर कर एक महान् सर्प, अपनी फण बिछा कर, उन-पर छाया कर रहा था ॥७१॥

चतुरस्त्रां कृषिं दृष्ट्वा तृप्तां च पशुमण्डलीम् ।
ग्रामनाथो गतो मोहं पुनर्धीरो व्यचारयत् ॥७२॥

इसके साथ ही उसने यह भी देखा, कि उधर खेत में चारों ओर से भरपूर खेती लहरा रही थी और इधर पशु-समुदाय भी संतृप्त था। यह विचित्रता देख कर उसे अति विस्मय हुआ। तब वह गम्भीरता से सोचने लगा ॥७२॥

अयं बालो न विज्ञेयः किन्तु सिद्धशिरोमणिः ॥
चतुरावर्तनं कृत्वा कृता दण्डसमा नतिः ॥७३॥

कि यह (श्रीनानक) कोई साधारण बालक नहीं, अपितु महासिद्ध मालूम होता है। यह निश्चय कर उसने उनकी चार प्रदक्षिणाएं कीं और धराशायी (पेट के बल पर) होकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया ॥७३॥

यदोत्थितः कृपासिन्धुस्तदा रायबुलारकम् ।
भक्तिभावयुतं दृष्ट्वा पाणिना नतिमाचरत् ॥७४॥

जब श्रीनानक की आंखें खुलीं तो उन्होंने उठ कर राय बुलार (ग्रामपाल) को भक्ति-युक्त देखा और स्वयं भी हाथ जोड़ कर उसे सभ्य नमस्कार किया ॥७४॥

वृद्धोऽसि त्वं वयं बाला नमस्कार्यस्त्वमेव हि ।
अद्य ज्ञातं भवत्तत्त्वं ग्रामनाथ उवाच तम् ॥७५॥

श्रीनानक बोले, कि तुम वृद्ध हो, हम बालक हैं। इसलिए तुम ही नमस्कार के पात्र हो। तब रायबुलार ने विनम्र-उत्तर दिया, कि हे देव ? आज ही वस्तुतः आपके महत्व का ज्ञान हुआ है ॥७५॥

श्रीगुरुं च समुत्थाप्य गृहमानीतवानसौ ।
प्राह कल्याण बालोऽयं पूर्वसिद्धपदं मतः ॥७६॥

तदनन्तर रायबुलार ने उठ कर, श्रीनानक को अपने साथ लिया और उनके घर में आकर श्रीकल्याण वेदी से कहा, कि तुम्हारा यह लड़का अपने यथाभ्यास पूर्वक प्राक्तन-सिद्ध बन चुका है ॥७६॥

पुत्रमेनं न जानीहि सर्वलोकपितामहम् ।
एवमुक्त्वा पुरस्वामी गतः स्वस्य गृहं प्रति ॥७७॥

तुम इसे अपना, केवल-मात्र पुत्र ही मत समझो। यह तो सारे संसार का पितामह (दादा-आदरी-महापुरुष) है । यों कह कर वह अपने घर की ओर चला गया । ॥७७॥

कल्याणश्चैवमुक्तोऽपि देवमायाविमोहितः ।
नो व्यजानाच्च तं देवं सर्वलोकहितावहम् ॥७८॥

परन्तु ऐसा स्पष्ट संकेत पाकर भी, श्रील्याण वेदी ने सकल-लोकोपकारी, संत-स्वरूप, श्रीनानक को नहीं समझा। क्योंकि वह गृहस्थ-पिता स्वयं देव-माया से सम्मोहित था ॥७८॥

श्री गुरुं च समाहूय प्राह वृत्तमिदं तदा ।
नो विरक्ता गृहस्थाश्च वयं सौम्य विचार्यताम् ॥७९॥

उसने श्रीनानक को पास बुलाकर कहा, कि हे प्रिय पुत्र ? हम लोग गृहस्थ हैं, कोई साधु-बाबा नहीं। तुम्हें स्वयं इस बात का विचार होना चाहिए ॥७९॥

क्रयः कश्चिद्विकर्तव्यो विक्रयश्च महासते ।
स्यात्तथेति वचःप्राह शुद्धबुद्धिरतन्द्रितः ॥८०॥

"तुम बुद्धिमान् हो। इसलिए बेटा ? क्रय-विक्रय (खरीदने-बेचने) का काम करना सीखो।" उत्तर में विशुद्ध-मति, सद्योग श्रीनानक ने "ऐसा ही करूंगा" कह कर पिता को प्रसन्न किया ॥८०॥

बाल बालसखोऽसि त्वं नानकेन समं व्रज।
क्रयः शुद्धतमो भूयादाह बालं गुरोः पिता ॥८१॥

फिर श्रीकल्याण वेदी ने बाल (बाला) से कहा, कि तुम नानक के बाल-मित्र हो। इस लिए अब इस के साथ जाओ, जिससे क्रय (खरीद) करते समय, साफ २ सौदा खरीदा जा सके ॥८१॥

दत्तं च बहुशो द्रव्यं सेवका निपुणास्तथा।
गताः पूर्वदिशं धीरा वाक्यसत्यत्ववांछया ॥८२॥

तब बहुत-सा धन देकर उनके साथ अनेक चतुर नौकर भी भेज दिए। वे सभी एक साथ ही पूर्व की ओर चल पड़े। उन्होंने बड़ी धीरता से, वाणी की सत्यता की इच्छा से अपना कार्यक्रम बनाया ॥८२॥

कुत्राप्यारण्यके देशे निर्जने जलसंयुते।
तत्र दृष्टा महात्मानो निर्गुणा गुणशालिनः ॥८३॥

चलते २ वे एक वन-प्रदेश के विजन, किन्तु जल-पूर्ण स्थान पर जा पहुंचे। वहां उन्होंने निवृत्ति व प्रवृत्ति-मार्ग के अनुयायी, बहुत-से गुणी महात्माओं के दर्शन किये ॥८३॥

सर्वशास्त्रविदश्चैके केचिदेकैकशास्त्रिणः।
सौर्याश्च गाणपत्याश्च शैवाः शाक्ताश्च वैष्णवाः ॥८४॥

उन साधु-पुरुषों में कोई सर्वशास्त्रज्ञ और कोई एक २ शास्त्र (दर्शन) के ज्ञाता थे। कई एक सूर्योपासक, दूसरे गणेश-भक्त तीसरे शिव-पूजक, चौथे शक्ति-सेवक और पांचवें विष्णु-दास थे ॥८४॥

निर्गुणास्त्रिगुणातीताः पक्षपातविवर्जिताः ।
तत्समीपं च सम्प्राप्य कृता शीलव्रता नतिः ॥८५॥

अनेक त्रिगुणातीत एवं निवृत्ति-मार्ग पर आरूढ़, निष्पक्ष-विचारक सन्त थे। उनके पास पहुंच कर, सुशील श्रीनानक ने, सहचरों के साथ २ विनम्र नमस्कार किया ॥८५॥

भोजनादिव्यवस्थां च पृष्टवानथसद्गुरुः ।
ऊर्ध्वचेष्टाविकाशेन सूचिता केनचित्सता ॥८६॥

फिर आहार-व्यवस्था के लिए निवेदन किया। तब उन में से किसी एक महात्माने, मुख को ऊपर उठा कर, स्वीकृति का संकेत किया ॥८६॥

भोजनस्य च सामग्रीं बाल सत्वरमानय ।
अतः शुद्धक्रयो नास्ति प्राह देवोऽथ सादरम् ॥८७॥

तब श्रीनानक के अपने साथी बाल (बाला) से कहा, कि तुम जाकर उपयुक्त खाद्य-पदार्थ खरीद कर लाओ। संत-समुदाय की भोजनेच्छा के लिए जो क्रय किया जाएगा, इससे बढ़कर दूसरा कोई पवित्र-व्यापार नहीं होगा ॥८७॥

इदं श्रुत्वा तदा बालो गतः सेवकसंयुतः ।
अतिशुद्धतरानीता सामग्री रसशालिनी ॥८८॥

यह सुनकर बाल (बाला) नौकरों को साथ ले जाकर, पवित्र, रसवती, भोजन-सामग्री खरीद कर ले आया ॥८८॥

भोजनं च कृतं सद्भिर्यथावांछितमादरात् ।
एवमेव सतां सेवाऽजायत प्रतिवासरम् ॥८९॥

उन महात्माओं ने उस सामग्री से यथेच्छ-भोजन तैयार किया और आनन्द से खाया। इस तरह हर रोज उनकी सेवा-सुश्रूषा होने लगी ॥८९॥

कलौकाले महाघोरे कथं जीवो विमुच्यते ।
बालप्रश्नमिमं श्रुत्वा कश्चिदाह मुनीश्वरः ॥९०॥

एक दिन बाल (बाला) ने उन संतो से प्रश्न किया, कि इस महा-तामस कलियुग में जीव की मुक्ति कैसे संभव है ? इस पर, उनमें से एक मुनीश्वर बोले ॥९०॥

ईश्वराराधनं मुख्यं जीवमुक्तौ विधीयते ।
सचायं विद्यते नित्यं दृश्यते रविरूपधृक् ॥९१॥

इस कलिकाल में एकमात्र परमेश्वर की आराधना ही प्राणीमात्र के परम कल्याण का साधन है। वह सर्वेश्वर प्रतिदिन श्री सूर्यनारायण के रूप में दृष्टिगोचर होता है ॥९१॥ (सौर-मत)।

इदंश्रुत्वापरश्चाह विद्यते गणनायकः ।
आदौ सकलकार्याणां पूज्यते निखिलैर्यतः ॥९२॥

तब दूसरे महात्मा ने कहा, कि श्री गणेश की ही परमेश्वरस्वरूप में उपासना करनी चाहिये। क्योंकि सब कार्यों के आरम्भ में उन्हीं का

पूजन होता है ॥६२॥ (गाणपत्य-मत)

प्राह शैव इदं श्रुत्वा तस्यापि जनको यतः ।
महादेवो भवेदीशः सर्वमङ्गलकारकः ॥६३॥

इतने पर तीसरे सन्त ने सुनाया, कि श्री गणपति के पिता श्री शिवजी ही सबके मङ्गल-विधाता हैं। उन्हें महादेव कहा जाता है। अतः वे ही परमेश्वररूप में उपासनीय हैं ॥६३॥ (शैव-मत)

यतो जाता इमे देवा जडचैतन्यरूपिणी ।
सैव देवीशरूपास्यात्प्राह शक्तेरुपासकः ॥६४॥

फिर चौथे साधु बोले, कि जिससे सब देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ है, वह जड़-चैतन्यस्वरूपिणी, शक्ति-देवी ही ईश्वररूप में आराधना-योग्या है ॥६४॥ (शाक्त-मत) ।

नित्यज्ञानादिमानेको जगद्व्यापी महेश्वरः ।
इमे देवादिविज्ञेया इदं नैयायिकोऽब्रवीत् ॥६५॥

तब पांचवें महाशय कहने लगे, कि नित्य-ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न सर्व-व्यापक, एक, सर्वेश्वर है, उसी की उपासना विधेय है। पूर्व-वर्णित सभी देवता हैं, ईश्वर नहीं ॥६५॥ (न्याय-सिद्धांत)

सच्चिदाकार एवैको निर्गुणो जगतां पतिः ।
गुणाःसर्वे प्रधानस्था इति सांख्याश्च योगिनः ॥६६॥

फिर छठे बाबा जी ने कहा, कि सत्-चित्-आकारवाला, निर्गुण, विश्वेश्वर, एक, परमेश्वर है। गुण तो प्रधान (प्रकृति) में संस्थित हैं

अतः उक्तलक्षण परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये (सांख्य-योग-मत) ॥९६॥

सगुणो निर्गुणो वापि कोऽपीशो नहि विद्यते ।
कर्मप्रधानवादाभ्यां केचिदाहुरसङ्गतम् ॥९७॥

तत्पश्चात् कोई और साधु, असङ्गत-भाषण करने लगे, कि सगुण अथवा निर्गुण-स्वरूप-ईश्वर कोई नहीं है। कर्म ही प्रधान है। अतः सत्कर्म और असत्कर्म को विचार कर, श्रेष्ठ-कर्म में प्रवृत्त रहना ही, उत्तम-गति पाने का एकमात्र साधन है ॥९७॥ (मीमांसा-मत)

सच्चिदानन्दरूपोऽयं विश्वरूपो महेश्वरः ।
तस्यैवाराधनं ज्ञेयं जीवकल्याणकारकम् ॥९८॥

तदनन्तर अन्य ज्ञानी-जन बोले, कि सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, विश्वरूप, एक, जो परमेश्वर है, उसी की आराधना से जीव-मात्र का परम-कल्याण हो सकता है ॥९८॥ (वेदान्त-मत)।

गुणातीतैरिदं प्रोक्तं श्रीगुरोर्मतमीदृशम् ।
इदं ज्ञात्वा तदा वालो गतो मोदं नतश्च तान् ॥९९॥

यह सिद्धांत गुणातीत (वेदान्ती) सन्तों ने कहा और श्रीनानक का भी ऐसा ही मत है, यह जानकर बाल (वाला) को सन्तोष हुआ। तब उसने प्रसन्न होकर उनको सादर प्रणाम किया ॥९९॥

एवमेव सतां सेवा ज्ञानचर्चा बभूव ह ।
धनं सर्वं गतं शान्ति श्रुतं श्रीगुरुभिस्तदा ॥१००॥

इस प्रकार कई दिनों तक वहां साधु-सेवा और ज्ञानचर्चा होती रही। पास का सारा धन समाप्त हो गया। श्रीनानक ने यह बात सुनी, तो कहने लगे......॥१००॥

अत्र शुद्धःक्रयो जातो गच्छ बाल विवक्षया।
अन्यत्किंचिद्भवेद्द्रव्यं तदा शुद्धतरो भवेत् ॥१०१॥

हे बाल ? यहां शुद्ध-क्रय हुआ है। मेरी इच्छा है कि तुम जाओ और हमारे घर से कुच्छ और धन ले आओ, जिससे और अधिक-शुद्ध-क्रय किया जाये ॥१०१॥

इदं श्रुत्वा तदा बालो गतः कल्याणमन्दिरम्।
श्रावयामास तद्वृत्तं यथाजातं नचान्यथा ॥१०२॥

श्रीनानक के कथनानुसार बाल (बाला) उनके घर गया और उसने श्रीकल्याण वेदी को सारी, धन-विनियोग की सत्कथा सुनाई। उसमें कुच्छ भी हेर-फेर की बात नहीं थी ॥१०२॥

इदं श्रुत्वा च कल्याण आह चिन्ताकुलस्तदा।
द्रव्यचिन्ता तु मे नास्ति पुत्रचिन्ता गरीयसी ॥१०३॥

बाल (बाला) की यथार्थ बात सुन कर श्रीकल्याण वेदी ने व्याकुल होकर कहा, कि धन के लिये मुझे कोई चिन्ता नहीं, परन्तु पुत्र की चिन्ता हो गई है ॥१०३॥

एक एव हि पुत्रो मे यदा भिक्षुर्भविष्यति।
किं करिष्यामि हे बाल महा चिन्ता प्रवर्तते ॥१०१॥

श्रीनानक के पिता फिर बोले, कि हे बाल (वाला) मेरा एक ही पुत्र है। जब वही साधु बन जायेगा, तो मैं क्या करूंगा ? यह बड़ी चिन्ता की बात है ॥१०४॥

बाल उवाच—: त्वत्पुत्रो हि माहातेजा भिक्षुभ्यो भैक्ष्यदायकः।
अतश्चिन्ता न कर्तव्या गम्यतां तस्य सन्निधौ १॥०५॥

वाल (बाला) ने कहा—: आपका पुत्र महातेजस्वी है, जो भिक्षुओं को अन्नदान दे रहा है। इसलिए चिन्ता न कीजिए। आप स्वयं उसके पास चलिये ॥१०५॥

गतस्तत्रैव बालेन समं कल्याण आतुरः।
सतःपुत्रं च दृष्ट्वाऽसौ शान्तचित्तो वभूव ह ॥१०६॥

तब चिन्तालीन श्री कल्याण वेदी, बाल (बाला) के साथ वहां गये और साधुओं के साथ बैठे हुए अपने पुत्र को देख कर शान्त हुए ॥१०६॥

तत्र कृत्वा महायज्ञं महत्सेवां च पावनीम्।
सतामाज्ञानुसारेण सपुत्रो गृहमागतः ॥१०७॥

वहां उन्होंने एक बड़ा भण्डारा (अन्न-यज्ञ) किया और उन सन्तों की बहुत सेवा की। तदनन्तर महात्माओं की आज्ञा पाकर, श्रीनानक को साथ लेकर वे अपने घर आ गये ॥१०७॥

ततस्तृप्तां च सम्प्राप्य वृत्तमेतन्न्यवेदयत्।
बालकानां स्वभावोऽयं प्राह देवी कनीयसाम् ॥१०८॥

उन्होंने अपनी धर्मपत्नी तृप्ता देवी को पास बिठला कर, सारी

रामकहानी सुनाई। इस पर वह बोली, कि चलो, ठीक है, छोटे बालकों की ऐसी ही प्रकृति होती है ॥१०८॥

कल्याण उवाच—: पंचविंशतिवर्षायुर्गतं बालोऽभिधीयते।
यौवनेन समायुक्तं कदा पुत्रं वदिष्यसि ॥१०६॥

श्री कल्याण ने कहा—: अरी ? पच्चीस साल का हो जाने पर भी जिसे तुम अभी बालक मानती हो, न मालूम तब तुम कब उसे नौजवान हुआ पुत्र समझोगी ? ॥१०६॥

तृप्तोवाच—: अहोभाग्यमयं पुत्रो महत्सेवापरायणः।
एतदाचारसम्पन्नश्चिरंजीवी भविष्यति ॥११०॥

तृप्ता देवी बोली—: हमारा अहोभाग्य है कि यह बेटा महात्माओं की पवित्र-सेवा सुश्रूषा में लगा है। इस प्रकार सत्कर्म करने से यह अवश्य दीर्घायु होगा ॥११०॥

पूर्वजैर्नारदाद्यैश्च कृता सेवा सतां यतः।
पापपुंजपरावृत्तौ गतास्तेऽतिमहत्पदम् ॥१११॥

सनातन-इतिहास साक्षी है, कि पूर्वकाल में नारद प्रभृति ने सन्त-जनों में मन लगा कर सेवा की। सत्संगति के अमोघ-प्रभाव से, पाप-सङ्घ के विनष्ट हो जाने पर, वे सभी "देवर्षि" आदि उच्च-पद के अधिकारी बन गये ॥१११॥

एवमुक्तस्तदा वेदी शान्तमानसतां गतः।
श्री गुरुश्च निजानन्दे लीनचेता व्यराजत ॥१११॥

सती तृप्ता देवी का सन्तोष-प्रद एवं सयुक्तिक वक्तव्य सुन कर श्री कल्याण वेदी का चित्त शान्त हुआ। उधर श्रीनानक भी अपने आत्मानन्द में मग्न होकर बैठ गये ॥११२॥

विविक्तदेशं सम्प्राप्य नैव केनाप्यभाषत ।
तुरीयया समायुक्तस्तत्र तत्र स्म राजते ॥११३॥

वह सदा एकान्त में बैठ कर, किसी से बातचीत किये बिना, समाधि में ही तल्लीन रहते और विभिन्न-अवस्थाओं का आनन्दानुभव करते थे ॥११३॥

नानकी श्रीगुरोर्भक्ता स्वसा सा च समागता ।
तया साकं मिलित्वा च माता पुत्रमुवाच ह ॥११४॥

एक दिन श्रीनानक की स्नेहमयी बहिन नानकी, वहां आई। तब माता ने उसे साथ लेकर श्रीनानक से कहा—: ॥११४॥

पौत्रवांछा तु मे जाता भो सुपुत्र स्वभावतः ।
इयं पुत्री समायाता भ्रातृ-पुत्राभिवांछया ॥११५॥

हे प्यारे बेटा ? अब अपने पौत्र का मुख देखने की, मेरी स्वाभाविक सदभिलाषा है और यह बेटी (नानकी) चाहती है, कि मेरे भाई (तुम्हारे) घर पुत्र पैदा हो ॥११५॥

एवमुक्तो लवङ्गौ द्वौ दत्तवांश्च वरं गुरुः ।
विद्धि पौत्रद्वयं ह्येतन्मातरत्र न संशयः ॥११६॥

माता की आज्ञा सुन कर श्रीनानक ने दो लवंग (लौंग) अभिमन्त्रित कर, उन्हें देते हुए यह वरदान सुनाया, कि हे माता ? यह लो और

समझो कि तुमने दो पौत्र पा लिये। मेरे इस कथन में रत्ती भर सन्देह न करना ॥११६॥

ब्रह्मणोऽपि यथा प्रोक्ता मानसाः सनकादयः।
एवमत्रापि विज्ञेयं मम वाक्यं न चान्यथा ॥११७॥

पुराकल्प में जिस तरह श्री ब्रह्मा के चार मानस-पुत्र (सनक-सनन्दन आदि) हुए थे, ठीक उसी प्रकार यहां भी सिद्ध-वाक्य को यथार्थ जानना। मेरा कहा, कभी गलत न होगा ॥११७॥

क्रमशस्तत्प्रदानेन क्रमात्पुत्रौ बभूवतुः।
श्रीचन्द्रसंज्ञ एकोऽभूल्लक्ष्मीचन्द्रो द्वितीयकः ॥११८॥

श्रीनानक की माता ने क्रमपूर्वक वे दो लवंग (लौंग), यथा समय अपनी पुत्रवधू (सुलक्ष्मी) को खिला दिये, जिससे अपने २ समय पर क्रमशः दो पुत्र पैदा हुए। पहले का नाम पड़ा श्रीचन्द्र और दूसरे का लक्ष्मी चन्द्र ॥११८॥

तौ च दृष्ट्वा स्म तृप्यन्ति सर्वे गृहनिवासिनः।
तृप्ता च नानकी देवी तथा वेदी सुलक्षणी ॥११९॥

उन दोनों शिशुओं को देख कर श्री कल्याणवेदी, तृप्तादेवी, नानकी-देवी, सुलक्ष्मी देवी तथा परिवार के अन्य बन्धु-जन अति प्रसन्न होते थे ॥११९॥

(पहला विश्राम समाप्त)



अथ द्वितीयो विश्रामः

तदावेदिवरैर्योग्यैर्मनसीदं विचारितम् ।
गतं पैत्रमृणं सर्वं कर्तव्यं बहु शिष्यते ॥१॥

दूसरा विश्राम प्रारम्भ

पुत्र-प्रसव के बाद श्रीनानक (वेदी) ने, बुद्धिपूर्वक मन में विचार किया, कि चलो, पितृ-ऋण से तो छुटकारा पाया । परन्तु अभी बहुत कुछ और कर्तव्य करना शेष है ॥१॥

धराभारापहाराय गमनीयं दिगन्तरम् ।
भक्तिमार्गोपदेशेन धर्मरक्षा भविष्यति ॥२॥

पाप-ताप से सन्तप्त-धरती के दुःख-भार को हरण करने के लिए, अब मुझे कहीं दूसरी जगह चलना चाहिए । क्योंकि प्रभु-भक्ति के सदुपदेश के प्रचार-प्रसार से ही धर्म की सुरक्षा हो सकेगी ॥२॥

एतादृशा कृता चिन्ता यदा श्रीगुरुभिस्तदा ।
नानकी च महादेवी मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥३॥

इधर श्रीनानक ने इस प्रकार अपना अगला कार्यक्रम मनोनीत किया, तो उधर नानकीदेवी ने माता से कहना प्रारम्भ किया ॥३॥

भ्राता मम समीपे चेदतो मातर्गमिष्यति ।
तदा निश्चित्य जानेऽहंस्थिरचेता भविष्यति ॥४॥

हे माता ? अगर भाई नानक मेरे घर चलेगा, तो निश्चय ही इसका चित्त स्थिर हो जाएगा । यह मैं दावे से कह रही हूं ॥४॥

स्यात्तथेति तया प्रोक्तं पित्रापितत्प्रपूजितम् ।
किंचित्काले गते सैवं प्राह वेदिवरं प्रति ॥५॥

माता ने उसकी बात पर कहा, कि ठीक है, ऐसा ही होगा और पिता ने भी उसका समर्थन किया । इसके थोड़े समय के बाद नानकी-देवी ने स्वयं श्रीनानक से कहा... ॥५॥

भ्रातर्मम समीपे हि गम्यतां करुणानिधे ।
सोऽपिदेशो नदीसङ्गाद्गतः पावनतां सदा ॥६॥

हे दयालु भाई ? तुम मेरे घर चलो । वह देश भी नदी के तीर पर स्थित है, अतएव पवित्र है ॥६॥

श्री गुरुरुवाच—: तथास्यादागमिष्यामि गम्यतां भगिनि त्वया ।
तव प्रीतिं विजानामि मम कार्यं च विद्यते ॥७॥

श्रीनानक बोले —: हे बहिन ? मुझे तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार है । मैं वहां आऊंगा । तुम चलो । मुझे तुम्हारे अन्तरिम-स्नेह का ज्ञान है; और उस दिशा में मेरा अपना भी कार्य-विशेष है ॥७॥

गतः स्वल्पो यदाकालो नानकीगमनोत्तरम् ।
तदा बालेन संयुक्तो गतस्तत्र महाशयः ॥८॥

अपनी बहिन नानकीदेवी को विदा करने के कुछ ही दिनों के बाद श्रीनानक, बाल (बाला) को साथ लेकर वहां (नानकी के ससुराल में) पधारे ॥८॥

नदीतीरे स्थितिं श्रुत्वा लोका नगरवासिनः ।
दर्शनाय समायाता गुरोस्तेजस्विनो हरेः ॥९॥

वहां जाकर उन्होंने नदी के तट पर आसन लगाया । उनके आगमन को सुनकर दर्शनाभिलाषी लोग वहां आने लगे । क्योंकि वे श्रीनानक को, परम तेजस्वी, श्री हरि का स्वरूप ही मानते थे ॥९॥

जयरामस्ततः शीघ्रं गतः सद्गुरुसन्निधिम् ।
गच्छ-गच्छ महाभाग प्राह देवं तु मन्दिरम् ॥१०॥

तब श्रीनानक के बहनोई श्री जयराम ने वहां आकर उनसे निवेदन किया, कि हे देव ? कृपा करो और हमारे घर चलो ॥१०॥

अत्रैवावस्थिती रम्या गुरुश्चाह तदुत्तरम् ।
रोचते मे नदीतीरं मन्दिरैः किं प्रयोजनम् ॥११॥

श्रीनानक ने उन्हें उत्तर दिया, कि नदी के किनारे पर रहना मुझे अच्छा लगता है । अतः यहीं टिकना ठीक है । गृह-प्रासादों से मुझे कोई लगाव नहीं है ॥११॥

जयराम—: गम्यतां भो कृपासिन्धो नैवम्भवितुमर्हति ।
दर्शनाशासमायुक्ताः सर्वे गृहनिवासिनः ॥१२॥

श्री जयराम ने फिर प्रार्थना की, कि दयालु ? ऐसा न कहिए। चलिए, वहां परिवार के सभी लोग आपके शुभ-दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥१२॥

इदं श्रुत्वा गतो धीरो नानकीं स ददर्श ह ।
गुरुं दृष्ट्वा च सा देवी गता मोदं गुरोः स्वसा ॥१३॥

श्री जयराम के विशेष-आग्रह से श्रीनानक उनके घर पधारे और जाते ही नानकी देवी को देखा। श्री गुरु की प्यारी बहिन नानकी भी उन्हें देख कर अति प्रसन्न हुई ॥१३॥

ततश्चैकदिने देवी पतिं वाक्यमुवाच ह ।
भ्रातुश्चित्तमुदासीनं सर्वदैव प्रतीयते ॥१४॥

एक दिन नानकी देवी ने अपने पति से कहा, कि भाई (श्रीनानक) का मन हमेशा उदास ही रहता है ॥१४॥

अतः कुत्रापि कर्तव्ये संजनीयं त्वया प्रभो ।
स्यात्तथेति वचः प्रोच्य नृपं वाक्यमुवाच सः ॥१५॥

"हे स्वामी ? इसलिए आप इन्हें किसी काम पर लगा दें।" श्री जयराम ने उसे, "ऐसा ही करूंगा" कह कर शान्त किया और अपने आश्रय-दाता राजा (नवाब) के पास जाकर तदर्थ बात चलाई ॥१५॥

अयं वेदी महाप्राज्ञो ममात्मा धर्मसागरः ।
द्रव्यकोशादिकर्मायं समीचीनं करिष्यति ॥१६॥

उन्होंने अपने बादशाह से विश्वास-पूर्वक कहा, कि यह (श्रीनानक वेदी) मेरा अपना सम्बन्धी है, जो बड़ा बुद्धिमान्, और धर्मात्मा है । इसलिए यह आपके द्रव्य-कोश (खजाना-प्रभृति) धन-विभाग का काम भली प्रकार कर सकेगा ॥१६॥

स्यात्तथैवेति तेनोक्त्वा धनं सर्वं समर्पितम् ।
स्यात्तथेति गुरुश्चोक्त्वा करणीयं चकार ह ॥१७॥

बादशाह ने श्री जयराम का सुझाव स्वीकार करते हुए, अपना सारा धन-विभाग, श्रीनानक के सुपुर्द कर दिया । श्रीनानक भी मान गये और अपना काम करने लगे ॥१७॥

दीन-रक्षा सतांसेवा कन्यादानान्यनेकशः ।
रोगिणां रोगहानिश्च सोऽकरोत्कृत्यमीदृशम् ॥१८॥

श्रीनानक ने शाही-खजाना के धन से, दीन-सेवा, संतपूजा, कन्या (अनाथ) दान, रोगी-परिचर्या आदि सत्कर्म आरम्भ कर दिए ॥१८॥

केनापीत्यादिवाक्येन राज्ञःश्रोत्रं प्रपूरितम् ॥
द्रव्यशून्या भविष्यन्ति नाथ कोशास्त्वदीयकाः ॥१९॥

यह सब देखकर किसीपराजित उम्मीदवार, कर्मचारी ने बादशाह के कान भर दिये कि हे मालिक ! इस तरह यथेच्छ धन-दान से, यह अधिकारी (श्रीनानक) बहुत जल्दी ही आपकी चिरसंचित-धनराशि को लुटाकर समाप्त कर देगा ॥१९॥

एवमुक्तोऽप्यसौ राजा वैमनस्यं न चाप्तवान् ।
वाक्यजातं समामध्ये यथायोग्यमुवाच सः ॥२०॥

यह बहकावे की बात सुनकर भी उस समझदार बादशाह ने कोई बुराई नहीं सोची । अपितु उसने अपनी राजसभा में एतदर्थ समुचित बात चलाई ॥२०॥

अयं वेदी च धर्मज्ञो दयादानं करोति हि ।
मयापीदं हि कर्तव्यं मृषा सर्वं धनादिकम् ॥२१॥

बादशाह ने सभा में संभाषण किया, कि यह वेदी (श्रीनानक) बड़ा धर्मात्मा है, जो दया से दान-मान प्रभृति सत्कर्म कर रहा है । मुझे भी ऐसा ही करना चाहिये था । क्योंकि धन-दौलत का संग्रह कर रखना व्यर्थ है ॥२१॥

रिक्तहस्तो गतः कारुस्तथा शाहशकन्दरः ।
मान्धातादिभूपाश्च धनंनैवानुधावति ॥२२॥

प्राचीन इतिहास को दुहराते हुए उसने सुनाया, कि कारु, सिकन्दर, मान्धाता प्रभृति राजा लोग, अन्त में खाली-हाथों से गए हैं । धन-वैभव कभी किसी के साथ नहीं जाता ॥२२॥

लक्ष्मीश्च तत्पतेर्ज्ञेया नो नरस्य भविष्यति ।
इति ज्ञात्वा तु दातव्या स्वेन हस्तेन मानवैः ॥२३॥

वस्तुतः लक्ष्मी, लक्ष्मीपति श्रीमन्नारायण की ही अपनी वामा है । वह अन्य किसी पुरुष की नहीं हो सकती । यह सत्य समझ कर मनुष्यों को उचित है, कि वे अपने हाथों से उसका दान किया करें ॥२३॥

श्रुत्वेति पिशुनः सोऽथ रसाछिद्रमवैक्षत ।
जयरामस्तथा श्रुत्वा गत्वाचेदमुवा च तम् ॥२४॥

बादशाह की उदार-नीति को सुनकर, वह चुगलखोर कर्मचारी धरती में समाजाने की जगह ढूंडने लगा । श्री जयराम ने, जब यह सब घटना सुनी, तो उसने वहां आकर बादशाह से स्पष्ट-बात की ॥२४॥

दर्शनीयमिदं सर्व तत्र लज्जा न युज्यते ।
दृष्टे सम्यग्धनं प्राज्यं गुरोश्शिष्टं नृपोपरि ॥२५॥

हे स्वामिन् ? स्वयं चलकर कोश को देखना चाहिये । इसमें लज्जा की कोई बात नहीं है । तब उन्होंने वहां जाकर देखा, तो बादशाह के कोश में, पहले से भी अधिक-द्रव्य भरा पड़ा था ॥२५॥

कोशाश्च भूभृता दृष्टा वृद्धादशगुणोत्तरम् ।
इदं द्रव्यं कुतो जातं पुरुषोऽयं विचक्षणः ॥२६॥

बादशाह ने दस गुणा बढ़े हुए कोश को देख कर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया, कि यह सब धन कैसे और कहां से आया ? इससे मालूम होता है । कि यह (श्रीनानक) कोई लोकोत्तर महापुरुष हैं ॥२६॥

इति ज्ञात्वा गुरोः पादौ साभिलाषं गृहीतवान् ।
अहं सेवां करिष्यामि स्थीयतां मम मन्दिरे ॥२७॥

श्रीनानक के महत्व को जान कर बादशाह ने, उनके चरणों का स्पर्श किया और निवेदन किया, कि आप मेरे भवन में विराजिये । मैं आपकी यथेष्ट सेवा करूंगा ॥२७॥

इदभुक्त्वा गुरोर्गेहे द्रव्यं च बहु प्रेषितम् ।
पुत्रवृत्तमिदं श्रुत्वा पितुश्चिन्ता पलायिता ॥२८॥

इसके बाद उसने उनके घर पर, बहुत-सा धन भिजवा दिया। अपने पुत्र (श्रीनानक) की कार्य-कुशलता व राजा द्वारा प्राप्त आश्रयता को सुन कर, श्रीकल्याण वेदी की सारी चिन्ता जाती रही ॥२८॥

मर्दानश्च समाहूय रागविद्याविदाम्वरः ।
पुत्रानयनमुद्दिश्य प्रेषितस्तत्र सादरम् ॥२९॥

उन्होंने रागविद्या में निपुण मर्दाना को बुलाया और श्रीनानक को ले आने के लिये वहां (जयराम के पास) भेज दिया ॥२९॥

तत्र गत्वा च नत्वा च सर्ववृत्तं न्यवेदयत् ।
वाद्यहस्तं च तं दृष्ट्वा गतो वेदी प्रसन्नताम् ॥३०॥

मर्दाना ने वहां जाकर श्रीनानक को नमस्कार किया और सब समाचार सुनाया। हाथों में वाद्य (इकतारा) लिये हुए, उसे आया देख-कर, श्रीनानक अति प्रसन्न हुए ॥३०॥

कदा काले नृपेणोक्तं वर्तते मे महोत्सवः ।
प्रभो तत्रापि गन्तव्यं सतां भेदमतिः कुतः ॥३१॥

एक दिन फिर राजा ने, श्रीनानक से अनुरोध किया, कि मेरे यहां एक बड़ा उत्सव होने वाला है। कृपा कर आप भी उसमें शामिल हों। संतों को किसी तरह का भेदभाव नहीं रखना चाहिए ॥३१॥

श्रीगुरुः— गम्यतां भोः करिष्यामस्तत्रलीलाप्रदर्शनम् ।
महतांभेदभावेन नास्ति किंचित्प्रयोजनम् ॥३२॥

श्रीनानक बोले —: हां, जाओ तुम । मैं वहां आकर कुच्छ लीला-विलास करूंगा । महात्माओं को किसी से भेद-भाव नहीं होता ॥३२॥

सहाचार्यैर्गतस्तत्र नृपो भक्तिसमन्वितः ।
श्रीगुरुश्चगतस्तत्र वाक्यसत्यत्ववांछया ॥३३॥

उत्सव के दिन राजा, अपने कुलाचार्यों के साथ, प्रीतिपूर्वक, उत्सव के स्थान पर गया । तव श्रीनानक भी अपने वचनानुसार, सत्यता प्रकट करने को वहां जा पहुंचे ॥३३॥

उन्नतिं चनतिं कृत्वा मूर्द्धाऽघाततत्परान् ।
मनः स्थैर्यंविना दृष्ट्वा हास्यमुच्चैश्चकार सः ॥३४॥

वहां नवाव और उसके सहयोगी मौलवियों ने माथे पर हाथ रख कर बड़ी देर तक बन्दगी की । परन्तु उन सब का चित्त स्थिर नहीं था । अतः उनकी अन्तर्दशा को देखकर श्रीनानक जोर से हंस पड़े ॥३४॥

तदाचारे व्यतीते च व्युत्थितो नृपतिर्यदा ।
निजाचार्यप्रयुक्तः सन् हास्यहेतुं स पृष्टवान् ॥३५॥

जब उनका अपना कार्यक्रम समाप्त हुआ, तो राजा ने अपने मुख्य-आचार्य (मौलवी) की प्रेरणा से, श्रीनानक से हंसने का कारण पूछा ॥३५॥

श्रीगुरु :— अहो राजन् क्रियाकाले काबुलं गतवानसि ।
तवाचार्यो गतो गेहे अश्विनीसुतचिन्तया ॥३६॥

श्रीनानक ने कहा :— राजन् ? खुदा की वन्दगी आदि क्रिया करते समय तुम (मन से) काबुल चले गये थे और तुम्हारे आचार्यवर (मन से) अपने घर पर जा पहुंचे थे कि देखूं भला, मेरी घोड़ी को बच्चा हुआ कि नहीं ॥३६॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
तद्यदान्यत्र गन्तृ स्यात्कथं पापं विनश्यति ॥३७॥

क्योंकि अपना मन ही, भली-बुरी धारणा से स्वाधीनता और पराधीनता का हेतु बन जाता है । जब यही कर्तव्य-कर्म से पृथक्-वृत्ति को अपना ले, तो पाप का विनाश कैसे हो सकता है ॥३७॥

वल्मीकादिविनाशेन यदि सर्पो विनश्यति ।
उत्तमाङ्गाभिघातेन तदा चित्तं प्रणक्ष्यति ॥३८॥

अगर वल्मीक (मिट्टी का घोंघरा) को तोड़ने मात्र से, उसके अन्दर रहने वाला सांप मर सकता है, तो संभव है, कि केवल बन्दगी वगैरह बाह्याडम्बर से चित्त का विनाश (वशीकरण) हो जाये । परन्तु अनिश्चित प्रयत्न हैं ॥३८॥

अतश्चित्तं निबध्नीयान्निजानन्दे परात्मनि ।
हरेः भक्त्यैव वध्नाति सतां सङ्गेन नान्यथा ३९॥

इसलिए प्रयत्न-पूर्वक मन को निजानन्द-रूप परमात्मा में लगाना चाहिए । श्रीहरि की भक्ति से यह बांधा जा सकता है और सत्सङ्गति से ही यह (भक्ति का) सदुपाय जानना संभव है । अन्यथा नहीं ॥३९॥

इदं श्रुत्वा गतो व्रीडां निजाचार्येण संयुतः ।
अर्पितं च शिरो भक्त्या गुरुपादारविन्दयोः ॥४०॥

श्रीनानक का सत्य-सदुपदेश सुनकर राजा और उसके आचार्य को बहुत लज्जा आई। बादशाह ने उठ कर, भक्तिभाव से, श्रीनानक के चरण-कमलों की वन्दना की ॥४०॥

अयं विष्णुरयं ब्रह्मा शिवोऽयं नात्र संशयः।
नवीपाकरसूलोऽयमिति प्राह नृपस्तदा ॥४१॥

उनके चरण-स्पर्श से, उसमें अद्भुत-सत्वभावना जागृत हो उठी तब उसने अपने मनोभाव को प्रकट किया, कि श्रीनानक, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, पवित्र नवी, रसूल आदि के स्वरूप में ही सर्वमान्य हैं। इसलिए शंका की कोई गुंजाइश नहीं है ॥४१॥

भवदाराधनं जातं गम्यतां मम शिष्यते।
इदमुक्त्वा नदीतीरं गतो वेदिवरस्तदा ॥४२॥

श्रीनानक ने कहा, "राजन् ? तुम्हारा अपना कार्यक्रम समाप्त हो गया, अब तुम जा सकते हो। लेकिन हमारा कर्म अभी शेष है।" इतना कह कर वे नदी-तीर पर चले गये ॥४२॥

तत्रैवावस्थितिर्जाता नदीतीरेऽतिपावने।
सर्वसेवां जनाश्चक्रुस्तत्र राजनियन्त्रिताः ॥४३॥

अब श्रीनानक, पवित्र-नदी के तट पर ही रहने लगे। राजा की विशेष-आज्ञा से उसके कर्मचारी तथा अन्य भक्त लोग उनकी भली प्रकार, सब सेवा-सुश्रूषा करते थे ॥४३॥

एकदा स नदीमध्ये मज्जनाय प्रविष्टवान्।
क्षीरसिन्धुं गतोधीरो महाविष्णुं च दृष्टवान् ॥४४॥

एक बार वे स्नान करने को नदी में उतरे और वहीं से क्षीरसागर में जा पहुंचे। वहां उन्होंने श्री विष्णु भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन किये ॥४४॥

शंखचक्रगदापद्मैः संयुतं पीतवाससम् ।
वैजयन्तीकिरीटाद्यैर्भूषितं चारुभूषणैः ॥४५॥

श्री मन्नारायण ने अपने चारों कर कमलों में शंख, चक्र, गदा और पद्म, नील-तन पर पीताम्बर, कण्ठ में वैजयन्तीमाला, सिर पर मणि-मुकुट और अन्यान्य शुभाङ्गों में अतिकमनीय-आभूषण धारण किये हुए थे ॥४५॥

अतसीपुष्पसंकाशं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
श्रीयुतं वामभागेन निराकारं निरंजनम् ॥४६॥

उनकी मुख-द्युति अतसी (अलसी) के फूल जैसी श्यामल, नयन कमल की तरह सुन्दर, और वाईं ओर श्री लक्ष्मी जी विराजमाना थीं। ये, वे ही श्री विष्णु भगवान् थे, जिन्हें निराकार, निरंजन, निर्विकार, सर्वाधार भी कहा जाता है ॥४६॥

श्रुतिभिः स्तूयमानं च ब्रह्मरुद्रादिभिस्तथा ।
विश्वरूपं निजात्मानं कृता तस्मै नतिस्तदा ॥४७॥

चारों वेद, ब्रह्मा, रुद्र आदि देववृन्द उनकी दिव्य-स्तुति कर रहे थे। ऐसे विश्वरूप, निजानन्दमय परम-प्रभू को, श्रीनानक ने सादर नमस्कार किया ॥४७॥

सादरेण स्तुतिं कृत्वा कृतास्तस्य परिक्रमाः ।
सत्यनामात्मकं मन्त्रं ततो नीत्वा समागतः ॥४८॥

आदर-पूर्वक उनकी स्तुति कर, परिक्रमाएं कीं और उनसे "सत्य-नाम" मन्त्र की दीक्षा लेकर वापिस आगये ॥४८॥

गतः पातालदेशेषु नागमत्स्यादि तारणे ।
सतामेव स्वभावोऽयं जन्तुमात्रहितैषिता ॥४९॥

तदनन्तर वे नाग, मत्स्य, कूर्म प्रभृति जीव-मात्र का कल्याण करने की कामना से, पाताल के अनेक देशों में भ्रमण करते रहे । क्योंकि संत-जन स्वभाव से ही सर्व-हितैषी होते हैं ॥४९॥

अत्र सर्वत्र संजातो महाकोलाहलोभुवि ।
नदीमध्ये गतो वेदी नागतः किं भविष्यति ॥५०॥

इधर पीछे हर जगह शोर मच गया, कि श्रीनानक स्नान के लिए नदी में गये थे, परन्तु फिर वापिस नहीं आये । अब क्या होगा ? ॥५०॥

महाजालप्रवेशेन नदी दृष्टा मनस्विभिः ।
नोपलब्धो गुरोर्देहस्तदा राजा शुशोच ह ॥५१॥

तब बादशाह की आज्ञा से कुशल-जलान्वेषियों ने नदी में जाल डाल कर खूब खोज लगाई । किन्तु श्रीनानक का शरीर नहीं मिल सका । इस दुःख से राजा बहुत चिन्ता करने लगा ॥५१॥

वासराणां गते पुंजे श्रीगुरुश्च समागतः ।
[illegible] निवारितः ॥५२॥

बहुत दिनों के बाद श्रीनानक, स्वयं वहां आ पहुंचे। उन्होंने अपनी कृपादृष्टि से देखते ही, सब लोगों का शोक दूर कर दिया ॥५२॥

महाहर्षं गतो राजा दर्शनाय समागतः।
अर्पितश्च शिरोभृङ्गो गुरुपादारविन्दयोः ॥५३॥

उनको आया सुनकर बादशाह की खुशी का कोई ठिकाना न रहा। वह स्वयं उनके दर्शनों के लिए दौड़ा आया और पास आते ही उसने उनके चरण-कमलों पर अपना मस्तक-भंवरा डुला दिया ॥५३॥

तद्दिनात्सर्वलोकानां प्रवृद्धा चँडिकागतिः।
उदासीनमना भूत्वा प्राह वेदिवरस्तदा ॥५४॥

उस दिन से लेकर वहां लगातार जनता आने-जाने लगी। यह भीड़ देख कर श्रीनानक ने उदासीन होकर कहा...॥५४॥

बाल गच्छ पितुः स्थानं दर्शनं मे भविष्यति।
इति श्रुत्वाह बालोऽसौ तव त्यागो न युज्यते ॥५५॥

हे बाल ? (बाला) तुम पिता के पास चले जाओ। मैं वहीं आकर तुम ते मिलूंगा। यह सुन कर, बाल ने उत्तर दिया, कि श्रीमन् ? मैं आपको नहीं त्याग सकता ॥५५॥

मर्दानिश्चैवमेवाह जयरामस्तदागतः।
नतिं कृत्वा वचश्चोक्तं प्रभोगेहेऽद्य गम्यताम् ॥५६॥

मर्दाना ने भी बाल कीं तरह, नकारात्मक ही उत्तर दिया। इतने में श्री जयराम वहां आ गये। श्रीनानक को नमस्कार कर उन्होंने

निवेदन किया, कि हे दयानिधि ? आज मेरे निवासस्थान पर पधारने की कृपा करो ॥५६॥

इदं श्रुत्वा गतस्तत्र नानकीं च ददर्श ह ।
तया भक्त्या नतिं कृत्वा दत्तमासनमुत्तमम् ॥५७॥

श्री जयराम की प्रार्थना पर, श्रीनानक, उनके घर गए और जाते ही उन्होंने नानकी की ओर देखा । नानकी देवी ने भी बड़ी भक्ति से उन्हें नमस्कार किया और बैठने के लिये श्रेष्ठ, पवित्र, आसन दिया ॥५७॥

भोजनं कारयित्वा च वृत्तं पृष्टवती तदा ।
नदीगत्यादिकं प्रोक्तं वेदिवर्यैः सहेतुकम् ॥५८॥

उन्हें भोजन खिला कर, उसने अतीत की सारी-कथा सुनाने को बाध्य किया । तब श्रीनानक ने, नदी में जाने से लेकर, ऊपर-नीचे के लोकों में जाने का हेतुपूर्ण वृत्तान्त सुनाया ॥५८॥

स्वसन्तानस्य सिद्ध्यर्थं प्रार्थनां सा चकार ह ।
तस्यै दत्वा लवङ्गैले प्राह वेदिवरस्तदा ॥५९॥

तदनन्तर उसने, उनसे अपने लिए संतान-प्राप्ति की प्रार्थना की । तब उन्होंने उसे लवंग (लौंग) और इलायची (एक २) देते हुए कहा ॥५९॥

तीर्थयात्रां करिष्यामो वरं देवि समन्ततः।
सत्यनामोपदेशाय नास्ति भिन्नं प्रयोजनम् ॥६०॥

हे देवि ? अब हम तीर्थयात्रा पर निकलेंगे। 'सत्यनाम' के उपदेशं के लिये ही सब ओर की यात्रा अभीष्ट है। इससे दूसरा कोई अन्य प्रयोजन नहीं है ॥६०॥

इदं श्रुत्वाऽगता चिन्ता प्राह वाक्यं हि विह्वला।
स्वतो रागविहीनानां दर्शनं किं भविष्यति ॥६१॥

उनके प्रस्थान की बात सुन कर नानकी देवी, चिन्ता से व्याकुल हो गई। वह बोली, कि आप तो विरागी हैं। अब मुझे कहां दर्शन देने लगे ?॥६१॥

इयं चिन्ता न कर्तव्या दर्शनं तु भविष्यति।
इति प्रोच्य गता धीराः पावनं कुरुजाङ्गलम् ॥६२॥

श्रीनानक ने उसे कहा, तुम चिन्ता मत करो। मैं अवश्य ही तुम से मिलूंगा।' उसे यों सान्त्वना देकर वे कुरु-जांगल के पवित्र-प्रदेश की ओर चले गये ॥६२॥

सूर्यपर्व तदा श्रुत्वा लोकसङ्घाः समागताः।
होमश्राद्धादि ते चक्रुर्नैव नाम्ना प्रयोजनम् ॥६३॥

उसी समय वहां (कुरुक्षेत्र में) सूर्य-ग्रहण के अवसर पर असंख्य लोग आ पहुंचे। उन में से बहुतों ने हवन, श्राद्ध आदि धर्म-कर्म किए। परन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नज़र नहीं आया, कि जिसे हरिनाम संकीर्तन की लगन हो ॥६३॥

उच्चैः स्थानं समारुह्य तस्थेऽसौ जगतां गुरुः।
प्राह देव स्तदा रागिनु भावतः कुरु कीर्तनम् ॥६४॥

तब वहां एक ऊंचे स्थान पर अपना आसन जमाकर जगद्गुरु (श्रीनानक) ने, मर्दाना से कहा, कि तुम भाव-पूर्ण हरि-नाम-संकीर्तन प्रारम्भ करो ॥६४॥

इदं श्रुत्वागता लोकाः पण्डिता राजवंशिनः ।
महातेजोयुतं दृष्ट्वा श्रीगुरु जगदीश्वरम् ॥६५॥

श्रीनानक के आज्ञाकारी, मर्दाना के भक्ति-पूर्ण संकीर्तन को सुन कर असंख्य लोग वहां इकट्ठे हो गये। उनमें बड़े २ पण्डित एवं राजकुल के आदमी भी थे। उन सब ने महातेजस्वी, ईश्वरस्वरूप, श्रीनानक के दर्शन किये ॥६५॥

शांतचित्ता बभूवुस्ते सतां लक्षणमीदृशम् ।
इति ज्ञात्वा नताःसर्वे गुरुपादारविन्दयोः ॥६६॥

श्रीनानक के दर्शन-मात्र से उन लोगों को परमशान्ति प्राप्त हुई, जिससे उन्हें प्रत्यक्ष-अनुभव हुआ कि ये (श्रीनानक) कोई सन्त-महापुरुष हैं। तब उन सभी ने उनके (श्रीनानक के) चरणकमलों में नम्र-नमस्कार किया ॥६६॥

तत्र चैकः सतां सेवी पाटलीपुत्रनायकः ।
भोजनार्थं गुरोरग्रे प्रार्थनां कृतवानसौ ॥६७॥

उनमें एक कोई पाटलीपुत्र (पटना) का राजा था, जो संतों की सेवा का ध्यान रखता था। उसने श्रीनानक से भी भोजन का आग्रह किया ॥६७॥

स्यात्तथेति वचः प्राह श्रीगुरुः करुणानिधिः ।
नृपस्याखेटलीलातो मार्गं मांसं समागतम् ॥६८॥

श्रीनानक ने कृपाभाव से, उसका निमन्त्रण मान लिया। परन्तु उस राजा के पास शिकार से प्राप्त मृग का मांस लाया गया था ॥६८॥

मैवमेषा सतां रीतिर्नैव कुत्रापि विद्यते ।
एतदाचारकर्तॄणां तीर्थयात्रापि निष्फला ॥६९॥

वहां मांसाचार को देखकर श्रीनानक ने, उस राजा से स्पष्ट कहा, कि यह रंग-ढंग, सज्जन के लिये अच्छा नहीं है। इस प्रकार कदाचार करने वालों की तीर्थयात्रा व्यर्थ होती है ॥६९॥

अन्यानि सर्वकर्माणि निष्फलानि कुकर्मणाम् ।
केवलायासहेतुत्वाद्यथा स्याद्गजमज्जनम् ॥७०॥

कुकर्मी लोगों के अन्य भी इस प्रकार के बाह्य-कर्म निष्फल ही होते हैं। क्योंकि वाह्याडम्बर के लिये उनका हर एक कार्य एक मात्र वृथा-श्रम है। जैसे कि हाथी का स्नान बेकार का आयास होता है ॥७०॥

नहि हिंसासमो दोषो सुकृतं न दयासमम् ।
सांख्ययोगा वदन्त्येवं वेदवाक्यानि सर्वथा ॥७१॥

हिंसा जैसा कोई दूषण नहीं और दया जैसा कोई भूषण नहीं है। सांख्य, योग, वेदान्त प्रभृति शास्त्रों का यही मत है ॥७१॥

नृपः— प्रभो यावत् क्रियाजातं विना हिंसां न सिध्यति ।
अतः पात्रेण कर्तव्यं यत्तद्ब्रूहि कृपानिधे ॥७२॥

राजा बोला —: हे दयालु, गुरुदेव, सभी कर्म प्रायः हिंसा-युक्त ही हैं। ऐसी दशा में सत्पुरुष को क्या २ अनुष्ठान करना या न करना चाहिये। आप सब स्पष्ट निर्देश करें ॥७२॥

श्रीगुरुः —: हरेर्नाम हरेर्ध्यानं साधुसेवा च पावनी ।
इदं सर्वंहि कर्तव्यं मोक्षमार्गोपसेविना ॥७३॥

श्रीनानक ने कहा—: हरिनामस्मरण, प्रभु-ध्यान, सत्पुरुषों की सेवा, इत्यादि पवित्र-कर्म ही, मोक्षमार्ग के जिज्ञासु अधिकारी को करने चाहिएं ॥७३॥

हरेर्नाम्नो जपस्त्रेधा मानसादिप्रभेदतः ।
वैखरीषु जयस्तावत्करणीयो मुमुक्षुभिः ॥७४॥

हरिनाम-जप के तीन प्रकार हैं । वाणी, उपांशु और मानस । परन्तु मोक्ष-कामियों को वाणी-जप पर विजय प्राप्त करनी आवश्यक है ॥७४॥

नृपोपांशुस्ततः कार्योमानसस्तदनन्तरम् ।
पूर्वंचापेक्ष्यवैशिष्टयं विद्यते चोत्तरोत्तरे ॥७५॥

हे राजन् ? वाणी-जप के बाद उपांशु और उसके पश्चात् मानस-जप का अभ्यास किया जाता है । इन में पहले की अपेक्षा दूसरा और दूसरे से तीसरा जप-भेद श्रेष्ठ होता है ॥७५॥

धारणानन्तरं ध्यानं समाधिस्तत्प्रपक्वता ।
ततो योगोपसिध्येत स च द्वेधा प्रकीर्तितः ॥७६॥

धारणा के बाद ध्यान और ध्यान की परिपक्वावस्था में समाधि का आरम्भ होता है । समाधि से ही योग की सिद्धि होती है और वह योग दो प्रकार का होता है ॥७६॥

अस्य सर्वस्य विज्ञेयं सतां सेवा हि कारणम् ।
महत्सेवां विना साधोचित्तशुद्धि नं जायते ॥७७॥

उपर्युक्त सभी साधनों की संप्राप्ति, संत-महापुरुषों की सेवा से सुलभ होती है। उन २ साधनों के विशेषज्ञ-महापुरुषों की शरणागति के विना चित्त-शुद्धि का होना सर्वथा असंभव है ॥७७॥

निन्दां स्तुतिं न कुर्वन्ति कस्यापि हरिसेवकाः ।
द्वन्द्वक्षान्तितपोनिष्ठा रागद्वेषविवर्जिताः ॥७८॥

परम प्रभु के भक्त-जन, किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करते। वे सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से उन्मुक्त, शान्त, तपोनिरत होकर राग-द्वेष से सदा दूर रहते हैं ॥७८॥

सत्यदानदयाशीला नित्यतृप्ता अमानिनः ।
निजानन्दचिदाकाशे लीनचित्ताः सदैव हि ॥७९॥

वे महात्मा लोग सत्यवक्ता, दानी, दयालु, शीतलस्वभाव, सन्तुष्ट, अमानी, आत्माराम होकर सदा आनन्दमग्न रहते हैं ॥७९॥

विना प्रश्नं न भाषन्ते वेदसिद्धान्तपारगाः ।
सर्ववेत्तृत्वसंपन्ना मूकवन्नो वदन्ति च ॥८०॥

वे स्वयं-सिद्ध वेदान्ती, महात्मा, प्रश्न किये विना कभी किसी से कुच्छ नहीं कहते। वे सर्वज्ञ होकर भी मौन ही रहते और कभी व्यर्थ-वाणी का प्रयोग नहीं करते ॥८०॥

मैत्र्यादिभावनायुक्ताः शीलवन्तो जितेन्द्रियाः ।
नो विजानन्ति जानन्ति सतां लक्षणमीदृशम् ॥८१॥

मैत्री, करुणा, मुदिता आदि भावनाचतुष्टय से संपन्न, परम-पवित्राचरण, जितेन्द्रिय, वे सन्त-जन, सब कुछ जानते हुए भी, "हम

कुछ नहीं जानते" ऐसी अनहंकृति-भावना से युक्त रहते हैं। यह सन्तों का उत्तम लक्षण है ॥८१॥

इदं श्रुत्वा महीपालो नतः पादारविन्दयोः ।
परभक्त्या समायुक्तो गतः श्रीगुरुशिष्यताम् ॥८२॥

श्रीनानक के शास्त्रसम्मत सदुपदेश को सुनकर, वह राजा, उनके चरणकमलों पर झुक गया और भक्तिभाव से उनका शिष्य बन गया ॥८२॥

अन्येऽपि राजवंश्या ये यत्रकुत्रनिवासितः ।
शिष्यभावं गतास्तेऽपि श्रीगुरोःपदकंजयोः ॥८३॥

तब वहां आये हुए विभिन्नदेशवासी, अन्य भी कई एक राजवंशों के उच्च-व्यक्ति श्रीनानक के शिष्य बन कर उनके चरणकमलों पर मस्तक झुका बैठे ॥८३॥

इदं श्रुत्वा जनाः सर्वे नानादेशनिवासिनः ।
गुरौ भक्त्यापि ते जाताः सत्यनामोपदेशिनः ॥८४॥

यह शिष्यानुसरण की चर्चा सुन-सुना कर, विभिन्नदेशनिवासी अन्य लोग भी वहां आये और गुरुभक्ति से "सत्यनाम" के सदुपदेश के पात्र बन गये ॥८४॥

भोजनं च कृतं किंचिद् राजप्रार्थनया मुदा ।
वेदिवर्यैस्तदायाता महादेवी विषूचिका ॥८५॥

तदनन्तर श्रीनानक ने, उस राजा की प्रार्थना पर, उसके यहां, कुछ भोजन पा लिया। इतने में महारोगस्वरूपा विषूचिका, साकार-विग्रह से वहां आ पहुंची ॥८५॥

द्रव्यहस्ता पिशाची सा क्षुधादुर्बल पंजगरा ।
अहं शिष्या भविष्यामि श्रीमतां पदकंजयोः ॥८६॥

वह कुछ पदार्थ हाथों में लिए हुए, पिशाच-रूप को धारण कर, भूख से अति निर्बलकाया वहां आकर बोली, कि हे गुरुदेव ? मैं भी आपके चरणकमलों की दासी हूं । इसलिये आप मुझे अपनी शिष्या वना लीजिये ॥८६॥

श्रीगुरुः —: शीलवन्तो हि ये सन्तः सत्यनामोपदेशिनः ।
पितृभक्ता गुरोर्भक्ताः साधुसेवासु तत्पराः ॥८७॥

श्रीनानक ने कहा, अरी, सुन । जो लोग सुशील, आचारवान्, सत्यनाम से दीक्षित, सौम्य-स्वभाव, माता-पिता के सेवक, गुरु के भक्त, साधु-सेवा में तत्पर......॥८७॥

नम्रतादिगुणैर्युक्ता दम्भदर्पविवर्जिताः ।
दुष्टसङ्गविनिर्मुक्तास्तद्भिन्नं तव भक्षणम् ॥८८॥

बिनीत, वृथा दम्भ, अभिमान से शून्य, दुष्ट-संगति से दूर रहते हैं । ऐसे श्रेष्ठ लोगों को छोड़कर अन्य सभी को तू खा सकती है ॥८८॥

अयं मन्त्रो गृहीतव्यो यथायोग्यं मयोच्यते ।
इदं वाक्यं गुरोः श्रुत्वा तत्परैव बभूब सा ॥८९॥

श्रीनानक ने उसे भली प्रकार समझाकर कहा, कि तुम्हारे लिए यही महामन्त्र है, जो कुछ मैंने तुम्हें कहा है । यह सुनकर वह उसी के अनुसार अपना काम करने लगी ॥८९॥

तत्रवृत्तमिदं जातं श्रीगुरोः कुरुजाङ्गले।
रागिबालौ तदा प्राह भवेन्नेत्रनिमीलनम् ॥६०॥

फिर उस कुरुक्षेत्र में श्रीनानक के रहते ही यह घटना हुई कि उन्होंने मर्दाना और बाल को कहा, कि तुम अपनी आंखें बन्द करो ॥६०॥

दृष्टवन्तौ तथा कृत्वा हरिद्वारमनुत्तमम्।
रवेर्मेषगतिं श्रुत्वा लोकसंघाः समागताः ॥६१॥

उन दोनों ने श्रीनानक की आज्ञानुसार अपनी २ आंखें बन्द करते ही देखा कि हरिद्वार (तीर्थ) प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। सूर्य का मेष-राशि में प्रवेश अर्थात् वैशाख मास का आरम्भ होने पर जन-साधारण, नाना स्थानों से आकर वहां इकट्ठे हो गये हैं ॥६१॥

तत्र च श्रीगुरुं दृष्ट्वा मद्रदेशनिवासिनः।
महः पुंजसमाकारं श्रीगुरुं शरणं गताः ॥६२॥

वहां पर श्रीनानक को विराजमान हुआ देख कर सभी मद्रदेशवासी (पंजाबी) लोग, तेजोमान् श्रीनानक की शरण में आगये हैं ॥६२॥

त ऊचुः —: प्रभो स्नानं जनाः कृत्वा कुर्वन्ति जलतर्पणम्।
तज्जलं तत्र संयाति पितृणां गतिरत्र वा ॥६३॥

उन लोगों ने पूछा, हे गुरुदेव ? यहां आये हुए सभी लोग प्रायः गंगा में स्नान करते और उसी-जल से पितृ-तर्पण करते हैं, तो क्या यह पितृ-तर्पण का जल पितृ-लोक में पितरों के पास पहुंच जाता है अथवा वे पितर लोग स्वयं यहां पर आये हुए होते हैं ॥६३॥

संशयोऽयं निराकार्यः श्रीगुरो करुणानिधे ।
उत्तरं श्रीगुरुः प्राह पक्षद्वयमयुक्तकम् ॥६४॥

यह हमारा संशय है। हे दयालु ? आप इसको मिटाने की कृपा करें। तब श्रीनानक ने उत्तर दिया, कि तुम्हारे संभावित दोनों मत अयुक्त हैं। अर्थात् न पितरों को, यह जल वहां पहुंचता है और न पितर ही स्वयं यहां आते हैं ॥६४॥

पुण्यकृत्यफलं साधो जायते श्रुतिमानतः ।
उद्देश्ये जयमाने वा शास्त्रकृन्मतमीदृशम् ॥६५॥

हे सज्जन-वृन्द ? किसी भी पुण्य-कर्म का फल वेदों के प्रमाण से समझने योग्य है। यथोद्देश्य यजमान को ही उसकी प्राप्ति होना शास्त्र-सम्मत है। मतलब यह कि अपने पुण्य का फल अपने को ही प्राप्त होता है। किसी दूसरे को नहीं ॥६५॥

प्रभो पित्रभियुक्तोऽयं कर्मणा केन मुच्यते ।
ईशभक्ति विना साधो मोक्षसम्भावना कुतः ॥६६॥

जिज्ञासु-वर्ग ने पुनः प्रश्न उठाया, कि हे देव ? किसी प्रकार भी पितरों के अपराधी-बन्धु को, किस कर्म से छुटकारा मिल सकता है ? श्रीनानक ने उत्तर दिया, कि हे प्रियश्रोतागण ? एक परमेश्वर की भक्ति के बिना, किसी को कहीं से भी छुटकारा मिलना असम्भव है ॥६६॥

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥६७॥

श्रीहरि-कथा को सुनना, कहना, याद करना, विग्रह-मूर्त्तिकी चरण-सेवा, पूजा, प्रणाम, प्रभु का दास बनना, श्रीहरि को ही अपना अनन्य हितू मानना और उन्हीं के आगे अपने आपको समर्पण करना, ये नौ भेद, भक्ति के हैं ॥९७॥

भक्तिरेषा पुरा प्रोक्ता तत्कृता प्रेमलक्षणा ।
पितृयुक्तस्य भक्तस्य सैव मोक्षस्य कारणम् ॥९८॥

पूर्वाचार्यों ने भक्ति के ये नौ स्वरूप कहे हैं, जो प्रेमाभक्ति के मूल-हेतु हैं। यह भक्तियोग ही पितृ-भक्तों के भी मोक्ष का कारण हो सकता है ॥९८॥

इदं श्रुत्वा जनाः सर्वे श्रीगुरुं शरणंगताः ।
श्रद्धधानास्तदा जाताः सत्यनामोपदेशिनः ॥९९॥

यह सदुपदेश सुनकर, वे प्रश्नकर्त्ता लोग, श्रीनानक की शरण में आये और बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उन्हें "सत्यनाम" की दीक्षा प्राप्त हुई ॥९९॥

तत्र वृत्तमिदं जातं गतः पूर्वंदिशं गुरुः ।
तत्र चैकं वनं दृष्टम्पावनं धुनिसन्निधौ ॥१००॥

तदनन्तर वहां एक यह घटना भी हुई कि एक दिन श्रीनानक वहां से पूर्व की ओर चले गये और उस दिशा में उन्होंने किसी नदी के पास ही एक सुन्दर वन देखा ॥१००॥

सिद्धपीठं च तत्राभूत् स्थितः श्रीगुरुरेकधीः ।
बालश्चैकाग्रचेताः सन् गुरोः सेवासु तत्परः ॥१०१॥

श्रीमन्नारायण में प्रीतिभाव से, साधक को रोमहर्ष (रोमांच) होता है और कभी २ नयनों से प्रेमाश्रु-धारा बहती है। वस्तुतः सत्य-प्रेम की लीला अतिविचित्र होती है ॥११७॥

सगुणं निर्गुणं विद्धि निर्गुणं सगुणं तथा।
वस्तुभेदो न तत्रास्ति हेमकुण्डलयोर्यथा ॥११८॥

साधना की परिपक्वावस्था में तो सगुण-निर्गुण का कोई भेद ही नहीं रह जाता। सगुण ही निर्गुण एवं निर्गुण ही सगुण ही बन जाता है। जैसे कि स्वर्ण और उसके बने कुण्डल में यथार्थतः सोना ही सोना है, उसके अतिरिक्त और कुच्छ नहीं ॥११८॥

कुण्डलत्वेन जानाति प्रथमं लौकिको जनः।
ततो हेमस्वरूपेण तथोपास्येपि चेतने ॥११९॥

जैसे सोने के कुण्डल को, पहले तो जन-साधारण कुण्डल (भूषण) मानता एवं परिणामतः उसे सोना ही सत्य समझता है, यही दशा उपास्यभूता चेतन-शक्ति की भी है ॥११९॥

प्रेमाधिक्यं यथा दृष्टं कुण्डले नतु हेमनि।
एवमेवात्र विज्ञेया सगुणे निर्गुणें गतिः ॥१२०॥

परन्तु व्यवहारतः जैसी प्रेम की अधिकता कुण्डल में होती है, वैसी तदाधार-स्वर्ण में नहीं। ठीक यही दशा सगुण-निर्गुण की भी होती है। अर्थात् सगुण सद्यः आकर्षक और निर्गुण सुचिर-साध्य है ॥१२०॥

सगुणब्रह्मरूपस्य चिन्तनं प्रथमं वरम्।
निराधारं यतश्चित्तं नैव तिष्ठति लोष्ठवत् ॥१२१॥

इसलिए साधना की पूर्वावस्था में, सगुण-ब्रह्म का चिन्तन ही सर्व-श्रेष्ठ है। क्योंकि लौह-खण्ड आदि की न्यांईं, यह चंचल मन भी, आश्रय के विना आसानी से कहीं नहीं टिकता ॥१२१॥

वाल उवाच—: सगुणाराधनं रम्यं प्रभो चादौ विधीयते ।
तच्च सत्यमहं मन्ये तथाप्यत्रास्ति संशयः ॥१२२॥

वाल ने फिर पूछा, भगवन् ? प्रथमावस्था में सगुण-ब्रह्म की आराधना करना ठीक है, इसे मैं सत्य समझता हूं। फिर भी इस पर एक सन्देह हो जाता है ॥१२२॥

निर्गुणज्ञानकाले हि गुणातीतोऽभिधीयते ।
अात्मापापिरूपत्वाद्गुणैर्ध्यानं न युज्यते ॥१२३॥

कि, जब निर्गुण का ज्ञान करें, तो वह गुणातीत कहा गया है। गुण तो स्वयं अस्थिर-धर्मा हैं। अतः उनसे किसका ध्यान करना योग्य है। अर्थात् सगुण में गुणों की क्या योग्यता स्थिर होगी ? ॥१२३॥

श्रीगुरुः —: फलेदृष्टिस्तु कर्तव्या न तु ध्येयेऽपि वस्तुनि ।
चित्तस्थैर्यं फलं तस्य निर्गुणानन्दहेतवे ॥१२४॥

श्रीनानक वोले :—हे प्रिय ? ध्याता को, ध्यान के फल पर दृष्टि रखनी चाहिये, न कि ध्येयवस्तु पर। क्योंकि सगुण के ध्यान का फल है, चित्त-स्थिरता, ओ कि निर्गुण के ध्यान में आनन्द-प्राप्ति का मूल-कारण है ॥१२४॥

आदौ स्थूले स्थिरादृष्टिः सूक्ष्मबस्त्ववलम्बते ।
क्रमशस्तेनपश्चात्र दर्शितो ग्रन्थकृद्भिः ॥१२५॥

केचिदाहुश्चिदाभासं जीवरूपं न चान्यथा ।
बुद्धिसत्वेन संभिन्ना चितिः स्याज्जीवरूपिणी ॥११०॥

दूसरे कई आचार्यों का मत है, कि चेतन का आभास ही जीव का स्वरूप है, और कुच्छ नहीं । क्योंकि बुद्धि-सत्व से संभिन्न चेतन सत्ता ही जीव-स्वरूपिणी कहलाती है ॥११०॥

ब्रह्मरूपा भवेच्छुद्धा शुद्धमायासमन्विता ।
ईशरूपापि सैव स्यादिति प्राहुः सयुक्तिकम् ॥१११॥

विशुद्धचिति-शक्ति ही ब्रह्मरूपिणी कहलाती है और शुद्धमाया से संयुक्त वही ईश्वर-स्वरूपिणी कही जाती है, ऐसा कई आचार्यों का युक्ति-युक्त मत है ॥१११॥

तत्र माया मृषा ज्ञेया यथा भानुमती पतेः ।
तत्प्रयुक्तमिदं साधो मृषा सर्वं विचिन्तय ॥११२॥

हे प्रिय ? उसमें जो माया है, उसे मिथ्या जानना चाहिये । इसमें पुरातन दृष्टान्त है, कि जैसे पति (भोजदेव) ने भानुमती (माया रूपिणी पत्नी) को मिथ्या जाना था । जब माया को मिथ्या जान लिया, तो उसका कार्य जगत् भी मिथ्या ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय करो ॥११२॥

अयं वन्धोऽस्य हानिश्च मुक्तिशब्देन कथ्यते ।
ब्रह्मरूपो निजानन्दः स्वयंसिद्धः प्रकाशते ॥११३॥

यही बन्ध है अर्थात् माया के वशीभूत रहना बन्धन है और इसकी असत्यता से अतीत होना ही मोक्ष है । जो अपना वास्तविक निजानन्द-

मय, ब्रह्मरूप, स्वतः प्रकाश और स्वयं सिद्ध है, उसे जान लेना ही परमार्थ है ॥११३॥

तस्य हेतुस्तु विज्ञानं ब्रह्मतत्वस्य निर्मलम् ।
तच्चभक्ति विना साधो नैवकुत्रापि जायते ॥११४॥

निर्मल आत्मस्वरूप को जानने का हेतु है, 'विज्ञानं ब्रह्म, तत्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यों का, आचार्यपरम्परा से श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से पुनः२ दृढ़ता से अभ्यास करना । परन्तु हे सत्य जिज्ञासु ? यह अभ्यास श्रीहरि की भक्ति के बिना कभी दृढ़ता को नहीं पा सकता ॥११४॥

इदं सर्वं चितेःरूपं साच मत्तो न भिद्यते ।
इतिज्ञात्वा चितौ कुर्याद्भक्ति स्मरणलक्षणाम् ॥११५॥

यह दृश्यमान सब कुछ, चिति शक्ति का ही विकास है और वह चिति-सत्ता, मुझ से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, इस ज्ञान से चिति-शक्ति में निरन्तर स्मरण बनाए रखना ही स्मृति-रूपा भक्ति है ॥११५॥

पुनरावृत्तिरूपा सा ततोऽपि प्रेमलक्षणा ।
जायते सा परा साधो निजानन्दे परात्मनि ॥११६॥

स्मृतिरूपा भक्ति की वारम्बार आवृत्ति (अभ्यास) से प्रेम-लक्षणा-भक्ति की स्वरूपनिस्ठा बनती है । हे प्रिय ! पराभक्ति के नाम से उसे ही, निजानन्द, परमात्मा की संप्राप्ति का एकमात्र साधन कहा गया है ॥११६॥

हरौ प्रेमप्रभावेन जायते रोमहर्षणम् ।
नेत्रनीरं कदापि स्य त्प्रेमलीला विलक्षणा ॥११७॥

वह स्थान कोई प्राचीन सिद्धपीठ था। इसलिये श्रीनानक वहां समाधिस्थ हो गये। बाल भी एकाग्रचित्त से उनकी सेवा में तत्पर रहा ॥१०१॥

योगनिद्रागतौ कालः श्रीगुरोर्बहुशो गतः।
रागिणा च तदा ज्ञातं क्षुधामृत्युर्भविष्यति ॥१०२॥

योगनिद्रा में तल्लीन श्रीनानक, बहुत देर तक आनन्दमग्न रहे। तब रागी मर्दाना ने सोचा, कि अब भूख के मारे मेरी मृत्यु होजाएगी ॥१०२॥

उत्थितोऽसौ महायोगी दीर्घकालसमाधितः।
रागिणं च तदा प्राह कीदृशी मनसो गतिः ॥१०३॥

बड़ी देर के बाद श्रीनानक, समाधि-अवस्था से उन्मुक्त हुए। तब उन्होंने मर्दाना से पूछा, कि कहो भाई? तेरे मन की क्या दशा है? ॥१०३॥

राग्युवाच —: निजानन्दे विलीनत्वाच्छ्रीमता नहि बुध्यते।
प्रभो पाहि शरीरं मे दह्यते जठराग्निना ॥१०४॥

मर्दाना ने कहा —: हे गुरुदेव? आप तो आनन्दमग्न होकर किसी की कोई चिन्ता नहीं करते। परन्तु भूख से मेरा तन जल रहा है। कृपा कर मुझे, इससे बचाओ ॥१०४॥

श्रीगुरुः —: अयं वृक्षो फलैर्युक्तः फलानां मधुरावली।
भक्षणीया त्वया नित्यं धुनीनीरेण चारुणा ॥१०५॥

श्रीनानक बोले —: अरे, देखो। यह सामने जो वृक्ष है, सो फलों

से भरा हुआ है। उसके फल अतिमधुर हैं। तुम प्रतिदिन इन्हें खाकर, इस सरिता का निर्मल-जल पिया करो ॥१०५॥

इदं श्रुत्वा तथा कृत्वा हृष्टपुष्टो बभूव सः।
अहोभाग्यमहोभाग्यं गुरोर्वाक्यं प्रशस्यते ॥१०६॥

श्रीनानक की आज्ञा से मर्दाना ने वैसा ही किया और वह स्वास्थ्य से अत्यन्त शक्तिमान् हो गया। तब उसने अपने आप को बड़ा भाग्यवान् माना और श्रीनानक की, गुरुत्वमयी प्रशंसा करने लगा ॥१०६॥

एवमेव महाहर्षं प्राप्य सोऽतिननर्त ह।
रागतालविधानेन कृतं गानमनेकधा ॥१०७॥

इस तरह वह खुशी से नाच उठा और स्वर-ताल के मेल से अनेक राग सुनाने लगा ॥१०७॥

बाल उवाच —: कीदृशंजीवरूपं स्यात्तस्य मोक्षश्च कीदृशः।
तस्यहेतुश्च वक्तव्यः श्रीगुरो करुणानिधे ॥१०८॥

बाल ने पूछा —: हे दयालु, गुरुदेव ? जीव का स्वरूप कैसा है ? उसका मोक्ष कैसे होता है और उसका क्या साधन है ? कृपाकर, यह सबुपदेश देकर अनुगृहीत करें ॥१०८॥

श्रीगुरुः —: अधिष्ठानं तथा बुद्धिश्चिदाभाससमन्विता।
इदं जीवस्वरूपं स्यादिति प्राहुर्मनीषिणः ॥१०९॥

श्रीनानक ने कहा —: हे प्रिय ? अधिष्ठान (आश्रय-देह) और चेतन के आभास से युक्त बुद्धि, यह जीव का स्वरूप है, ऐसा कई आचार्यों ने कहा है ॥१०९॥

पहले स्थूल पदार्थ पर दृष्टि की स्थिरता का अभ्यास हो जाये, तो फिर वह सूक्ष्म वस्तु पर भी स्थिर हो सकती है। शास्त्रकारों ने इस पर अरुन्धती-न्याय को दर्शाया है ॥१२५॥

बाल उवाच —: गुरो केचिज्जनाः प्राहुर्हरेर्ध्यानं प्रशस्यते ।
केचिदाहुर्हरध्यानं केचिदन्यद् वदन्ति हि ॥१२६॥

बाल ने पुनः जिज्ञासा की, हे गुरुदेव ? कई पण्डित-जन कहते हैं, कि श्री विष्णु का ध्यान ही सर्वोत्तम है। दूसरों का कथन है कि श्री शिव का ध्यान सर्वोपरि है। अन्य लोगों का कुच्छ और ही मन्तव्य है ॥१२६॥

किं स्वरूपं कथं ध्येयं प्रभो तत्र मुमुक्षुभिः ।
निश्चितं च विना ध्येयं ध्यानयोगो न युज्यते ॥१२७॥

इसलिए आप बतलाईये, कि मुक्ति-साधकों को किस विधि से, किस स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि ध्येय की निश्चित-धारणा के बिना, ध्यानयोग का अभ्यास असम्भव है ॥१२७॥

श्रीगुरुः —: यत्र सत्वं स्वयं शुद्धं क्षापिकाले न हीयते ।
त्वया साधो सदा ध्येया व्यक्तिरेषा मुमुक्षुणा ॥१२८॥

श्रीनानक ने कहा, हे साधु ? जिस व्यक्ति में स्वतःशुद्ध सत्वगुण का कभी ह्रास नहीं होता, उस विशुद्ध सत्वशील का ध्यान करना, तुम जैसे मोक्षकामियों को सदा उचित है ॥१२८॥

।वण्गुरूपा हि विज्ञेया शुद्धसत्वस्वरूपिणी ।
श्रीरामादिस्वरूपा वा स्वानुकूलावधार्यताम् ॥१२६॥

ऐसे विशुद्ध सत्व-स्वरूप, श्रीमन्नारायण (श्री विष्णु) हैं। अथवा श्रीराम, कृष्ण प्रभृति भी इसी कोटि के ध्येय-स्वरूप हैं। सो तुम अपनी धारणानुसार, इन में से किसी एक को ध्येयरूप से अपना इष्ट बना सकते हो ॥१२६॥

इयं व्यक्तिश्चितोऽभिन्ना नातः किंचिद्विभिद्यते ।
ब्रह्मरुद्रादयोऽप्येवमिति ज्ञात्वा विचिन्तयेत् ॥१३०॥

श्रीविष्णु आदि सगुण-स्वरूप चिति-सत्ता से भिन्न नहीं हैं। अतः इनकी उपासना से कोई भेद-भाव की सम्भावना नहीं है। ब्रह्मा, रुद्र प्रभृति भी इसी गणना में आते हैं। ऐसी एकान्त-वृत्ति बना कर अपना मार्ग निष्कण्टक बनाना चाहिये ॥१३०॥

दीर्घकालं कृते चैवं सत्वं सत्वे विलीयते ।
तत्वं तत्वे च विज्ञेयं हार्दमेतन्मयोच्यते ॥१३१॥

सुदीर्घ समय तक ऐसी ध्यानवृत्ति से सत्व का सत्व में विलय होकर तत्व का तत्व में समा जाना सिद्ध होता है। यह मैंने परम सिद्धान्त तुम्हें सुना दिया है ॥१३१॥

सगुणोपासनं चैवं निर्गुणे पर्यवस्यति ।
त्वचोपेतफलोपासा निरावर्णरसे यथा ॥१३१॥

सगुण-स्वरूप की उपासना ही परिणाम में निर्गुण-स्वरूप की उपासना में समाविष्ट हो जाती है। देखो, पहले छिलके से युक्त फल

की उपलब्धि से ही तदन्तर्वर्ती निराकार रस की संप्राप्ति हुआ करती है ॥१३२॥

इदं श्रुत्वा तदा बालो गुरुपादारविन्दयोः ।
अर्पयित्वा शिरोभृङ्गं तत्परश्च बभूव ह ॥१३३॥

श्रीनानक की यह शास्त्र-चर्चा सुनकर बाल को सन्तोष हुआ। उसने श्रद्धा-भक्ति से अपने भ्रमर-रूप मस्तक को श्रीगुरु के चरणकमलों पर रख दिया और उनकी सेवा को अपनी वृत्ति बना लिया ॥१३३॥

किंचित्काले गते चैवं सिद्धसङ्घः समागतः ।
शिवरात्रिप्रसङ्गेन गुरुं दृष्ट्वा विमोहितः ॥१३४॥

कुच्छ समय के बाद शिवरात्रि के अवसर पर वहां एक सिद्धों का दल आ पहुंचा, जो श्रीनानक को देखकर सम्मोहित हो गया ॥१३४॥

कोऽसि कस्मात्त्वदायातं सिद्धपीठाच्च गम्यताम् ।
गोरक्षनामतो लोके सुप्रसिद्धमिदं यतः ॥१३५॥

उन लोगों ने आते ही श्रीनानक से कहा, कि तुम कौन और कहाँ से आये हो ? अभी यहां से भाग जाओ। तुम्हें मालूम नहीं कि यह गुरु गोरक्षनाथ के नाम से, जगत्प्रसिद्ध सिद्धपीठ है ॥१३५॥

श्रीगुरुः —: स्वतः सिद्धा वयं धीरा गमनाद्यैर्विवर्जिताः ।
कथं त्याज्यमिदं पीठं गोरक्षोऽपि वयं यतः ॥१३६॥

श्रीनानक ने उनसे कहा, कि अरे ? हम तो स्वयं सिद्ध एवं धीर हैं,

जो गमनागमन से परे हैं। अतः इस सिद्ध-तीर्थ को क्यों त्यागें। श्री गोरक्षनाथ कोई हम से भिन्न नहीं हैं ॥१३६॥

तत्राश्वत्थो बभूवैको गुरोरासनसन्निधौ।
उन्मूलनकृते तस्य यत्नोऽकारि च योगिना ॥१३७॥

वहां श्रीनानक के आसन के पास ही एक वट-तरु का उद्‌भव हुआ था। उसे उखाड़ने के लिए उस नवागन्तुक योगी-सङ्घ ने बहुत प्रयत्न किये ॥१३७॥

नोत्थितः श्रीगुरोर्दृष्ट्या तदा सर्वैश्च योगिभिः।
कृतो यत्नो यथाशक्त्या तदुन्मूलनहेतवे ॥१३८॥

परन्तु श्रीनानक की कृपा-दृष्टि, उस वट-वृक्ष पर थी। अतःउन योगियों के अनेक उपायों से भी वह नहीं उखाड़ा जा सका ॥१३८॥

वेदिवर्यैस्तदा न्यस्ता तद्दलेषु निजांगुली।
नोत्थितः सिद्धपुंजेन यथा रुद्रशरासनम् ॥१३९॥

तब श्रीनानक ने उस वट-तरु के कोमल पत्तों पर अपनी एक उंगली रख दी। उन योगियोंने एक साथ मिलकर उसे उखाड़ना चाहा था। परन्तु वे सामूहिक-बल से भी उसे हिला न सके। जैसे कि शिव-धनुष को कई राजा लोग भी नहीं हिला सके थे ॥१३९॥

रागिणा च निजो वृक्षः सिद्धभीत्या दिगन्तरे।
स्थापितःस्वप्रभावेन बालेन हसितं तदा ॥१४०॥

तब मर्दाना ने, गुरुकृपा से प्राप्त सामर्थ्य से, अपने आहारभूत फलदार पेड़ को कहीं दूर दिशा में स्थापित कर दिया कि ये सिद्धलोग

कहीं उसे नष्ट-भ्रष्ट न कर दें। यह देख कर बाल को हंसने का म
मिल गया ॥१४०॥

सिद्धपुंजो गतो व्रीड़ां श्रीगुरुं शरणं गतः।
प्रभो पाहि कृपासिन्धो त्वन्महत्वमजानतः ॥१४१॥

यह सब आश्चर्य देख कर, लज्जा के मारे वह सिद्ध-सङ्घ श्रीनान
की शरण में आकर कहने लगा, कि हे दयालु, गुरुदेव ? हमें क्षमा
करो। हमने आपकी महिमा को नहीं पहिचाना ॥१४१॥

वेषचिन्हं विना दृष्ट्वा कृता चैवा विडम्बना।
अतो मुद्रादिवेषोऽपि गृह्यतां जगतां पते ॥१४२॥

हमने आपका कोई बाह्यचिन्ह-विशेष नहीं देखा, जिससे ऐसी भू
कर बैठे। इसलिए हे गुरुमहाराज ? आप कोई मुद्रा-तिलक आदि बाह्
चिन्ह भी, अपना स्थिर कीजिए ॥१४२॥

श्रीगुरुः —: सन्तोषादि भवेन्मुद्रा, ध्यानंभूतिर्विलक्षणा।
इत्यादि वेषचिन्हं मे वर्तते न च हीयते ॥१४६॥

श्रीनानक ने कहा, सन्तोष, दया आदि मुद्रा, ध्यान, चिन्तन
विभूति-धारण, ये सब अन्तर्वेष के चिन्ह मेरे पास हैं, जो कभी
नहीं सकते ॥१४३॥

उपर्यस्ति मृषा दम्भो यतस्तस्मान्न रोचते।
इदं ज्ञेयं सतां चिन्हं सर्वचिन्हविहीनता ॥१४४॥

बाह्य तिलक-मुद्रा आदि चिन्ह तो केवल दम्भ का प्रदर्शन-मा
है। इसी लिए मुझे ऐसा करना अभीष्ट नहीं है। सब प्रकार के चिन्

से रहित होना ही, सन्त का उत्कृष्ट लक्षण है ॥१४४॥

चिन्हशून्या महिष्याद्याः किं न सन्तो भवन्ति ते ।
आभ्यन्तरं विहीनत्वात्तच्च तत्र विशेषणम् ॥१४५॥

यदि कहो, कि बाह्य-चिन्हों से हीन भैंस प्रभृति पशु भी सन्त क्यों नहीं कहलाते ? तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है । क्योंकि उनमें अन्तश्चिन्ह भी तो नहीं रहते, जिनसे उन्हें सन्त माना जाये ? ॥१४५॥

तदा गोरक्षनाथोऽपि सिद्धसङ्घसमावृतः ।
आगतः श्रीगुरुं दृष्ट्वा सुप्रसन्नो बभूव सः ॥१४६॥

इतने में श्रीगुरु गोरक्षनाथ भी, अपने अनुयायी-सिद्धों के साथ वहां आ पहुंचे और श्रीनानक को देख कर अतिप्रसन्न हुए ॥१४६॥

स्थितावेकासने सन्तौ नतिं कृत्वा परस्परम् ।
कापि सौहार्दसम्पन्ना कृता वार्ता परस्परम् ॥१४७॥

वे श्रीनानक के साथ ही, एक आसन पर विराजमान हुए और दोनों सन्तों ने परस्पर नमोनमः करते हुए, बड़ी प्रेम-भावना से बातचीत की ॥१४७॥

पूर्ववृत्तन्तदा श्रुत्वा सिद्धसङ्घमुवाच ह ।
नानकोऽयं महायोगी सर्वसिद्धिसमन्वितः ॥१४८॥

पहले से आये हुए सिद्ध-सङ्घ की, अतीत-वार्ता को सुनकर, श्रीगुरु गोरक्षनाथ ने उन्हें समझाया, कि हे प्रियजनों ? यह श्रीनानक हैं, जो सब सिद्धियों से संयुक्त महायोगी हैं ॥१४८॥

उत्पत्तौ रक्षणादौ च शक्तिरस्यास्ति सर्वदा ।
सिद्धिलेशं नरो लब्ध्वा मन्यते न महेश्वरम् ॥१४९॥

समुत्पादन, सुरक्षा, संविनाश आदि में, यह शक्ति-सम्पन्न, शान्त, महासन्त हैं। परन्तु अन्य लोग तो सिद्धि का एक अंश-मात्र प्राप्तकर घमण्डी बन जाते हैं, जो सर्वेश्वर को भी फिर कुच्छ नहीं समझते ॥१४९॥

साधकस्य च तुच्छत्वं निजशक्तेः प्रदर्शनम् ।
तुच्छबुद्धिभृतां धीरा योगसिद्धि र्न जायते ॥१५०॥

अपनी शक्ति का वृथा-प्रदर्शन करना, साधक की महानीचता है। तुच्छमतिवालों को योगसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ॥१५०॥

योगो हि द्विविधः प्रोक्तो हठश्चैकोऽभिधीयते ।
द्वितीयो राजयोगः स्यात्तयोरङ्गाङ्गितां विदुः ॥१५१॥

योग दो प्रकार का है। एक हठयोग और दूसरा राजयोग। उन दोनों का अङ्गाङ्गीभाव भी होता है। योगशास्त्र का यही मत है ॥१५१॥

राजयोगो भवेद्द्वेधा संप्रज्ञातादिभेदतः ।
संप्रज्ञातः सवृत्तिः स्याद्वृत्तिहीनो द्वितीयकः ॥१५२॥

राजयोग भी संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेद से दो प्रकार का है। वृत्तिसहित संप्रज्ञात और वृत्तिहीन असंप्रज्ञात राजयोग होता है ॥१५२॥

बीजभेदाद्द्विधा सोऽपि पुनर्द्वेधा प्रकीर्तितः ।
भवप्रत्ययनामैकोऽपरस्तूपायहेतुकः ॥१५३॥

बीजभेद से दो प्रकार का होकर, वह फिर दो प्रकार का कहा गया है। पहला भव-प्रत्ययवाला और दूसरा उपाय-हेतुक ॥१५३॥

भवोऽविद्या भवेद्धेतुर्यत्र तं प्रथमं विदुः ।
उपायाधीनवीर्याद्या यस्य हेतुः सचान्तकः ॥१५४॥

जिसमें भव अर्थात् अविद्या-हेतु विद्यमान रहे, उसे भव-प्रत्ययवान् और जिसमें उपाय अर्थात् ध्यान-शक्तिमत्ता आदि हेतु उपलब्ध हैं, उसे उपाय-हेतुक राजयोग कहते हैं ॥१५४॥

भवप्रत्ययवान् योगी द्वेषरागसमन्वितः ।
भवन्तस्तादृशाः सर्वे ततो ज्ञानविहीनता ॥१५५॥

भवप्रत्ययवाला योगी, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से निर्मुक्त नहीं होता। इसलिए आप सब उसी कोटि के हैं जिससे अभी आप लोगों में ज्ञान की कमी बराबर बनी हुई है ॥१५५॥

ईश्वरस्यावतारोऽयं नानको जगतां गुरुः ।
भक्तिमार्गोपदेशाय यत्र कुत्रापि गच्छति ॥१५६॥

यह विश्व-गुरु श्रीनानक तो साक्षात् ईश्वर का ही अवतार हैं। इनका यत्र तत्र सर्वत्र आना-जाना, केवल भक्तिमार्ग के सदुपदेश के लिये ही होता है ॥१५६॥

योगादीनां च सर्वेषामयं सिद्धः समाश्रयः ।
वन्दनीयोऽत एवायं सर्वसिद्धैःसमन्ततः ॥१५७॥

यह (श्रीनानक) सब प्रकार के योगों का स्वयंसिद्ध अधिष्ठान हैं। इसलिये सभी सिद्ध-पुरुषों द्वारा यह वन्दनीय हैं ॥१५७॥

ब्रह्मकुक्षौ मृषा माया तत्कृतं सकलं मृषा ।
इदं स्थानं कुतः सत्यं वृथा कोलाहलः कुतः ॥१५८॥

ब्रह्मानुभूति में माया तो रही नहीं, फिर उसके कार्य भी असत्य क्यों नहीं भासते ? ऐसी दशा में यह स्थान कहां रहा और एतदर्थं "मेरा तेरा" यह विवाद ही क्यों हुआ ॥१५८॥

इदं श्रुत्वा नतिं कृत्वा स्तुतिं कृत्वा च योगिनः ।
समं गोरक्षनाथेन गता देशान्तरं तदा ॥१५९॥

श्रीगुरु गोरक्षनाथ की यह सयुक्तिक ज्ञानवार्ता सुन कर, उन पूर्वागत योगियों ने श्रीनानक को सादर प्रणामकर, उनका गुणगान किया । तदनन्तर वे सभी श्रीगुरुगोरक्षनाथ के साथ २ ही अन्य स्थान को चल दिये ॥१५९॥

तद्दिनाद् गुरुनाम्नास्य पीठस्य भवति प्रथा ।
तत्र वृत्तमिदं जातं श्रूयतां विविधाः कथाः ॥१६०॥

उस दिन से लेकर उस पीठ (सिद्धस्थान) का नाम गुरुपीठ (श्रीनानकस्थान) पड़ गया । वहां पर और भी अनेक घटनाएं हुई जिन की अनेक कथाएं सुनिये ॥१६०॥

नैमिषारण्यमायातास्ततोऽयोध्यां मनीषिणः ।
तीर्थराजं गता धीरा यत्र गुप्ता सरस्वती ॥१६१॥

वहां से चलकर श्रीनानक भी अपने साथियों के साथ, नैमिषारण्य, अयोध्या आदि तीर्थों की यात्रा कर, तीर्थराज प्रयाग में पहुंचे, जहां सरस्वती नदी गुप्तरूप से बहती है ॥१६१॥

रात्रिशेषे कृतं स्नानं निजध्यानं चकार च ।
रागिबालौ तथा कृत्वा गुरोः सेवासु तत्परौ ॥१६२॥

ब्राह्ममुहूर्त में श्रीनानक ने त्रिवेणी में स्नान कर ध्यान-समाधि लगाई । मर्दाना और बाल ने भी वहां स्नान किया और श्रीगुरु की सेवा में मन लगाया ॥१६२॥

ध्यानोत्थाने कृतं गानं रागिणा गुरुसंमुखे ।
श्रद्धधानास्तदा लोकाः श्रीगुरुं शरणं गताः ॥१६३॥

श्रीनानक के, ध्यान-समाधि से उठने के बाद, मर्दाना ने अपना सुमधुर एवं भक्तिपूर्ण-संगीत, उनके सामने गया । उस अमर-संगीत को सुनकर, जहां-तहां से भागे २ जनसमूह वहां इकठ्ठे होगए और श्रीनानक की शरण में आगए ॥१६३॥

तत्र कश्चिन्नतिं कृत्वा प्राह कुत्र सरस्वती ।
अस्योत्तरं विना सन्तं श्रीगुरुं को वदिष्यति ॥१६४॥

उन में से किसी एक ने श्रीनानक को प्रणाम कर, यह प्रश्न किया, कि यहां सरस्वती नदी कहां है ? इसका उत्तर दिये बिना आपको कौन सन्त मानेगा ॥१६४॥

श्रीगुरुः—: इयं गङ्गा च कालिन्दी द्वयोर्मध्ये विराजते ।
हरे रामेति रामेति नामरूपा सरस्ती ॥१६५॥

श्रीनानक ने कहा —: यह गङ्गा है वह यमुना है । इन दोनों के बीच में "हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण,

कृष्ण-कृष्ण हरे हरे ।' यह श्री हरि-नाम स्वरूपिणी सरस्वती विराजमान है ॥१६५॥

तीर्थसङ्घः कथं पूयाद्विना नाम हरेर्जनाः ।
चर्मयुक्तं यथा पात्रं नो पुनाति जलं यथा ॥१६६॥

हे जिज्ञासु-वृन्द ? श्रीहरि-नाम के बिना, तीर्थ-स्थान भी कभी किसी को पवित्र नहीं कर सकते । जैसे कि चमड़े के पात्र को, जल कभी शुद्ध नहीं बना सकता ॥१६६॥

हरेर्भक्ति विना साधो त्रिधा दुःखं न नश्यति ।
नचानन्दस्य लाभः स्यादिति प्राहुर्मनीषिणः ॥१६७॥

हे प्रिय ? श्री प्रभु की भक्ति किये बिना, तीन तरह के दुःखों का संविनाश नहीं हो सकता एवं आनन्द की प्राप्ति भी दुर्लभ है । ऐसा ही तत्वदर्शी महापुरुषों का सिद्धांत है ॥१६७॥

श्रद्दधाना जनाः श्रुत्वा श्रीगुरोः परमं वचः ।
श्रीमुखाद्यन्महावाक्यं तत्तथैवेति चोचिरे ॥१६८॥

श्रीनानक के सारगर्भित वचनों को सुनकर, श्रद्धालु-सज्जन उनका समर्थन करने लगे, कि श्रीगुरु ने जो वचनामृत, अपने मुखारविन्द से बरसाया है, वह सत्य एवं यथार्थ है ॥१६८॥

एवमुक्त्वाभवन् शिष्या गुरुपादारविन्दयोः ।
तत्र वृत्तमिदं जातं गता वाराणसीं तदा ॥१६९॥

इस प्रकार तत्व-उपदेश को सुन कर और उसका मनन कर वे लोग

श्रीनानक के शिष्य बन कर, उन्हें मस्तक नवाने लगे। तदनन्तर ऐसा संयोग हुआ कि श्रीनानक काशीपुरी में जा पहुंचे ॥१६६॥

तत्रापि कुत्रचिद्देशे नदीसङ्गेन पावने।
सज्जनैः सेव्यमने वै स्थिता धीरास्तपस्विनः ॥१७०॥

धीर-तपस्वी श्रीनानक, वहां पहुंच कर श्री गङ्गा से पवित्र एक स्थान पर आसन लगा बैठे, जहां सज्जनों द्वारा उनकी सेवा सुश्रूषा होती रही ॥१७०॥

आगतिं श्रीगुरोर्ज्ञात्वा पण्डिताश्च समागताः।
महातेजोयुतं दृष्ट्वा नुतिं कृत्वा प्रफुल्लिताः ॥१७१॥

श्रीनानक का आगमन सुनकर, अनेक विद्वान् लोग वहां आये और उन्हें महातेजस्वी लखकर, सादर प्रणाम कर, आनन्दित हुए ॥१७१॥

अयं कश्चिन्महातेजा राजवंश्यः प्रतीयते।
केचिदाहुर्महायोगी शिवोनास्त्यत्र संशयः ॥१७२॥

कई पण्डितों ने श्रीनानक को महावर्चस्वी राजर्षि समझा। दूसरे कई उन्हें महायोगी श्री शिवजी मान कर निःशंक हो बैठे ॥१७२॥

तत्र चैको महागर्वः सर्वशास्त्रविदाम्वरः।
तेन पृष्टं कृपासिन्धो कीदृशं भवतां मतम् ॥१७३॥

जब किसी एक सर्वशास्त्रज्ञ अतएव अभिमानी पण्डित ने श्रीनानक को प्रश्न किया, कि श्रीमन् ? आपका कौन संप्रदाय है ॥१७३॥

मर्दानिश्च समाहूय प्रेरितो गुरुभिस्तदा ।
यथायोग्यतया साधो वद वाद्येन चोत्तरम् ॥१७४॥

तब श्रीनानक ने मर्दाना को बुला कर कहा, कि हे प्रिय, तुम अपने वाद्य-संगीत से, उक्त पण्डित जी के प्रश्न का यथोचित उत्तर दो ॥१७४॥

स्वरे वाद्यं तदा कृत्वा वादितं गुरुवाक्यतः ।
सर्व्वमेतद्धरेःरूपं नेह नानास्ति किंचन ॥१७५॥

श्रीनानक की आज्ञा से मर्दाना ने अपने सस्वर वाद्ययन्त्र से ऐसा सार्थक संगीत प्रकट किया, कि यह सारा संसार, श्रीहरि का ही आत्म-स्वरूप है । उससे भिन्न और कुच्छ नहीं ॥१७५॥

यथा चन्द्रे भिदा भानं विनाऽज्ञानं न सिध्यति ।
ऋतेऽज्ञानं तथा साधो हरौ भेदमतिः कुतः ॥१७६॥

हे प्रिय ? जैसे चन्द्र (जल-प्रतिबिम्ब) में भेद-बुद्धि का होना अज्ञान का फल है । वैसे ही अज्ञान-वश यदि श्रीहरि में भी भेद-बुद्धि प्रतीत हो, तो वह अयथार्थं ही होगी ॥१७६॥

इवं ज्ञात्वा हरेःरूपं यस्तु लीनमना भवेत् ।
निजानन्दपदं याति त्रिधार दुःखविवर्जितः ॥१७७॥

इस प्रकार सर्वव्यापी श्रीहरि का स्वरूप जान कर, जो मनस्वी-जन उसमें तल्लीन होता है, वह 'स्वात्माराम' पद को प्राप्तकर, तीनों तापों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है ॥१७७॥

हरौ भक्तेः फलन्त्वेतन्मामकं मतमेव तत् ।
श्रुतेश्चात्रैव तात्पर्यं तथा व्यासादिसम्मतम् ॥१७८॥

श्रीहरि की भक्ति का, जो ऐसा फल-वर्णन किया है, यही मेरा मत है। भगवती श्रुति (वेद) भी ऐसा ही उपदेश करती है और श्री वेदव्यास आदि महापुरुषों का भी यही सिद्धान्त है ॥१७८॥

ननु चैतत्समीचीनं श्रीमतां मतमुत्तमम् ।
तथाप्यैक्यं कृपासिन्धो भेददर्शनबाधितम् ॥१७९॥

वादी ने पुनः कहा, कि श्रीमन् ? आपने जो मत प्रकट किया है, सो ठीक तो है, परन्तु फिर भी एकता-दृष्टि में भेद-बाधा तो आती ही है ॥१७९॥

नैवमेषा मृषा साधो मता भेदमति र्यतः ।
तस्या दृश्यं ततोमिथ्या शुक्तिका रजतं यथा ॥१८०॥

तब उत्तर मिला, कि हे प्रिय ? ऐसी कल्पना, कि भेद-मति स्वाभाविक है, सर्वथा असत्य है। उसका मिथ्यामान तो वैसे ही है, जैसे कि सीपी में चान्दी का भ्रम हो जाये ॥१८०॥

शुक्तिकाया विना ज्ञानं दृश्यते रजतं यथा ।
चितिज्ञानं विना चेदं दृश्यते निखिलं जगत् ॥१८१॥

जैसे सीपी को जाने बिना, उसमें चान्दी का भान होता है, उसी प्रकार चिति-सत्ता के ज्ञान के विना, यह संसार भी भेद-मति का प्रसाद दीखता है ॥१८१॥

अतोऽध्यस्तमिदं सर्वं निजानन्दे परात्मनि ।
विना सत्तां जगत्सर्वं कथं भेदनिरूपकम् ॥१८२॥

इसलिये सत्य ही यह समस्त विश्व, स्वानन्दमय परमेश्वर में अध्यस्त है । अन्यथा, चेतन-सत्ता के बिना जगत् में भेद-निरूपण भी कैसे संभव हो सकता ? ॥१८२॥

तस्मात्सर्वं चितेःरूपं दृश्यजातविलक्षणम् ।
निर्विकारं हरिं ज्ञात्वा भवेदेतत्परायणः ॥१८३॥

इसलिये यह सारा संसार चिति-सत्ता का ही प्रसार है । इस प्रकार निर्बिकार (भेद-हीन) परमात्मा को जानकर, साधक को तत्परायण हो जाना चाहिए ॥१८३॥

हरेर्भक्तिं विना साधो गुरोर्भक्तिं विनापि च ।
सतां सेवां विना क्वापि ब्रह्मबोधो न जायते ॥१८४॥

यह सुनिश्चित है, कि श्रीप्रभु-भक्ति, श्रीगुरु-भक्ति और सन्तसेवा के बिना, ब्रह्मज्ञान, कभी सिकी को नहीं हो सकता ॥१८४॥

ब्रह्मबोधं विना लोके मोक्षसम्भावना कुतः ।
क्रमं चेमं परित्यज्य व्रजेत्संसृतिसागरम् ॥१८५॥

ब्रह्मज्ञान के विना मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । जो कोई उपर्युक्त क्रम को छोड़ कर मनमाना आचरण करता है, उसे जन्म-जन्मान्तर तक निरन्तर संसार-सागर में पड़े रहना पड़ता है ॥१८५॥

वाद्यगीतमिदं श्रुत्वा पण्डितानां तु मण्डली ।
निजं मोहं परित्यज्य श्रीगुरं शरणं गता ॥१८६॥

सद्गुरुकृपा से संप्रेरित, मर्दाना के उपर्युक्त वाद्य-संगीत से शास्त्रा- नुसार, यथार्थ, उपदेश सुनकर, सारा पण्डित-समुदाय, अपने मिथ्या-मोह को छोड़कर, श्रीनानक की शरण में आ गया ॥१८६॥

तत्र कश्चिद्भवोपासी प्राह सद्गुरु सन्निधौ ।
मोक्षहेतुं भवोपासां प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥१८७॥

वहां फिर किसी शिवोपासक ने, श्रीनानक से कहा, कि श्रीमन् ? मुक्ति के लिए तो केवल श्री शिवजी की उपासना का ही, वेदोक्त विधान है एवं वेदविज्ञ विद्वानों का भी ऐसा ही मत है ॥१८७॥

जन्तुमात्रस्य मुक्तिः स्यात्काशिकामरणात् प्रभो ?
वेदवादिजनाः प्राहुस्तथा वाचापि लौकिकी ॥१८८॥

वेदानुयायी आचार्यों का यही कथन है, कि काशी में मरने से मोक्ष, मिलता है । लोक में भी ऐसी ही धारणा संप्रचलित है ॥१८८॥

इत्यपीशप्रभावेन नान्यथा भवितुं क्षमम् ।
ततश्चोपासनीयोऽयं सर्वदैव मुमुक्षुभिः ॥१८९॥

इस प्रकार प्राणीमात्र को, काशी-मरण से मोक्ष-लाभ होना, श्री शिव जी की ही उपासना का विशेष फल है, और कुछ नहीं । इससे सिद्ध हो गया, कि मोक्ष-कामियों को, सदा श्री शिवजी की ही भक्ति करना समुपयुक्त है ॥१८९॥

श्रीगुरुः—: भवत्येवं भवान्मुक्तिस्तथाप्यत्र विचार्यते ।
ब्रह्मभिन्नो भवो वास्ति तदभिन्नोऽभिधीयते ॥१९०॥

श्रीनानक बोले,—: सत्य है, कि श्री भव-शिव जी की आराधना से मुक्ति मिलती है । किन्तु यहां यह बात विचारणीय है कि श्री शिव जी को ब्रह्म से भिन्न मानते हो अथवा अभिन्न स्वीकारते हो ? ॥१९०॥

आद्यपक्षे स्वयं तुच्छः कुतोमुक्तिर्भविष्यति ।
द्वितीये विष्णुरेव स्यान्मामकं मतमागतम् ॥१९१॥

यदि कहो, कि श्री शिव जी ब्रह्म से भिन्न हैं, तो ऐसी दशा में वे स्वयं अशक्त हैं । तब औरों के लिए मुक्ति-दाता कैसे होंगे ? दूसरे मत में, कि वे ब्रह्म से अभिन्न हैं, तो फिर साक्षात् श्री विष्णु ही ठहरे । यही तो मेरा मत है । उनसे भुक्ति-मुक्ति आदि सब कुच्छ होना सत्य-सम्भव है ॥१९१॥

तारकस्योपदेशन काशिकामरणादपि ।
मोक्ष एतद्विजानीहि हरेर्भक्तिप्रभावतः ॥१९२॥

इस में रहस्य तो यह है कि भगवान् श्री शिवजी, तारक-मन्त्र के सदुपदेश से ही, काशी में देह त्यागने वालों को मुक्ति का दान देते हैं तो फिर सुस्पष्ट है, कि यह सब श्री हरि की भक्ति का ही सुनिर्मल फल है ॥१९२॥

विष्णुभक्तिस्ततः कार्या सर्वदैव मुमुक्षुभिः ।
कलौ काले ततो भिन्नं नास्ति जीवहितावहम् ॥१९३॥

इसलिए मोक्ष-साधकों को, श्रीमन्नारायण की भक्ति करना सर्वश्रेष्ठ
। इस भयङ्कर कलियुग में श्री हरि-भक्ति से अतिरित और कोई
धन नहीं है, जो जीव-मात्र का कल्याण कर सके ॥१९३॥

तत्र वृत्तमिदं जातं पण्डितैः करुणानिधेः ।
कामाक्षी यत्र देव्यस्ति तत्र देशे जगाम च ॥१९४॥

काशी में इस प्रकार विद्वानों के साथ, श्रीनानक की शास्त्र - चर्चा
हुई । तदनन्तर वे श्री कामाक्षी देवी के क्षेत्र में चले गये ॥१९४॥

तत्र कुत्रापि विश्रान्ति रम्यदेशे चकार ह ।
प्राह रागी कृपासिन्धो क्षुत्पिशाची न गच्छति ॥१९५॥

वहां भी उन्होंने एक रमणीय स्थान पर अपना आसन लगाया ।
तब मर्दाना ने प्रार्थना की, कि गुरुदेव ? क्या करूं, भूख-राक्षसी नहीं
मरती ॥१९५॥

अत्र ग्रामे दयाशीलो लोकसङ्घः प्रतीयते ।
श्रीमदाज्ञानुसारेण व्रजेयं तन्निवृत्तये ॥१९६॥

मुझे ऐसा लगता है, कि इस गांव में दयावान् लोग रहते हैं । अतः
यदि आप आज्ञा दें, तो देहात में जाकर भूख-भवानी को सन्तुष्ट
करूं ॥१९६॥

स्यात्तथेति वचः श्रुत्वा गतो ग्रामं प्रसन्नधीः ।
मेषमेनं चकाराशु तत्र चैका हि कामिनी ॥१९७॥

श्रीनानक ने कहा, "जाओ ।" तब वह प्रसन्न-मन से पास के गांव में

चला गया। किन्तु वहां जाते ही उसे, किसी तांत्रिक नारी ने भेड़ू
दिया ॥१९७॥

भक्षयामोऽस्य मांसं वै वयं सर्वाश्च योषितः ।
अद्य धातुः कृपा जाता गृहे भक्ष्यं समागतम् ॥१९८॥

वह तान्त्रिक-स्त्री अपनी साथिन-स्त्रियों से कहने लगी, कि
हम सब मिलकर इसका मांस खाएंगी। विधाता की बड़ी दया हु
घर पर ही हमें अपना आहार मिल गया ॥१९८॥

इदं वृत्तं परिज्ञातं तत्क्षणं गुरुणा तदा ।
अतिशीघ्रं गतो ग्रामं मर्दानं च ददर्श ह ॥१९९॥

उधर श्रीनानक ने, उसीक्षण यह सारी घटना, अन्तर्दृष्टि से जान
वे यथाशीघ्र उठे और उस गांव में जाकर मर्दाना को देखने लगे ॥१९

रागी च श्रीगुरुं दृष्ट्वा भा भा शब्दं चकार सः ।
नार्या क्रोधं तदा कृत्वा सव्यहस्तेन ताडितः ॥२००॥

तब मर्दाना भी उन्हें आया देख कर, भेड़ू-रूप में ही "भें-भें"
उठा। यह देखकर उस तान्त्रिक-नारी ने बुरा माना और अपने
हाथ से मर्दाना (भेड़ू) को पीटना शुरू किया ॥२००॥

ततश्च श्रीगुरुं दृष्ट्वा तत्र तन्त्रं चकार सा: ।
गर्दभी तत्क्षणे भूत्वा हिंङ् शब्दं चकार ह ॥२०१॥

फिर उसने श्रीनानक को देखा और उन पर भी अपना तन्त्र-
मारा। किन्तु वह तन्त्र-वज्र उल्टा होकर उसी पर गिरा और
बेचारी गधी बन कद "हिङ्-हिङ्" करती फिरने लगी ॥२०१॥

एवं यया यया नार्या कृतं तन्त्रं जगद्गुरौ ।
सैव तत्तद्गतिं प्राप्ता तीव्रकर्मफलात्मिकाम् ॥२०२॥

इस प्रकार वहां की जिस २ नारी ने विश्वगुरु श्रीनानक पर जो २ तन्त्र किया, सो २ उल्टा उसी २ पर प्रभावित हुआ और उन दुष्टाओं ने अपने २ नीच-कर्मानुसार दुःखात्मक फल पाया ॥१०२॥

रागितन्त्रं पराकृत्य श्रीगुरुश्च निजासनम् ।
तेन साकं गतो धीर इदं वृत्तमलौकिकम् ॥२०३॥

फिर मर्दाना को तन्त्र से छुड़ाकर और साथ लेकर वे अपने स्थान पर लौट आये । तब आस-पास सब जगह, इस अद्भुत-घटना का प्रचार-प्रसार हो गया ॥२०३॥

तद्वरैश्च श्रुतं वृत्तं तदा तेऽपि समागताः ।
स्वीया नार्यस्तदा दृष्टा गर्दभी कापि शूकरी ॥२०४॥

जब उन पापात्मा-स्त्रियों के पतियों ने सारी कथा सुनी और भागे २ आकर अपने २ स्थान पर देखा, तो किसी की नारी (दुष्टा) गधी एवं किसी की पत्नी शूकरी बनी पड़ी थी ॥२०४॥

मार्जारी वा शुनी कापि कुक्कुरी कापि मूषकी ।
तांश्च दृष्ट्वा गतो हर्षं कोपि शोकं गृहाश्रमी ॥२०५॥

कोई स्त्री बिल्ली, कोई कुतिया, कोई मुर्गी और कोई चुहिया बनी बैठी थी । उन्हें ऐसी नीच-योनि- रूपों में देख २ कर कई श्रेष्ठ-पतियों ने हर्ष माना और दूसरे कई वरों ने शोक-पूर्ण दुःख प्रकट किया ॥२०५॥

यस्य नारी महादुष्टा कुट्टिनी व्यभिचारिणी ।
इदं वृत्तं परिज्ञाय सुप्रसन्नो बभूव सः ॥२०६॥

जिस किसी की स्त्री अतिदुष्टा, दूतिका, व्यभिचारिणी थी, (पति) तो अपनी कुभार्या को यथोचित दण्ड मिला मान कर, अतिप्र हुआ ॥२०६॥

यस्य भार्या गुणैर्भक्ता रूपशीलवती सती ।
वृत्तमेतत्परिज्ञाय शोकयुक्तो बभूव सः ॥३०७॥

परन्तु जिस किसी की पत्नी, गुणवती, सेविका, रूप, चरित्र व्यवहार में सुन्दरी थी, वह (वर) उसकी विपरीत-दशा देख कर पाने लगा ॥२०७॥

तैर्मिलित्वा जनाः सर्वे श्रीगुरुं शरणं गताः ।
प्रभो पाहि विना नारीर्निर्वहेत्कथमाश्रमः ॥२०८॥

उन गृहस्थों के साथ कुछ और भी वहां के निवासी लोग मिल श्रीनानक की शरण में गये और प्रार्थना करने लगे कि महात्मन्? पर दया करो। पत्नी के बिना हमारा गृहस्थ-आश्रम कैसे निभेगा ॥२०

योषितोऽपि गताश्चक्रुस्तन्त्र शब्दं निजं निजम् ।
तं च रागी रवं श्रुत्वा हास्यमुच्चैश्चकार ह ॥२०९॥

उनके पीच्छे २ वे स्त्रियां भी, अपने सद्योजात-पशुरूपों में ही पहुंचीं और अलग २ बोलियां बोलने लगीं। उनके उन पशु-मुख को सुन कर मार्दाना जोर से हंस पड़ा ॥२०९॥

भक्ति तासां तथा दृष्ट्वा तत्पतींश्चातिदुःखितान् ।
प्राह देवस्तदा रागिन् कुर्वासां मानवीं तनुम् ॥२१०॥

तब उन दुःखिताओं की भक्ति और उनके पतियों की क्लेशपूर्ण दशा को देख कर श्रीनानक ने मर्दाना से कहा, कि तुम इन अबलाओं को पुनः असल-मनुष्य-रूप में बदल दो ॥२१०॥

श्रीमदाज्ञानुसारेण स्वरे वाद्यं चकार सः ।
आसारागस्य वाक्यानां कृतमालापनं तदा ॥२११॥

श्री सद्गुरु की आज्ञानुसार मर्दाना ने अपना वाद्य-यन्त्र स्वर में बांधा और आसा (प्रभाती) राग के पदों का आलाप आरम्भ किया ॥२११॥

मानवेभ्यः कृता देवा अतिशैघ्र्येण येन सः ।
पशुभ्यो मानवं रूपं किं न शीघ्रं करिष्यति ॥२१२॥

जिस प्रभावकारी राग (आसा) के द्वारा मनुष्य देवता बन सकते हैं, भला वह फिर पशुओं को मनुष्य क्यों न बना देगा ? ॥२१२॥

इमं शब्दं तदा श्रुत्वा गता मानवरूपताम् ।
प्रार्थनां शिष्यभावाय कृतवत्यो हि योषितः ॥२१३॥

मर्दाना द्वारा वाद्य-संगीत में आलापित आसा राग के सुप्रभाव से, वे पशु-रूपा नारियां, यथापूर्व अपने २ मानुष-रूप में परिणत हो गईं। तब उन्होंने श्रीगुरु से विनीत-प्रार्थना की, कि प्रभो ? हमें अपनी शिष्या बना लीजिए ॥२१३॥

रागिणीति गुरोर्वाक्यात्तथा कृत्वा गता गृहम् ।
येषां नार्यों महादुष्टास्तेऽपि सर्वे समागताः ॥२१४॥

श्रीनानक ने रागी-मर्दाना की ओर सङ्केत किया। तब वे उस से क्षमा-याचनापूर्वक नाम की दीक्षा लेकर अपने २ घरों को वापिस लौट गईं। इतने में वे सब मनुष्य भी वहां आ खड़े हुए कि जिनकी स्त्रियां महादुष्टा थीं ॥२१४॥

अस्मदीया प्रभो नार्यो यथा जातास्तथैव ताः ।
सन्तु तासां तथात्वेऽपि हीयते न प्रयोजनम् ॥२१५॥

उन्होंने श्रीगुरुचरणों में निवेदन किया, कि महाराज ? हमारी कुलटा-पत्नियों को कुकर्मानुसार, आपने जो २ निकृष्ट-रूप दिया है, वे उसी रूप में रहें, तो अच्छा है। इससे हमारी कोई हानि नहीं होगी ॥२१५॥

दुष्टनार्या नराद्वापि पशोर्व्यक्तिः प्रशस्यते ।
पापहेतुत्वशून्यत्वादेतदाहुर्मनीषिणः ॥२१६॥

महात्माओं का कथन सत्य है, कि दुष्ट-नर-नारियों से, शुद्धस्वभाव पशु भी श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उसमें पाप करने की कारणता का अभाव होता है ॥२१६॥

क्रोधयुक्ता इदं श्रुत्वा ता बभूवुरमङ्गलाः ।
कृत्वानुकूलचेष्टां च श्रीगुरुं शरणं गताः ॥२१७॥

अपने पतियों की उपर्युक्त बातें सुन कर वे अशुभ-रूपा नारियां क्रोधित होगईं और स्वानुकूल चेष्टाएं करतीं २ श्रीगुरु की शरण में आगईं ॥२१७॥

तादृश्यो नो भविष्यन्ति रागिणः कृपया जनाः ।
रूपशीलादियुक्ताः स्युः प्राह वेदिवरस्तदा ॥२१८॥

श्रीनानक ने उन पर कृपा करते हुए कहा, कि हे नर-वृन्द ? अब ये ऐसी पशु-योनि में ही नहीं रह सकतीं । क्योंकि रागी मर्दाना की, इन पर विशेष कृपा हुई है । इसलिये अब ये पुनः यथापूर्व रूप, गुण और शीलवती होंगी ॥२१८॥

तथा रागिन् त्वया कार्यं दुर्लभा मानवी तनुः ।
एवमुक्तो जलैः सिक्त्वा कृता अद्भुतयोषितः ॥२१९॥

फिर उन्होंने रागी को, वैसा करने की आज्ञा दी क्योंकि मनुष्य-शरीर की महत्ता का, उन्हें ज्ञान था । तब मर्दाना ने सद्गुरुकृपा से जल के छींटे मारे, तो वे पापरूपा, पशुभूता नारियां पुनः अपने यथापूर्व सर्वसुन्दर रूप को प्राप्त हुईं ॥२१९॥

रागिशिष्यास्तदा भूत्वा गता धाम निजंनिजम् ।
तत्र लीलामिमां कृत्वा गता मन्दिरसन्निधौ ॥२२०॥

फिर वे सभी मर्दाना की शिष्या बनीं और नाम-उपदेश लेकर अपने २ ठिकानों पर चली गईं । वहां ऐसी अद्भुत लीला कर श्रीनानक भी अपने साथियों सहित श्री देवी के मन्दिर के पास जा ठहरे ॥२२०॥

तत्र देवी निशाकाले क्षीरहस्ता समागता ।
भक्षणीयं कृपासिन्धो प्राह देवं सुशीलतः ॥२२१॥

वहां आधी-रात को श्री कामाक्षी देवी, हाथों में क्षीर-भाजन लिए

हुये स्वयं प्रकट हुईं और मधुर वाणी से बोलीं, कि हे महात्मन् ? यह प्रसाद है, आप ग्रहण कीजिये ॥२२१॥

अहोभाग्यमहोभाग्यं जातं श्रीगुरुदर्शनम् ।
अहं सेवां करिष्यामि गम्यतां न दिगन्तरम् ॥२२२॥

आज हमारे बड़े भाग्य हैं, कि आपके शुभ-दर्शन हुए । इसलिए अब यहीं ठहर जाईये । कहीं और जगह जाने की कोई जरूरत नहीं है । मैं यथायोग्य सेवा-सुश्रूषा करूंगी ॥२२२॥

शक्तिवाक्यमिदं श्रुत्वा प्राह सद्गुरुरुत्तरम् ।
त्वया देवि सदा ज्ञातं गमनस्य प्रयोजनम् ॥२२३॥

श्री शक्ति-माता की कृपा-वाणी सुनकर, श्रीनानक ने उत्तर में कहा कि हे भगवति ? आप तो मेरे भ्रमण की बात जानती ही हैं, कि मैं केवल "सत्य-नाम-प्रचार" के लिये ही सर्वत्र घूम रहा हूं ॥२२३॥

शक्तिर्भक्ति तदा दृष्ट्वा यत्किंचिदपि पायसम् ।
भक्षयित्वा स्वयं दत्तं सङ्गिभ्यां गुरुमिस्तदा ॥२२४॥

फिर श्रीनानक ने, श्री देवी के विशेष-आग्रह से, वह क्षीर-प्रसाद स्वयं भक्षण किया और अपने साथियों को भी खिलाया ॥२२४॥

प्राह भुक्त्वा तदा रागी गुरो खाद्य मिदं वरम् ।
अत्रैवावस्थिती रम्या गमने किं प्रयोजनम् ॥२२५॥

उस दैवी-भोग को खाकर रागी (मर्दाना) ने कहा, हे गुरुजी, यह तो बड़ा उत्तम एवं स्वादिष्ट भोजन है । इसलिए अब आप अन्यत्र कहीं मत जाएं । इसी स्थान पर रहना ठीक है ॥२२५॥

प्राह तं मन्दहास्येन मामकं न च तावकम् ।
इदमुक्त्वा गतो धीरो जगन्नाथपुरीं प्रति ॥२२६॥

तब मुस्कराते हुए श्रीनानक ने कहा, "कि तुम्हारा तो कहीं भी जाने का कोई प्रयोजन नहीं, परन्तु मेरा अवश्य है।" उसे यों समझा कर, वे श्री जगन्नाथपुरी की ओर चल पड़े ॥२२६॥

तत्रापि कुत्रचित् प्रांते स्थितो मन्दिरसन्निधौ ।
तदा पात्रत्रयं नीतं पूजकै भंक्तपूरितम् ॥२२७॥

वहां भी उन्होंने किसी देवमन्दिर के निकट ही आसन लगाया। तब वहां के पुजारियों ने सूखे भात से, तीन भाण्डे भर कर उनको भेंट किये ॥२२७॥

प्राह देवस्त्वया रागिन् भक्षणीयमिदं मुदा ।
तथा कृत्वा गुरुं प्राह शक्तिभक्तिर्विलक्षणा ॥२२८॥

श्रीनानक ने मर्दाना को कहा, कि तुम प्रसन्नता से यह सारा नैवेद्य खाओ। उनकी आज्ञा से भात का भोग लगा कर वह बोला, कि गुरुवर ? कामाक्षी-क्षेत्र में शक्ति की भक्ति न्यारी ही थी ॥२२८॥

श्रीगुरुः —: कलौ भक्तिर्यथानार्यां नरेषु न च तादृशी ।
शुष्कभक्तप्रदानेन जगन्नाथेन सूचितम् ॥२२९॥

श्रीनानक बोले —: अरे भाई ? इस कलिकाल में, स्त्रियों में जो भक्ति-भावना है, सो पुरुषों में नहीं दीखती। देखो, यहां श्री जगन्नाथ

स्वामी ने स्वयं सूखा-भात खिला कर, मेरी ही उक्ति की संपुष्टि की है ॥२२९॥

सायङ्काले समायाताः पूजका गुरुसन्निधिम् ।
गम्यतामिति चाहुस्ते श्रोतुं नीराजनं हरेः ॥२३०॥

सन्ध्या के समय पुजारी लोग श्रीनानक के पास आकर बोले, कि चलिए, मन्दिर में श्री जगन्नाथ जी की पूजा, आरती, स्तुति आदि में सम्मिलित होईये ॥२३०॥

श्रीगुरुः —: अस्मदीयो जगन्नाथो वर्तते सकलान्तरे ।
जगद्व्यापी यथा देवस्तथा नीराजनं विभोः ॥२३१॥

श्रीनानक ने कहा, हे पूजक-वृन्द ? हमारे जगन्नाथ तो सर्वत्र विद्यमान हैं । जिस प्रकार वे विश्व-व्यापक हैं, उसी तरह उनकी अर्चना स्तुति आदि भी सर्वतोमुखी हैं ॥२३१॥

श्रावयित्वा नमस्थालीं गतःसिन्धुतटं प्रति ।
कृतं सर्वं जलं मिष्टं क्षारसिन्धुतटे तदा ॥२३२॥

उन्हें ऐसा कह कर श्रीनानक ने आकाश से घण्टानाद की ध्वनि सुनवाई । फिर वे स्वयं समुद्र-तीर पर गये और वहां का खारा पानी मीठा कर दिखलाया ॥२३२॥

॥ दूसरा विश्राम समाप्त ॥



अथ तृतीयो विश्रामः

तत्र वृत्तमिदं जातं गता धीरा दिगन्तरम् ।
तत्र क्वापि स्थितिर्जाता नदीतीरेऽतिपावने ॥१॥

तीसरा विश्राम प्रारम्भ

तदनन्तर ऐसा प्रसङ्ग आया, कि श्रीनानक, वहां से दूसरी दिशा को चल दिए। उस ओर जाकर एक शान्त नदी के तीर पर ही उन्होंने अपना आसन लगाया ॥१॥

कलिस्तत्र समायातो लिङ्ग-जिह्वे स्वहस्तयोः ।
कृत्वा बिभीषणं रूपं श्रीगुरुं शरणं गतः ॥२॥

एक दिन कलियुग अपने भयङ्कररूप को धारण कर, लिङ्ग और जीभ को हाथों से थाम कर, वहां आया तथा श्रीनानक की शरण में पड़ गया ॥२॥

कः कस्मादागतिर्जाता किमाचारपरोऽसि वा ।
किमर्थंतादृशी मुद्रा प्राह देवः सभीतिकम् ॥३॥

श्रीनानक ने सावधान होकर उससे पूच्छा, कि रे, तू कौन है
कहां से आया है ? यहां तुम्हारा क्या काम है, यह कैसी अमद्र-
बना रक्खी है तुमने ? ॥३॥

कलिरुवाच —: तिष्यमेनं प्रभो विद्धि सर्वतोऽपि समागतम् ।
अहं शिष्योभविष्यामि श्रीमतां पदकञ्जयोः ॥४॥

कलि ने प्रार्थना की, हे दयामय ? मुझे आप सभी ओर से सङ्कट-
पन्न ही जानो । अतः कृपा करो और अपना शिष्य बना लो ॥४॥

मम राज्ये न मन्यन्ते मातरं पितरं जनाः ।
पितुः पुत्रे न विश्वासः पुत्रस्य जनके तथा ॥५॥

क्योंकि मेरे राज्य में लोग, अपने माता-पिता को नहीं सत्कारते
पिता को अपने पुत्र और पुत्र को पिता पर कोई विश्वास न
रहा ॥५॥

धर्मनारीं परित्यज्य नरा वेश्यासु तत्पराः ।
योषितः स्वपतिं त्यक्त्वा दुराचारपरायणाः ॥६॥

पुरुष अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर वेश्याओं में आसक्त हैं । नारियां
भी अपने पति को त्यागकर पर-पुरुषों में प्रीति रखती हैं ॥६॥

स्वामिद्रोहं च कुर्वन्ति जना विश्वासघातिनः ।
मित्रद्रोहं च कुर्वन्ति शिश्नोदरपरायणाः ॥७॥

सेवक लोग विश्वासघात कर अपने स्वामी से द्रोह करते हैं
खान-पान परिधान और भोग-विलास में पड़कर सब मनुष्य मित्र-द्रोह
करने लग गये हैं ॥७॥

नृपा न्यायं न कुर्वन्ति पीडयन्ति निजाः प्रजाः ।
धर्मशास्त्रं परित्यज्य मद्यमांसपरायणाः ॥८॥

राजा लोग न्यायमार्ग को छोड़ बैठे हैं। वे वृथा कर-भार से प्रजाओं को दुःखी करते हैं। धर्मशास्त्र की मर्यादा को नहीं मानते, बल्कि मद्य-मांस के सेवन में ही जीवन व्यतीत करते हैं ॥८॥

आश्रमाणामृते चिन्हं धर्मलेशो न दृश्यते ।
वयं पूज्याश्च संन्यस्ता इमे हीनाश्रमा जनाः ॥९॥

वर्णाश्रम की व्यवस्था भङ्ग हो चुकी है। चारों आश्रमों में केवल बाह्यचिन्ह-मात्र दिखलाई देते हैं, धर्मभावना तो किसी में नहीं रही है । संन्यासी-लोग अपगे को ही सर्वमान्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अन्य सभी आश्रमवासी हीन एवं घृणास्पद हैं ॥९॥

ब्राह्मणोऽहं तपोमूर्तिः सर्वधर्मसमन्वितः ।
इत्यादिकेवलो वादो वादवाच्यं न वर्तते ॥१०॥

विप्र-वर्ग स्वयं धर्मध्वजी बनकर अपने आप में ही गर्वित हैं। उसमें केवल 'ब्राह्मण-नाम' ही शेष है । वर्ण तो सब मिश्रित हो गये हैं। ॥१०॥

निजकार्यस्य सिद्ध्यर्थं धनं गृह्णाति यो नरः ।
यतस्तस्मै न दानेच्छा वर्तते तस्य हे प्रभो ॥११॥

हे सन्तशिरोमणि ? जो कोई किसी से स्वार्थ-साधन के लिए कभी धन (ऋण) लेता है, वह पुनः उसे लौटाने की इच्छा नहीं रखता ॥११॥

तीर्थदेवादिपूज्यानामनेकशपथान्मृषा ।
स्वल्पद्रव्यस्य लाभाय कुर्वन्ति सततं नराः ॥१२॥

हर कोई यत्किंचित् स्वार्थ-लाभ के लिए भी, पवित्र तीर्थ, देवता, पितृ-वर्ग आदि की झूठी सौगन्ध उठाता है ॥१२॥

ब्रह्मविद्याप्रयत्नोऽपि दम्भदर्पादिवृद्धये ।
जनैर्लोभं पुरस्कृत्य क्रियते न तु मुक्तये ॥१३॥

वेदान्त प्रभृति शास्त्रों का अभ्यास भी, केवल दम्भ एवं घमण्ड-प्रदर्शन के लिए ही किया जाता है । उसकी ओट में भी लोग लोभ को ही प्रोत्साहन देते हैं, न कि मोक्ष-भावना को ॥१३॥

येन केन प्रकारेण दानं लब्ध्वा च शेरते ।
प्रायश्चितं न कुर्वन्ति ब्राह्मणा जगतां गुरो ॥१४॥

ब्राह्मण-बन्धु, जिस-तिस उपाय से दान लेकर आराम करते हैं। प्रायश्चित्त करना तो उन्हें भाता ही नहीं ॥१४॥

भिक्षां यथेष्टमासाद्य भिक्षवो मूढमानिनः ।
शयनेनैव कुर्वन्ति त्रियामां पंचयामिकाम् ॥१५॥

साधु (भिक्षुक) लोग जहां-तहां से भिक्षा पाकर प्रसन्नता से खाते और वृथाभिमानी बने, पड़े २ सोने में ही सारा समय गंवा देते हैं ॥१५॥

शिलापूजादि कुर्वन्ति प्रीतिलेशो न वर्तते ।
तालघण्टाभिघातैश्च सूच्यते महती क्रिया ॥१६॥

पुजारी लोग, पाषाण-प्रतिमा आदि की पूजामात्र करते हैं, उनमें हार्दिक-भक्ति तो होती ही नहीं। केवल शङ्ख, घड़ियाल आदि के बजाने में ही, वे अपने को कृतकृत्य समझ लेते हैं ॥१६॥

मोहराजस्य या सेना कामदेवश्च तत्पतिः।
गतो वृद्धि कृपासिन्धो मुद्रयैतद्धि सूच्यते ॥१७॥

मोह राजा की सम्भ्रान्त-सेना का नायक कामदेव तो एक दम सब पर सवार है। हे महात्मन् ? मैंने उसीभाव को, लिङ्ग-ग्रहण-मुद्रा से प्रकट कर रक्खा है ॥१७॥

श्रीमतामुपदेशोऽयं यत्र यत्र प्रवर्तते।
हरेर्नाम्नो दयासिन्धो तत्र-तत्र विनश्यति ॥१८॥

हे दयालु ? आपके द्वारा श्रीहरि-नाम-सङ्कीर्तन का सदुपदेश, जहां २ प्रभावित होगा, वहां २ इस दुष्ट काम का प्रवेश होना असम्भव है ॥१८॥

विष्णुभक्तेः प्रभावोऽयं प्रोच्यते वेदपारगैः।
अतःशिष्यो भविष्यामि प्राणत्राणस्य हेतवे ॥१९॥

वेदविज्ञ, महापुरुषों ने, श्री विष्णु-भक्ति का ऐसा ही अमोघ प्रभाव बतलाया है। इसलिये मैं अपना कल्याण चाहता हुआ, आपका शिष्य बनूंगा ॥१९॥

श्रीगुरुरुवाच :— ये जपन्ति हरे र्नाम सतां सेवासु तत्पराः।
साधुवृत्या च जीवन्ति मृषासम्भाषणं विना ॥२०॥

श्रीनानक बोले, जो लोग श्रीहरि का भजन करते, सन्तों की सेवा में मन लगाते, पवित्र-वृत्ति से रहते, और कभी झूठ नहीं बोलते,... ॥२०॥

मातृभक्ताः पितुर्भक्ता दयाशीलसमन्विताः ।
शास्त्रतत्वस्य वेत्तारो मानलोभविवर्जिताः ॥२१॥

...माता-पिता के भक्त, दयावान्, पवित्राचार, शास्त्र-मर्मज्ञ, मान, लोभ से हीन,......॥२१॥

यथालाभेन संतुष्टाः सतां नामोपदेशिनः ।
तेषु साधो कले मा गाः प्राणत्राणं भविष्यति ॥२२॥

प्रभु की इच्छा से संप्राप्त-पदार्थों से सन्तुष्ट, सत्पात्र को सत्य नाम के उपदेष्टा, इत्यादि सत्कर्मा हैं, उनके पास तू कभी मत जाना। हे कलियुग ? बस, इस भान्ति से ही तेरी प्राण-रक्षा सम्भव है, अन्यथा नहीं ॥२२॥

कलिरुवाच :— पंचधा च कृपासिन्धो सत्यनामोपदेशिनः ।
उत्तमा मध्यमा मन्दास्ततश्चैके ततश्च वै ॥२३॥

कलियुग बोला :— महात्मन् ? उत्तम, मध्यम, मन्द, मन्दतर, और मन्दतम भेद से सत्यनाम के उपदेष्टा भी पांच प्रकार के हैं ॥२३॥

यस्य रोमसु सर्वेषु सत्यनामप्रवेशनम् ।
नो विजानाति संसारं तं विदुर्जनमुत्तमम् ॥२४॥

जिस साधक के प्रत्येक रोम में सत्यनाम का विचार है तथा मन में संसार की कोई वासना नहीं है, वह सत्यनाम का उत्तम अभ्यासी है ॥२४॥

यस्य स्वान्ते मुखे चापि सत्यनामनिवेशनम् ।
मध्यमं तं विजानीयात् क्वापि संसृतिदर्शिनम् ॥२५॥

जिस उपासक की मन-वाणी में सत्यनाम का आधार है और कभी २ संसार का यत् किंचित् चिन्तन हो जाता है उसे मध्यम-श्रेणि का साधक जानना चाहिये ॥२५॥

उपर्यव गलाद्यस्य सत्यनामनिवेशनम् ।
तं हि मन्दं विजानीयात्सदा संसृतिदर्शिनम् ॥२६॥

जिस के कण्ठ से ऊपर तक ही सत्यनाम की रटना है और सदा संसार में अनुराग बना रहता है, वह मन्द साधक है ॥२६॥

कार्यसिद्धि पुरस्कृत्य सत्यनाम समीरितम् ।
येन तं तु विजानीयात् प्रभो मन्दतरं परम् ॥२७॥

जो केवल किसी स्वार्थवश ही सत्यनाम का आश्रय लेता है और मतलब हल होजाने पर उससे विमुख हो जाता है, वह मन्दतर साधक कहलाता है ॥२७॥

लोकदृष्ट्या तु दृश्यन्ते सत्यनामोपदेशिनः ।
इष्टनिन्दादि कुर्वन्ति सङ्गदोषेण दूषिताः ॥२८॥

जो लोग संसार की नजरों में तो सत्यनाम के उपदेशक बने रहते हैं, परन्तु स्वयं सङ्ग-दोष से दूषित होकर इष्टदेव की निन्दा करते हैं... ॥२८॥

ईश्वरस्य गुरो नाम्नः सदा विक्रयशालिनः ।
गुरोश्चौराः कृपासिन्धो ते हि मन्दतमा नराः ॥२९॥

...ईश्वर, गुरु प्रभृति परमकल्याणकारी तत्वों के नाम को बेचते हैं। वे चोर-प्रकृति के पुरुष मन्दतम-साधकों में गिने जाते हैं ॥२९॥

तत्र कुत्रापि मां वासो दीयतां जगतां पते ।
अन्त्यकोटाविति श्रुत्वा कलिवीरः प्रफुल्लितः ॥३०॥

"हे दीनबन्धु ? आप इन उपर्युक्त साधक-श्रेणियों में कहीं
जगह मुझे ठहरने का आश्रय बतला दीजिये ।" तब श्रीनानक ने
कि अन्तिम श्रेणि (मन्दतम) में ही तुम सदा रहा करो ।" यह सु
वीर कलियुग अतिप्रसन्न हुआ ॥३०॥

यद्यपीयं कृपासिन्धो महातुच्छा प्रतीयते ।
तथापि मत्प्रसादेन परां काष्ठां गमिष्यति ॥३१॥

उसने कहा, कि हे पूज्यवर ? भले ही यह अन्तिम-श्रेणि अ
मानी गई है । परन्तु आप सच मानिये, कि मेरी कृपादृष्टि से यही
से अधिक पूजनीया हो जायगी ॥३१॥

कलौ पूज्या भविष्यन्ति ह्यन्त्यकोटिनिवासिनः ।
पूर्वकोटिप्रविष्टानां नैव वार्ता भविष्यति ॥३२॥

मेरे अधिष्ठातृत्व-काल में तो इस अन्तिम कोटि के लोग ही स
सम्मान पायेंगे । पहिली चार-अवस्थाओं के साधक किसी की कृपा-
के पात्र न होंगे ॥३२॥

श्रीगुरु :—: सत्यमेतत्त्वया प्रोक्तं तच्च तेषां हि भूषणम् ।
परां काष्ठां गमिष्यन्ति सत्यनामपरायणाः ॥३३॥

श्रीनानक ने कहा, ठीक है, तुम्हारा कहना सत्य है । यदि इ
तरह सत्यनाम के समाश्रय से उनकी (मन्दतमों की) अभ्युन्नति हो
तो यह उनके लिये बड़े गौरव की बात है ॥३३॥

इदं श्रुत्वा स्तुतिं कृत्वा नुतिं कृत्वा प्रसन्नधीः ।
गतस्तिष्यो गुरोश्चित्तं निजानन्दपदं गतम् ॥३४॥

उनका यह आश्वासन सुनकर, कलि ने स्तुतिपूर्वक उन्हें पुनः
नस्कार किया और प्रसन्न होकर वहां से प्रस्थान किया । तब श्रीनानक
। चित्त भी यथापूर्व अपने आनन्द-ध्यान में संप्रविष्ट हुआ ॥ ३४॥

दीर्घकाले व्यतीते च ध्यानयोगात्तदोत्थितम्
गुरोरिच्छा तदा जाता गमनीयं दिगन्तरम् ॥३५॥

बहुत देर के बाद उनकी ध्यान-समाधि खुली । तब उन्होंने अपनी
च्छा प्रकट की, कि अब हमें कहीं अन्यत्र जाना चाहिये ॥३५॥

स्वल्पदूरं तदा गत्वा प्राह रागी बुभुक्षितः ।
कथं वाद्येन गच्छामि क्षुत्पिशाची न मुंचति ॥३६॥

वहां से थोड़ी दूर चलकर, मर्दाना ने विनय-पूर्वक कहा, कि हे
गुरुदेव ? मैं खाली वाद्य-यन्त्र को थाम कर कैसे चलूं । भूख-भवानी
तो पिण्ड ही नहीं छोड़ती ? ॥३६॥

भक्षणीयं त्वया रागिन्नर्कवृक्षफलं वरम् ।
इदं श्रुत्वा च तेनोक्तमतः साधु विषादनम् ॥३७॥

श्रीनानक ने, राह चलते २ उसको कहा, कि अरे, वह देखो, सामने
आक के झुण्ड खड़े हैं । तुम आक के फलों को मजे से खा सकते हो ।
उनकी यह बात सुनते ही, वह झटपट बोल पड़ा, कि महाराज ? इस
से अच्छा होगा, कि मैं जहर खा जाऊं ॥३७॥

मुखस्पर्शस्त्वया कार्यो यदि मिष्टतरं भवेत् ।
भक्षणीयं त्वया साधो लोभलेशो न युज्यते ॥३८॥

जब श्रीनानक ने उसे समझाया, कि तुम पहले उन्हें चख कर देखो । अगर मीठे लगें, तो खा लेना । अधिक लोभ मत करना ॥३८॥

तदा माधुर्यसम्पन्नां भक्षयित्वा फलावलिम् ।
अहोऽपूर्वमिदं भक्ष्यं प्राह रागी प्रसन्नधीः ॥३९॥

तब उसने उन फलों को खाया तो उन्हें अतिमधुर जान कर बड़ा आनन्द पाया । पेट भर खाने बाद, वह सन्तुष्ट होकर बोला, कि वाह यह तो बड़ा स्वादिष्ट मेवा हैं ॥३९॥

संग्रहींतु न वै योग्यं श्रीगुरोर्नहि सम्मतम् ।
तथापीदं फलं मिष्टं रक्षणीयं निशां प्रति ॥४०॥

श्री गुरु जी ने मना कर दिया है, अतः अधिक संग्रह करना ठीक नहीं है । तथापि इनमें से कुछ मीठे फल, रात के लिए, अवश्य अपने पास रख लेने चाहियें ॥४०॥

सङ्गृह्य स गतो रात्रौ श्रीगुरोश्च परोक्षतः ।
भक्षयित्वाऽकरोच्छब्दमूर्ध्ववायोः प्रकोपतः ॥४१॥

उसने यों चुपके से कुच्छ आक के फल अपने पास रख लिये और रात को चोरी से खा बैठा । तब उनका विपरीत-प्रभाव हुआ और वह बेचारा ऊर्ध्व-वायु के कुपित हो जाने से (सन्निपात से) अस्त-व्यस्त बड़-बड़ाने लगा ॥४१॥

श्रीगुरोश्च कृपादृष्ट्या गता शीतरसव्यथा ।
प्राह रागी कृपासिन्धो क्षम्यतां मम चौरता ॥४२॥

तब श्रीनानक ने उसकी दयनीय-दशा को विचार कर कृपा की और अपने सदुपचार से उसे वायु-वृद्धि के तीव्र-रोग से बचा लिया। स्वस्थ होने पर वह हाथ जोड़कर उनसे क्षमा मांगने लगा, कि हे भगवन् ? मेरी चौर्य-वृत्तिं को दृष्टि-गोचर न कीजिये ॥४२॥

सतां सङ्गसहस्रेऽपि जातिशीलं न गच्छति।
बहुतीर्थ जलस्नानैस्तुम्बिकाकटुता यथा ॥४३॥

क्योंकि, भले ही कोई कितना ही सत्सङ्ग करे, परन्तु मूलतः स्वजातिजन्य-स्वभाव नहीं छूटता। देखिये, अनेक तीर्थों के निर्मलजलों से धोने पर भी तुमड़ी, अपने कड़वेपन को नहीं त्यागती ॥४३॥

भिल्लकन्याकबीराद्याः पूर्वसंस्कृतमानसाः।
तुच्छजात्यादिमत्वेऽपि गतास्तेतिमहत्पदम् ॥४४॥

परन्तु, फिर भीलनी, कबीर आदि हल्की-जाति के लोग, यदि ऊंचे-पद को पागये तो इससें अवश्य ही उनके पूर्व-जन्म के शुभ-संस्कारों का कोई विशेष प्रभाव है ॥४४॥

प्रभो चिन्तामणिं लब्ध्वा भाग्यशून्यो नरो यथा।
तत्वज्ञानं विना तस्य नो जहाति दरिद्रताम् ॥४५॥

जैसे भाग्य-हीन नर तो चिन्तामणि को पाकर भी, उससे अपरिचित रहने से सदा दरिद्री ही बना रहता है ॥४५॥

एवमेव कृपासिन्धो श्रीमतां निजसङ्गतः।
नैव जाता मनश्शुद्धिस्तत्र तत्प्रतिबन्धकम् ॥४६॥

वैसे ही आप जैसे महान् सन्त की सङ्गति पाकर भी, मेरे मन की शुद्धि नहीं हो पाई। अतः इसमें कोई प्राकृत-संस्कार ही प्रतिबन्धक बन गया है॥४६॥

अतश्चैतत्पराकृत्य देहि शांतिपदं प्रभो।
येन सन्तुष्टचित्तः सन् व्रजेयं बालतुल्यताम्॥४७॥

इसलिये हे गुरुदेव ? आप विशेष-कृपा करें और मेरे प्रतिबन्धक-दोष को सर्वथा हटाकर, मुझे शान्ति-दान दें, जिससे मैं भी शान्तचित्त होकर बाल की तरह तत्वदर्शी बन जाऊं॥४६॥

श्रीगुरुः— चित्तशुद्धि विना साधो तादृशी तव कल्पना।
कथं जाता ततो ज्ञेयं शुद्धचित्तो भवाम्यहम्॥४८॥

श्रीनानक ने कहा, हे प्रिय। मनके शुद्ध न होने से ही तेरी यह कल्पना उठी है। अतः तुम्हें सावधान होकर प्रयत्न करना चाहिये कि अब मैं शुद्धचित्त बनूंगा॥४८॥

सतां सङ्गप्रभावेन यथा शुद्धिः समागता।
क्वापि काले फलं तस्या एवमेव भविष्यति॥४६॥

सन्तों के सङ्ग से जो कुच्छ भी शुद्ध-भावना पैदा हुई है, समय आने पर उसका और भी अच्छा परिणाम निकलेगा॥४६॥

अद्यारभ्य तु सन्तोषस्तव चित्ते निवासितः।
यथा बालस्तथैव त्वं क्रियतां नात्र संशयः॥५०॥

आज से तेरे मन में सन्तोष का भाव सुस्थिर बना रहेगा और मेरी दृष्टि में जैसे बाल है, वैसे ही तुम भी उत्तम साधक हो। इस में किसी प्रकार की शङ्का मत करो ॥५०॥

एवं श्रुत्वा गतो हर्षं सदा तृप्तो बभूव सः ।
श्रीगुरुश्च निजानन्दे लीनचित्तो बभूव ह ॥५१॥

श्रीनानक की शक्ति-सम्पन्न उक्ति से मर्दाना अति प्रसन्न हुआ। अब वह सदा सन्तुष्ट रहने लगा। तब श्रीनानक अपने आनन्दधाम में विचरने लगे ॥५१॥

तत्रैव कुत्रचिद्देशे कौडनामा निशाचरः ।
गृहीत्वा रागिणं मूढो गतः स्वस्य गृहं प्रति ॥५२॥

एक दिन उसी प्रान्त में "कौड़" नामक एक राक्षस ने, मर्दाना को जबर्दस्ती से पकड़ा और अपने ठिकाने पर ले जाकर पटक दिया ॥५२॥

किं करिष्यसि मां साधो भक्षयामि न संशयः ।
वयं सन्तः सतां मांसं रोचते सर्वथैव मे ॥५३॥

मर्दाना ने उससे पूछा, कि भाई ? तुम मुझे क्या करोगे ? वह राक्षस बोला, कि तुम्हें मैं खा जाऊंगा, और क्या ? गुरुशिष्य ने कहा, कि मैं तो साधु हूं। तब राक्षस ने सुनाया, कि वाह, साधुओं का मांस तो मुझे सब से अधिक प्रिय है ॥५३॥

शापदात्रा सता प्रोक्तं सतः शापविमोचनम् ।
दीर्घकाले गते साधो नो भविष्यति चान्यथा ॥५४॥

क्योंकि मुझे शाप देने वाले महात्मा ने ही यह भी कहा था, कि मेरे शाप का अन्त भी किसी महात्मा के द्वारा ही होगा। भले ही उसमें लम्बा समय लगे। परन्तु होगा ऐसा ही। इसमें सन्देह नहीं ॥५४॥

तामसत्वान्न जानेऽहं सतां लक्षणमाश्रमम्।
इत्यतः क्रियते चैवं सत्परीक्षा भविष्यति ॥५५॥

सो, मैं तो तामसी-योनि में पड़ा हूं। सन्तों के लक्षण-आश्रम आदिका मुझे क्या पता ? इसलिये यह काम (तेरा निग्रह) कर रहा हूं, जिससे कहीं तो सत्य एवं सन्त की परीक्षा हो जाये ॥५५॥

तप्ततैलकटाहस्य दर्शनं कृतवानसौ।
यदाभीतस्तदा ज्ञातं तेन मृत्युः समागतः ॥५६॥

वहां मर्दाना ने तपे हुए तेल का कड़ाह देखा। उसे देखते ही वह भयभीत हो कर समझ बैठा, कि बस, अब मेरी मृत्यु हो जाएगी ॥५६॥

गुरो पाहि कृपासिन्धो राक्षसेनाद्य भक्ष्यते।
मच्छरीरं जगन्नेतस्त्वां विना कोऽस्ति रक्षकः ॥५७॥

तब वह दुहाई देने लगा, कि हे कृपालु गुरुदेव, आप जगत् के स्वामी हैं। दया करो और मुझे इस दुष्ट-पिशाच से बचाओ। यह मुझे खाना चाहता है। हे दीन बन्धु ? आपके सिवाय और कोई मेरा रक्षक नहीं है ॥५७॥

रागिवाचमिमां श्रुत्वा सर्वतः श्रुतिमानसौ।
भक्तपीडां परिज्ञाय श्रीगुरुश्च समागतः ॥५८॥

मर्दाना की करुण-पुकार सुनकर, सब ओर की खबर रखने वाले, श्रीनानक ने जाना कि मेरा भक्त सङ्कट में हैं। तब वे तत्क्षण वहां समुपस्थित हो गये ॥५८॥

तप्ततैलकटाहस्तु गतः शैत्यं तदैव हि।
राक्षसेन परिज्ञातमिमे सन्तः समागताः ॥५६॥

श्रीनानक के आते ही, वहां का वह तपा हुआ तेल का कड़ाह, एकदम शीतल हो गया। तब उस दुष्ट राक्षस ने जान लिया, कि हां, ये (श्रीनानक) वस्तुतः कोई सन्त-पुरुष ही यहां पधारे हैं ॥५६॥

अर्पितश्च शिरोभृङ्गो गुरुपादारविन्दयोः।
प्रभो पाहि प्रपन्नोऽहं व्रजेयं देवतागतिम् ॥६०॥

उसने तत्क्षण अपना भ्रमर-रूप मस्तक, श्रीनानक के चरण-कमलों पर टिका दिया और विनम्र-प्रार्थना की, कि हे महात्मन् ? मेरा उद्धार करो, जिससे मैं पुनःदेवगति पा सकूं ॥६०॥

इदं श्रुत्वा कृपासिन्धुः प्राह बालमिदं वचः।
अयं यद्यपि पापात्मा सतां प्राणविघातकः ॥६१॥

उसकी विनीत-प्रार्थना को सुनकर श्रीनानक ने बाल से कहा, कि यद्यपि यह (राक्षस) बड़ा पापी है, क्योंकि न जाने कितने साधुओं का संहार कर चुका है ? ॥६१॥

भवेद्देवोऽविलम्बेन दीनभावमुपागतः।
इदं श्रुत्वा गृहीत्वा च श्रीगुरोश्चरणोदकम् ॥६२॥

परन्तु अब यह दीनभाव से हमारी शरण में आया है। अतः इसे यथाशीघ्र देव-गति प्राप्त करवा दो।" श्रीनानक की आज्ञा से बाल ने उनके चरणों का जल लिया ॥६२॥

तेन सिक्ता तनुस्तस्य देवरूपो बभूव सः।
तथा भूत्वा स्तुतिं कृत्वा गतो धाम निजं प्रति ॥६३॥

उस चरणामृत को बाल ने उस राक्षस के शरीर पर छिड़का। तब वह प्राक्तन-देव-रूप में बदल गया और बड़े भक्तिभाव से उनकी स्तुति-पूजा कर अपने पूर्व स्थान को चला गया ॥६३॥

रागिबालौ गुरुः प्राह भवेन्नेत्रनिमीलनम्।
तथा कृत्वा दृष्टवन्तौ रामनाथपुरीं पुरः ॥६४॥

फिर श्रीनानक ने मर्दाना और बाल को कहा, कि "अपनी आंखें बन्द करो।" उन्होंने वैसा ही किया तो तत्क्षण सामने रामनाथपुरी (रामेश्वर) दिखाई पड़ी ॥६४॥

रामराजस्तदा श्रुत्वा श्रीगुरुं शरणं गतः।
सत्यनामोपदेशेन सोऽपि पावनतां गतः ॥६५॥

तब वहां का अधीश्वर 'रामराज' श्रीनानक की सेवा में उपस्थित हुआ। गुरु-कृपा से उसे सत्यनाम का उपदेश मिला और वह शुद्ध-बुद्ध बन गया ॥६५॥

राज्ञश्च शिवनामस्य कृतो देशोतिपावनः।
ततः सङ्कल्पमात्रेण पुरीं लङ्कां जगाम ह ॥६६॥

तदनन्तर श्रीनानक ने राजा शिवनाभ के देश (सिंहलद्वीप) को पवित्र किया और फिर वे सङ्कल्पमात्र से लङ्का में जा पहुंचे ॥६६॥

श्री गुरोर्दर्शनं कृत्वा प्राह राजा बिभीषणः ।
दर्शनं रामरूपस्य प्रभो भूयो भविष्यति ॥६७॥

उनका दर्शन कर राजा बिभीषण ने निवेदन किया, कि हे देव ? श्रीराम प्रभु के पुनःदर्शन कब होंगे ? ॥६७॥

इवं श्रुत्वा गुरुश्चाह यदा श्रद्धा भविष्यति ।
अद्यैव मे पराश्रद्धा वर्तते रघुनन्दने ॥६८॥

श्रीनानक ने कहा, कि "राजन् ? जब श्रद्धा होगी, तभी श्रीराम के दर्शन होंगे।" तब उसने कहा, कि "मेरी तो अभी प्रगाढ़ श्रद्धा है, कि श्री रघुनन्दन के दिव्य-दर्शन हों।" ॥६८॥

प्राह चेदद्वचः श्रुत्वा भवेन्नेत्रनिमीलनम् ।
तथा कृत्वा च राजासौ राघवन्ददृशे गुरुम् ॥६९॥

श्रीनानक ने फिर कहा, कि अपनी आंखें बन्द करो। तब उसने वैसा ही किया और उसी समय उन्हें श्रीराम के रूप में देखने लगा ॥६९॥

सीतया च समायुक्तं लक्ष्मणेन च सेवितम् ।
निजोपास्यं गुरुं ज्ञात्वा नतः पादारविन्दयोः ॥७०॥

उनके साथ २ श्रीसीता जी तथा श्रीलक्ष्मण भी दिखाई पड़े। इस प्रकार अपने उपास्य देव श्रीराम जी को श्रीनानक के रूप में ही देखकर, वह सश्रद्ध उनके चरणकमलों पर झुक गया ॥७०॥

बिभीषणः —: अहोभाग्यं मदीयं स्यादिष्टदेवस्य दर्शनम्ः ।
दीर्घकाले गते जातं नास्त्यतः सुखमुत्तमम् ॥७१॥

बिभीषण ने कहा, आज मेरे भाग्य का क्या कहना ? जो बहुत समय के बाद अपने इष्टदेव के शुभ-दर्शन हुए हैं । इससे अधिक मेरे लिये आनन्द की और कोई बात नहीं ॥७१॥

प्रभो नो मे वियोगः स्याच्छ्रीमतां पदकञ्जयोः ।
इदं राज्यं विभोऽन्यस्मै किङ्कराय प्रदीयताम् ॥७२॥

हे प्रभो ? अब ऐसी दया करो, कि आपके चरणों का वियोग हो । मुझे आप अपनी पाद-सेवा में रख लीजिए और यह राजपा किसी और सेवक को दे दीजिये ॥७२॥

इदं सर्वं प्रभो दृश्यं दुःखरूपं प्रतीयते ।
विवेकिनस्तदन्यस्य सुखागारं न संशयः ॥७३॥

हे भगवन् ? यह सारा प्रपंचभूत जगत्, विवेकी-मनुष्य को दुःख रूप ही दीखता है । विवेक-हीन लोग ही इसे सुख का मूल समझते हैं ॥७३॥

एकचिन्ता द्वयोश्चिन्ता दशानां कस्यचित् प्रभो ।
सर्वचिन्ताऽस्ति भूपानां कथं तत्र सुखागमः ॥७४॥

किसी दुनियादार को एक (अकेले) की चिन्ता, किसी को दो चिन्ता और किसी को दस की चिन्ता होगी । परन्तु राजा को स की चिन्ता खाये जाती है । फिर सुख की कथा कहां ? ॥७४॥

अन्तकाले यथा चिन्ता तथा जीवगतिर्मता ।
तस्याश्च संयमः कार्यः सर्वदैव मुमुक्षुभिः ॥७५॥

यह तो सत्य-सिद्धांत है कि अन्त समय में जिसकी चिन्ता बनी रहे, उसी भाव को पुनः जीव प्राप्त करता है । इसलिए मोक्षमार्ग के अनुयायियों को चिन्ताओं का त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥७५॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य श्रीमतां पदकञ्जयोः ।
यस्य चिन्ता प्रभो भाग्यं तस्यैव वरमीरितम् ॥७६॥

इसलिए संसार की सभी चिन्ताओं को छोड़ कर, केवल आपके चरणकमलों के निरन्तर-ध्यान की ही चिन्ता जिसे लगी रहे, उसके समान भाग्यवान् कोई नहीं हैं ॥७६॥

श्रीराम उवाच —: श्यामलाङ्गमिदं रूपं ध्यानयोग्यं प्रदर्शितम् ।
पूर्वमद्य मया साधो ज्ञानयोग्यं निरूप्यते ॥७७॥

श्रीराम जी बोले, —: हे प्रिय ? प्रथम तो श्यामवर्ण का यह स्वरूप मैंने ध्यान के अनुकूल दर्शाया है । अब ज्ञान-स्वरूप का निरूपण करता हूं ॥७७॥

सच्चिदाकाररूपं मे पूर्णानन्दस्य विग्रहम् ।
विद्धि सर्वेषु भूतेषु ततो भिन्नं मृषात्मकम् ॥७८॥

सत् चित् आनन्दमय जो मेरा पूर्ण आकार है, वह तो सब प्राणियों में समानभाव से विद्यमान हैं । उससे भिन्न तो सब माया के मिथ्यात्मक भाव हैं ॥७८॥

स्थूलसूक्ष्मजगन्मध्ये वर्तते न निवर्तते ।
इदं रूपं परिज्ञाय जायते न निवर्तते ॥७६॥

वे मायावी रूप तो स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् में आवागमन के चक्कर में घूमते रहते हैं। उनसे निवृत्ति होना कठिन है। परन्तु ज्ञानरूप को जान लेने पर जीव की निवृत्ति हो जाती है। फिर प्रवृत्ति का नाम ही नहीं रह जाता ॥७६॥

कर्मखण्डे भवेद्रामः सीतया सह मायया ।
सत्यखण्डे निराकारः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥८०॥

कर्मयोग के अर्थ तो श्रीराम अपनी माया-सीता के सहित साकार-रूप में प्रकट होते हैं। परन्तु ज्ञानयोग के अर्थ तो वे निर्विकार, विशुद्ध, सच्चिदानन्द-स्वरूप ही कहाते हैं ॥८०॥

शुद्धसत्वप्रधाना या हरेर्मायाभिधीयते ।
सैव सीता तया साकं चेतनं रामलक्षणम् ॥८१॥

श्रीहरि की विशुद्ध-सत्व-स्वरूपा माया ही सीता कहाती हैं और उसके साथ जो चेतन-रूप हैं, सो श्रीराम, जानो ॥८१॥

तया साधो विनिर्मुक्तो निर्गुणा चिद् विधीयते ।
नाममात्रं चितोर्भेदो वस्तुभेदकथा वृथा ॥८२॥

उस माया से रहित, श्री भगवत्सत्ता को ही निर्गुण-चिति-सत्ता भी कहते हैं परन्तु चित्-सत्ता में नाम-मात्र का ही भेद है। वस्तु-पार्थक्य तो उसमें कभी नहीं होता। अर्थात् सगुण-निर्गुण में वस्तु-तत्व एक ही है ॥८२॥

तत्र भक्तिस्त्वया कार्या भेदहीने चिदात्मनि ।
भक्तिरेषैव तत्र स्याद्वैक्यरूपेण चिन्तनम् ॥८३॥

इसलिए अब तुम निर्भेद, चिदात्मा की भक्ति करो। उस परमतत्व की भक्ति-साधना यही है, कि ऐक्य-भाव से सदा उसका चिन्तन किये जाना ॥८३॥

सैवापरोक्षतापन्ना तत्वज्ञानं हि कथ्यते।
तदेवाहङ्ग्रहध्यानं प्रोच्यते ग्रन्थकर्तृभिः ॥८४॥

ऐसी ऐकान्तिक-चिन्तन-भक्ति ही अपरोक्षानुभूति के रूप से फिर तत्वज्ञान में बदल जाती है। उसी का, अहङ्ग्रहोपासना के नाम से भी शास्त्रकारों ने वर्णन किया है ॥८४॥

कृते चैवं मम ध्याने नो वियोगो भविष्यति।
राज्यभोगादिसत्वेऽपि नो क्षति र्जनकादिवत् ॥८५॥

इस प्रकार मेरा निरन्तर ध्यान बना रहने से तुझे मेरे वियोग का कोई हेतु नहीं हो सकता। तुम राजकाज भी करते रहो, तो इसके साधन में कोई कमी नहीं आसकती। राजा जनक प्रभृति साधक इसी कोटि के तत्ववेत्ता थे ॥८५॥

एवमुक्त्वा कृपासिन्धुः पूर्वरूपमनुत्तमम्।
दर्शयामास राजानं प्रेमपूरसमन्वितम् ॥८६॥

परम-कृपालु श्रीराम-स्वरूप में यह सदुपदेश देकर, श्रीनानक ने उसे पुनः प्रथम-रूप (अपना सन्त-रूप) दिखलाया, जो अतिसुन्दर एवं प्रेमभाव में अनुपम था ॥८६॥

दृष्ट्वा च श्रीगुरोः रूपं नतः पादारविन्दयोः।
अहोभाग्यं मदीयं वै सद्गुरोरुपदेशतः ॥८७॥

उन्हें गुरु-रूप में देखकर, वह पुनः उनके चरणकमलों पर गिर गया और कहने लगा, कि आपके दर्शन एवं सदुपदेश, मेरे लिये मूर्तिमान वरदान हो गये ॥८७॥

इष्टेऽप्यनिष्टरूपा या गता भेदमतिश्च सा ।
अतो जाने गुरोःसेवा सर्वस्मादतिरिच्यते ॥८८॥

मुझे अपने इष्टदेव पर, कुच्छ शङ्का-सी बनी रहती थी, जो कि अमङ्गलकारिणी थी। आज वह सर्वथा जाती रही। इससे मैं समझता हूं, कि सत्य ही, सद्गुरु की सेवा सब से बड़ी साधना है ॥८८॥

॥ तीसरा विश्राम समाप्त ॥



अथ चतुर्थो विश्रामः

तत्र वृत्तमिदं जातं गतो देवो हिमालयम् ।
नरनारायणौ दृष्ट्वा गतो मेरुसमीपताम् ॥१॥

चौथा विश्राम प्रारम्भ

तदन्तर ऐसा संयोग हुआ, कि श्रीनानक हिमालय की ओर चले गये। वहां उन्हें श्रीनर-नारायण का साक्षात्कार हुआ और फिर वे सुमेरु (पर्वत) के समीप जा पहुंचे ॥१॥

सिद्धगोष्ठी तदा जाता तत्रैव करुणानिधेः ।
तां च ग्रन्थे कृपां कृत्वा स्वयं सर्वां न्यरूपयत ॥२॥

वहां अनेक सिद्ध-पुरुषों से मिलकर उनकी रहस्य-वार्त्ता हुई। उस गोष्ठी का सारा वृत्तान्त श्रीनानक ने स्वयं 'ग्रन्थ साहिब' में लिख दिया है ॥२॥

दत्तात्रेयावधूतेन कृता गोष्ठी ततः परम् ।
भसुण्डस्याश्रमं गत्वा तेन चर्चां चकार च ॥३॥

उसके बाद श्रीदत्तात्रेय से भी उनकी भेंट हुई थी। फिर वे श्रीकाक-भुसुण्डी के आश्रम पर, उनसे विविधहरि-चर्चा कर, आगे बढ़े ॥३॥

ततो मेरुं समारुह्य दृष्टवन्तः समन्ततः।
पुर्योष्टलोकपालानां तत्र सन्ति दिगष्टके ॥४॥

तब उन्होंने सुमेरु-पर्वत पर चढ़ कर चारों ओर दृष्टि डाली। वहां उन्हें आठ लोक-पालों की आठ पुरियां दिखाई पड़ीं, जो उस पर्वत के आठ भागों (दिशाओं) में प्रतिष्ठित हैं ॥४॥

मध्यभागे पुरी रम्या वर्तते परमेष्ठिनः।
ये च पुण्यकृतो लोकाश्चिरं तत्र वसन्ति ते ॥५॥

उस पर्वत के मध्य प्रदेश में, श्री ब्रह्मा जी की पुरी विद्यमान है। जो कोई पुण्यकर्मा लोग हैं, वे उस दिव्य-स्थान में चिरकाल तक आवास करते हैं ॥५॥

सङ्गियुग्मं परित्यज्य तत्रैव करुणानिधिः।
स्वयं योगप्रभावेन गतो देवः खगोलकम् ॥६॥

तब अपने दोनों साथियों (मर्दाना-बाला) को वहीं पर ठहरा कर, श्रीनानक स्वयं अपने योग-बल से द्यु-लोक में चले गये ॥६॥

तत्र दृष्ट्वा तदा लोकांल्लोकवासिजनानपि।
विनायासं कृपासिन्धुस्ततो विष्णुपुरं गतः ॥७॥

वहां के अनेक स्थान और उनके निवासी-जन-समुदाय को देख-भालकर वे बिना किसी बाधा के, विष्णुपुरी में जा पहुंचे ॥७॥

महाविष्णुं स्वयं दृष्ट्वा सत्यखण्डनिवासिनम् ।
निराकारं च साकारं कृता दण्डसमा नतिः ॥८॥

वहां उन्होंने, सत्यखण्डनिवासी श्रीमन्नारायण के दर्शन किये, जो निराकार एवं साकार रूप में सर्वत्र गीतकीर्ति हैं । श्री विष्णु भगवान् के सम्मुख होते ही, उन्होंने (श्रीनानक ने) दण्डवत् प्रणाम किया ॥८॥

चिरं चैवं नतिं कृत्वा कृतास्तस्य परिक्रमाः ।
सादरेण स्तुतिं कृत्वा कृतं नीराजनं हरेः ॥९॥

बहुत देर तक वे, श्रीभगवान् के सामने दण्डवत् पड़े रहे । फिर उठ कर उनकी परिक्रमाएं कर, बड़े भक्तिभाव से स्तुति करते हुए, आरती उतारने लगे ॥९॥

पात्रमाकाशरूपं स्याद्रविश्चन्द्रश्च दीपकौ ।
तारिकामण्डलं रम्यं तत्र मुक्ताफलात्मकम् ॥१०॥

उनकी आरती के उपकरण भी न्यारे ही थे । आकाश, थाल के रूप में सज्जित था । सूर्य और चन्द्रमा दीपक थे । तारागण, स्वच्छ, मोती बने चमक रहे थे ॥१०॥

मलयादागतो वायुर्धूपं चैव सचामरम् ।
कुरुते वृक्षसंघृष्टो वनराजिश्च पुष्पिता ॥११॥

मलयाचल से प्रवहमान (चन्दन-गन्ध-मिश्रित) पवन ही सुगन्धित धूप बना था और वहां के घने वृक्षों को झुला कर वही चामर-डुला रहा था । तत्स्थानीय वन-पुष्पों के झुण्ड ही पुष्पाञ्जलि-रूप में सादर समर्पित थे ॥११॥

श्रुत्वेत्यादि महोत्कृष्टं स्वीयं नीराजनं हरिः।
प्राह तत्वं यथाभूतं त्वया ज्ञातं मदीयकम् ॥१२॥

श्रीनानक द्वारा की गई, अपनी इस पारमार्थिक-पूजा-स्तुति-आरती आदि को स्वीकार करते हुए, श्री विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा कि तुमने मेरे यथार्थ-रूप को जान लिया है ॥१२॥

नानक त्वं निराकारो भेदलेशकथा वृथा।
इदं तत्वं च गम्भीरं दीयतामुत्तमाय वै ॥१३॥

हे प्रिय, नानक ? तुम भी, निराकार-रूप मेरे ही, अवतार हो। मुझ में और तुझ में कोई भेद नहीं है। परन्तु यह परम-तत्व(ज्ञानदर्शन) अतिगोपनीय विद्या है। इसका उपदेश किसी उत्तम अधिकारी को ही देना ॥१३॥

मया नामोपदेशाय त्वदाकारावलम्बनम्।
कृतं साधो ततश्चेदं कुरु नामोपदेशनम् ॥१४॥

हे प्रिय ? श्रीहरिनाम के सदुपदेश के लिये ही, मैंने तुम्हें इस रूप में संवारा है, अर्थात् मैं स्वयं तेरे रूप में प्रकट हुआ हूं। इसलिए तुम निर्भय होकर, सत्यनाम का उपदेश देते हुए, सर्वत्र विचरण करो ॥१४॥

तारनामोपदेशार्हः कश्चिदेव मिलिष्यति।
त्वां प्रति प्रीतिपात्रं च कलावेतादृशी गतिः ॥१५॥

क्योंकि इस कलियुग में "तारक-मन्त्र" का शिक्षाधिकारी, कोई विरला ही मिलेगा, जो तुझ में अनन्य प्रीति रखता हो। अतः सत्यनाम का सदुपदेश ही, सर्वकल्याणकारी साधन समझे ॥१५॥

नामबीजं कृपातोयं प्रार्थितं भवता द्वयम् ।
एतदग्रे मया दत्तं फलवृक्षो भविष्यति ॥१६॥

नाम-रूप बीज और दया-रूप जल, ये दो पदार्थ ही तुमने मांगे हैं। सो मैंने पूर्व ही तुम्हें दे दिए हैं। अब तो उनका परिणाम, वृक्ष-रूप में फलीभूत होगा ॥१६॥

मद्रदेशेऽस्य मूलं स्याद्विष्णुभक्तितरोश्चिरम् ।
स्थास्यन्ति सर्वदेशेषु स्कन्धशाखा न संशयः ॥१७॥

इस विष्णुभक्तिरूप कल्पवृक्ष का, मूल तो मद्रदेश (पंजाब) में सुदृढ रहेगा और शाखा-प्रशाखाएं, सब देशों में फैलती चली जाएंगी ॥१७॥

यस्य भाले भवेद्भाग्यं फलं मुक्तिमवाप्स्यति ।
पक्षपातं विना साधो क्रियतामुपदेशनम् ॥१८॥

जिस किसी के मस्तक पर भाग्यरेखा फूटेगी, वह इसके फल-रूप मोक्ष को पा सकेगा। इसलिए हे प्रिय ? तुम भेदभाव को भुलाकर सब जगह सत्यनाम का सदुपदेश करते जाओ ॥१८॥

पूर्वजाता भविष्यन्ति वर्तन्ते च मदीयकाः ।
भक्ताः परन्तु ते सन्ति सर्वे चैकैकदेशिनः ॥१९॥

कई पूर्वकालीन मेरे भक्त हो गये, कई होंगे और कई अभी हैं। परन्तु वे सब एकदेशीय हैं, अर्थात् संप्रदाय-गुटों में बंधे पड़े हैं ॥१९॥

जातिदृष्टिं परित्यज्य जन्तुमात्रहितैषिणः ।
सन्ति सन्तः कलौ काले केचिदेव भवादृशाः ॥२०॥

जात-पात के भेदभाव को भुला कर, जीवमात्र का हित चाहने वाले, तुम जैसे सन्त-जन, इस कलियुग में बहुत कम हैं ॥२०॥

गच्छ-गच्छ महाभाग्य पावनीं कुरु मेदिनीम् ।
ततः किंचिद्गते काले मदभिन्नो भविष्यसि ॥२१॥

हे भाग्यशील ? अब तुम जाओ और पृथ्वी पर सब को पवित्र बनाने का प्रयत्न करो। तदनन्तर यथाशीघ्र ही तुम फिर मेरे स्वरूप में ही समा जाओगे ॥२१॥

इदं श्रुत्वा स्तुतिं कृत्वा नतिं कृत्वा पुनः पुनः ।
जगाम श्रीगुरुः सद्यः सन्निधिं रागिबालयोः ॥२२॥

श्रीमन्नारायण की शुभ-आज्ञा पाकर, श्रीनानक ने बारम्बार उनकी स्तुति, प्रणति करते हुए, वहां से लौट कर, मर्दाना और बाल के पास आकर विश्राम किया ॥२२॥

सर्वस्यामपि मेदिन्यामुपदेशाधिकारिणः ।
अभवन्गत्वा च तत्रैव कृतं नामोपदेशनम् ॥२३॥

भू-लोक पर सर्वत्र नाम के अधिकारियों को खोज २ कर, श्रीनानक ने, नाम-दान से मालामाल कर दिया ॥२३॥

मद्रदेशे गतो धीरः शालिवाहनपत्तनम् ।
तत्र मूलेन संवादः सुप्रसिद्धो जगत्यसौ ॥२४॥

जब वे मद्रदेश (पंजाब) के शालिवाहन पुर (स्यालकोट) में आये, तो वहां उनका "मूला" के साथ बड़ा वाद-विवाद हुआ, जो सब को मालूम है ॥२४॥

एमनावादमायातस्ततो लालोर्गृहं गतः ।
सोऽतिशीघ्रं सतो दृष्ट्वा नतः पादारविन्दयोः ॥२५॥

तदनन्तर ने एमनाबाद (गुजरान् बाला के पास) में लालू (सूत्रधर) के घर पधारे । उन्हें आया देख कर लालू की प्रसन्नता की सीमा न रही । वह खुशी से, उनके चरणों पर लोटने लगा ॥२५॥

प्राहभाग्यं प्रशस्तं मे यस्य सद्भिःसमागमः ।
पिपीलिकागृहे जाता यथा नारायणागतिः ॥२६॥

फिर उसने सहर्ष कहा, कि आज मेरा अहोभाग्य है, कि आप जैसे महासन्त की सङ्गति प्राप्त हुई । यह तो ठीक वैसा ही लोकोत्तर-संयोग है, कि जैसे चींटी के घर, श्रीभगवान् स्वयं आ गए हैं ॥२६॥

एवमेतत्प्रभो गेहं पावनं कृतवानसि ।
अद्य साफल्यमायाता दीनबन्ध्वभिधापि ते ॥२७॥

हे प्रभो ? आपने अति-कृपा की, जो शुभागमन से मेरे घर को पवित्र बनाया । वस्तुतः आज ही आपका "दीनबन्धु" नाम भी चरितार्थ हुआ है ॥२७॥

शीघ्रमेव गृहं गत्वा प्राह चासौ निजस्त्रियम् ।
गच्छ हट्टं गृहे साध्वि साधु पिष्टं न विद्यते ॥२८॥

फिर वह घर के अन्दर जाकर अपनी स्त्री से कहने लगा, कि तुम जल्दी से दुकान पर जाओ और बढ़िया खाद्य ले आओ । घर में अच्छी सामग्री नहीं है ॥२८॥

सर्ववेत्ता समाहूय प्राह तं किं विचिन्त्यते ।
वयं तृप्ता भविष्यामो वस्तुना गृहवर्तिना ॥२६॥

तब सर्वान्तर्यामी श्रीनानक ने उसे बुलाकर पूच्छा, कि तुम क्यों चिन्ता में पड़ गये हो । हम तो तुम्हारे घर के साग-सत्तू से ही अपना सन्तोष मानेंगे ॥२६॥

लालुरुवाच —: चारुदुग्धं घृतं चैव वर्तते सकलं प्रभो ।
सर्वमन्यत्समीचीनं कोद्रवान्नं न युज्यते ॥३०॥

लालू बोला :— हे देव ? दूध, घी आदि सब कुच्छ, स्वच्छ यहां विद्यमान है । किन्तु कोद्रव (कोधरा) का अन्न ठीक नहीं है ॥३०॥

श्रीगुरु :—तद्धि युक्तं त्वया ज्ञेयं यत्कृतं निजपाणिना ।
ईदृगन्नप्रभावेन ध्याननिष्ठा प्रवर्धते ॥३१॥

श्रीनानक ने कहा, अरे, वही ठीक है, जो तुमने अपने हाथों से संस्कार कर तैयार किया है । ऐसे विशुद्ध अन्न के सेवन से भगवद्-ध्यान, ज्ञान आदि में अपनी वृत्ति सुस्थिर लगी रहती है ॥३१॥

सत्यं वाक्यं गुरोर्मत्वा घृते पक्त्वा च पूरिकाः ।
अर्पिताः सद्गुरोरग्रे शाकदध्यादि संयुताः ॥३२॥

तब उसने, उनके सत्य-वचन के अनुसार, घरेलू-अन्न से ही, घी में तलकर पूरियां बनवाईं और साग, दही आदि व्यञ्जनों- सहित, भोजनार्थ श्री सद्गुरु के आगे समर्पित कीं ॥३२॥

दृष्ट्वैव सद्गुरुः प्राह सुरभ्यन्नमिदं शुभम् ।
दत्वा च रागिबालाभ्यां भोजनं कृतवानसौ ॥३३॥

सद्यः पक्व, उस स्निग्ध-भोजन को देखकर, श्रीनानक ने प्रसन्नता-पूर्वक कहा, कि हां, यह बहुत अच्छा सात्विक-भोजन है और फिर मर्दाना तथा बाल को बांट कर देने के पश्चात् स्वयं भी उसका भोग लगाया ॥३३॥

शिष्टमन्नं गुरोर्भुक्त्वा स्वयं लालुः प्रफुल्लितः ।
नतिं कृत्वा तदा प्राह श्रीगुरो करुणानिधे ॥३४॥

फिर शेष बचे, गुरु-उच्छिष्ट-भोजन को, लालू ने स्वयं आनन्द से खा लिया और परम-सन्तोष प्राप्त किया। उन्हें सादर प्रणाम कर वह कहने लगा ...॥३४॥

अस्मिन् ग्रामे प्रभो प्रायो दुष्टलोका वसन्ति हि ।
श्रीमतां च स्थितौ सत्यां कल्याणं मे भविष्यति ॥३५॥

हे दयालु, गुरवर ? इस गांव में बहुत-से दुष्ट लोग रहते हैं। अब आप के यहां निवास करने से, अवश्य ही मेरा भला होगा ॥३५॥

ग्रामदोषाश्च नंक्ष्यन्ति श्रीमतां कृपया प्रभो ।
विना दण्डं कथं साधो प्राह श्रुत्वाथ सद्गुरुः ॥३६॥

"हे प्रभो ? आपकी दया-दृष्टि से, इस गांव में होने वाले उपद्रव भी शान्त हो जायेंगे।" उसकी बात सुनकर श्रीनानक ने गम्भीरता से कहा, कि अरे, दण्ड के बिना यह सुधार कैसे होगा ? ॥३६॥

दण्डयोग्या इमे लोकाः सापि वेला समागता ।
येन केन प्रकारेण वांछितं ते भविष्यति ॥३७॥

"हां, ये लोग अवश्य ही दण्ड के योग्य हैं। वह समय भी आया जानो। जिस किसी भी यत्न से तेरा अभिप्राय सिद्ध होगा।" ॥३६॥

तत्रचैको मृषा मानी भागमल्लाभिधः कुधीः ।
तद्देशराजमन्त्री स तद्गृहेऽभून्महोत्सवः ॥३८॥

उस स्थान पर, एक भागमल्ल नाम का महाभिमानी व्यक्ति था। वह वहां के राजा का मन्त्री भी था। एक दिन उसके घर कोई महोत्सव हुआ ॥३८॥

भोजनार्थं समाहूतो गुरुस्तेनाभिमानतः ।
नोगतोऽश्रद्दधानत्वं तस्य बुद्ध्वातिमानिनः ॥३९॥

उसने भी अहङ्कार-वश होकर, श्रीनानक को, भोजनार्थ निमन्त्रित किया। परन्तु उन्होंने उसकी अश्रद्धा और घमण्डता को जानकर, वहां जाने की अनिच्छा प्रकट की ॥३९॥

वृथा कोपं तदा कृत्वा गतः श्रीगुरुसन्निधिम् ।
प्राह देवं कृपासिन्धो किं मदन्नेऽस्ति दूषणम् ॥४०॥

इतने पर वह क्रोधी लाल-पीला होकर, उनके पास पहुंचा और पूछने लगा, कि श्रीमन् ? क्या बात है, मेरे अन्न में क्या दोष देखा है, जो आपने उसे नहीं स्वीकारा ? ॥४०॥

एकहस्तेन तस्यान्नं लालोश्चैव द्वितीयके ।
गृहीत्वेदं वचः श्रुत्वा गुरुदेवो न्यपीडयत् ॥४१॥

श्रीनानक ने, उसकी अभिमान-सनी वाणी सुनी, तो आपने एक

हाथ में उसका और दूसरे हाथ में लालू का अन्न लिया एवं दोनों को पृथक् २ निचोड़ा ॥४१॥

क्रमात्ताभ्यां सभामध्ये रक्त-दुग्धे विनिःसृते ।
प्राह देवस्त्वया साधो कुतो रक्तं प्रदीयते ॥४२॥

तब सब के सामने, क्रमशः उसके अन्न से लहू और लालू के अन्न से दूध की धारा निकल पड़ी । फिर उस अहङ्कारी को देख कर, गुरुदेव ने कहा, कि अरे, भले आदमी ? क्या तुम यही खून हमें अर्पण करना चाहते थे ? ॥४२॥

इदं श्रुत्वा च दृष्ट्वा च क्षितेश्छिद्रमवैक्षत ।
तन्त्राभिज्ञ इति प्रोच्य गतो धाम निजं प्रति ॥४३॥

उनकी सत्य-वाणी सुन कर एवं अपनी आंखों से सब कुछ देखकर वह लज्जा से धरातल पर नजर लगाये खड़ा रहा । तदनन्तर उन्हें तन्त्रकारी, मदारी बतला कर, वहां से चलता बना ॥४३॥

प्राह भक्तं कृपासिन्धु र्गच्छ लालोऽतिदूरतः ।
वयं चात्रैव तिष्ठामो घोरलीला भविष्यति ॥४४॥

तब श्रीनानक ने अपने सेवक लालू से कहा कि भद्र ? तुम कहीं दूर चले जाओ । हम तो यहीं रहेंगे । अब यहां पर भयङ्कर उपद्रव होने वाला है ॥४४॥

इदं श्रुत्वा गतो लालुः समं सर्वस्वबन्धुभिः ।
तान्संस्थाप्य कुत्रापि गतः श्रीगुरुसन्निधिम् ॥४५॥

उनकी आज्ञा मानकर लालू ने अपने बन्धु-जनों को साथ लिया और कहीं दूर, उन्हें सुरक्षित ठहरा कर, स्वयं पुनः श्रीगुरु के चरणों का आश्रय पकड़ा ॥४५॥

पश्चिमाया दिशस्तावद्बावरोऽथ समागतः ।
ग्रामवासी नृपोमूढस्तेन साम चकार नो ॥४६॥

देखते ही देखते, उसी समय पश्चिम की ओर से, आगे बढ़ता हुआ, बावर वहां आ पहुंचा । उस प्रदेश का राजा बड़ा मूर्ख था, जिसने उस विजयी, विदेशी बादशाह से सुलह नहीं की ॥४६॥

तेन चाज्ञा कृता ह्येनं बलाध्यक्ष समानय ।
तेन श्रुत्वा प्रभोर्वाक्यं कृतं स्वामिसमीहितम् ॥४७॥

बावर ने अपने किसी वीर-नर को आज्ञा दी, कि जाओ और यहां के राजा को बांध कर लाओ । वह अपने मालिक की अनुमति से उस गांव में आया और वहां के शासक को पकड़ कर ले चला ॥४७॥

बन्धनेन समानीतो नृपः सेवकसंयुतः ।
मृताः केचिद्रणे वीरा नागता निजमन्दिरम् ॥४८॥

अनेक सेवकों-सहित उस राजा को बांधकर बावर के पास लाया गया । उस आक्रमण में कई वीर-पुरुष हताहत हुऐ, जो फिर अपने घरों को नहीं लौट सके ॥४८॥

नारीणां रोदनं श्रुत्वा पक्षिणोप्यरुदंस्तदा ।
लालु भक्तं निजे ग्रन्थे गुरुणोक्तमिदं बहु ॥४९॥

रणक्षेत्र में मृतपुरुषों की स्त्रियों के करुण-क्रन्दन को सुन कर, वहां के पक्षी-गण भी रो उठे।" श्रीनानक ने, भक्त लालू को सुनाते हुए, ग्रन्थ साहिब में इस घटना का विस्तृत वर्णन किया है ॥४६॥

बन्धनं ये बधं प्राप्ता नरास्तेषां तु योषितः ।
लालुमेवाग्रतः कृत्वा श्रीगुरं शरणं गताः ॥५०॥

उस आक्रमण में जो पुरुष पकड़े अथवा मारे गये, उन सबकी नारियां, लालू को ही आगे लेकर, श्रीगुरु की शरण में आईं ॥५०॥

प्रभो पाहि कृपासिन्धो वयं दीनाश्च दुःखिताः ।
अस्मदीया नरा मूढ़ा नागताः शरणं विभो ॥५१॥

उन्होंने श्रीनानक के आगे रो-रो कर प्रार्थना की, कि हे दीनबन्धु, हमारी रक्षा करो। हम दीन, हीन, मलीन अतएव अति दुखियारी हैं। हमारे पतियों ने वृथा अभिमान में पड़कर आपकी शरण नहीं ली ॥५१॥

तुच्छं लालोर्गृहं ज्ञात्वा द्रव्यजात्यभिमानिनः ।
अद्य मानो गतः सर्वोलेशमात्रं न वर्तते ॥५२॥

हमें यह घमण्ड था, कि लालू तो एक तुच्छ व्यक्ति है और हम बड़े खानदान के हैं। परन्तु हे देव ? आज वह सारा अहङ्कार जाता रहा। अब तो उसका नाम भी शेष नहीं है ॥५२॥

रक्षणीया दयासिन्धो त्वां विना कोऽस्ति रक्षकः ।
इदं प्रोच्य गुरोरग्रे कृतवत्यस्तु रोदनम् ॥५३॥

"इसलिये हे दयालु ? अब हमारी रक्षा करो। आपके सिवाय और कोई हमारा कल्याण नहीं कर सकता।" इस प्रकार अपनी करुण-पुकार सुना कर वे सभी एक साथ पुनः उनके सम्मुख रोने लगीं ॥५३॥

नारीणां रोदनं श्रुत्वा ज्ञात्वा च नरवेदनाम् ।
प्राह तास्तु कृपासिन्धुर्गच्छतैवं भविष्यति ॥५४॥

उन अबलाओं के करुण-क्रन्दन एवं पुरुष-वेदना से द्रवीभूत श्रीनानक ने कहा, कि तुम अपने २ ठिकाने पर लौट जाओ। तुम्हारी सुरक्षा की जाएगी ॥५४॥

श्रीगुरुः— अद्य वाद्यमिदं रागिन् बाबरोरसि वादय
प्राह रागी वचःश्रुत्वा सत्यमेतद्भविष्यति ॥५५॥

श्रीनानक फिर बोलेः— "हे मर्दाना आज तुम अपने वाद्य को, बाबर की छाती पर बजाना।" उनकी आज्ञा सुनकर मर्दाना बोला, श्रीमन् ? ऐसा ही करूंगा' ॥५५॥

अर्धरात्रे गतस्तत्र निजं वाद्यं च वादितम् ।
बाबर व्रज शीघ्रं त्वं श्रीगुरुं चेत्युवाच तम् ॥५६॥

फिर मर्दाना ने आधीरात को बाबर के स्थान (शिविर) पर जाकर अपना वाद्य बजाया और उसे सम्बोधित करते हुए कहा, कि हे बाबर ? यदि तुम अपना भला चाहते हो, तो जल्दी से श्रीनानक की सेवा में हाजिर हो जाओ ॥५६॥

इदं वाद्यरवं श्रुत्वा गतो भीतिमुवाच च ।
कोऽसि कुत्र गुरुस्थानं गच्छाम्येव तदन्तिकम् ॥५६॥

मर्दाना की वाद्य-ध्वनि एवं सम्बोधित-वाणी को सुनकर, भयग्रस्त हुए बाबर ने प्रश्न किया, कि अरे, भाई ? तुम कौन हो, तुम्हारे गुरु कहां हैं, मैं निश्चय ही उनकी सेवा में आना चाहता हूं ।।५७।।

पार्षदोऽहं सतां साधो सतामेव पिशाचकः ।
गुरुस्थानं गृहे लालोरिदं चोक्त्वा समागतः ।।५८।।

"तब मर्दाना ने उससे स्पष्ट कहा, कि मैं श्रीनानक का सेवक हूं और उन्हीं की प्रेरणा से, पिशाच बन कर यहां आया हूं। वे इस समय लालू (सूत्रधर) के घर में विराजमान हैं।" इतनी सूचना देकर वह अपने स्थान पर लौट आया। ।।५८।।

गतायां च निशौ प्रातः श्रीगुरुं शरणं गतः ।
नतिं कृत्वा समासीनो बाबरोभीतमानसः ।।५८।।

वह रात बीती, तो सुबह होते ही भयभीत बाबर श्रीनानक की शरण में आया और प्रणाम कर एक ओर बैठ गया ।।५९।।

नानारत्नसमायुक्तां विजयां सप्तमुष्टिकाम् ।
अर्पयित्वा गुरोरग्रे प्रार्थनां कृतवानसौ ।।६०।।

यथा स्थान अपनी विजय से गर्वित हुए, उसने अनेक प्रकार के रत्नों की सात मुठ्ठियां उनके आगे भेंट कर प्रार्थना की ।।६०।।

दूरदेशात्समायातः सद्गुरुं शरणं गतः ।
बाबरोऽहं मृषा मानी पाहि मां करुणानिधे ।।६१।।

हे गुरुवर ? मैं, बाबर बड़ी दूर से देश-विजय करता २ यहां आया

हूं। अब आपकी शरण में पड़ा हूं। मेरे वृथाअभिमान को भुलाकर, मुझे आप कल्याण-मार्ग पर लगा दीजिए ॥६१॥

श्रीगुरुः —: विजयो मद्भवेदेतत्सूचकं विजयार्पणम् ।
सप्तायुषां च सप्तत्वं सूचकं भो महीपते ॥६२॥

श्रीनानक ने कहा, हे राजन् ? यह विजयोपहार समर्पण कर, तुमने यही कामना की है कि मेरी विजय होती रहे। इसके साथ ही यह भी सुनो, कि सात मुट्ठियां भर रत्नों की यह भेंट सूचना देती हैं, कि तुम्हारे सात- पुरुषों तक शासनाधिकार, यहां बना रहेगा ॥६२॥

वांछितं ते भवेत्सर्वं तदा बाधा भविष्यति ।
ममावज्ञां करिष्यन्ति यदा साधो त्वदीयकाः ॥६३॥

सो, तुम्हारी कामना पूरी होगी। परन्तु याद रखना, कि जब तुम्हारे अनुयायी, हमारी अवहेलना करेंगे, तब तुम्हारे राज्य में बाधाएं अने लगेंगी ॥६३॥

एतद्देशगता नीतिर्यदा त्यक्ता भविष्यति ।
तदा साधो त्वदीयानां राज्यभङ्गो भविष्यति ॥६४॥

हमारे (भारत) देश की नीति को त्याग कर, जब तुम्हारे अनुगामी लोग, अपनी मनमानी कार्यवाही करेंगे, तब जान लेना कि उनका राज्य समाप्त होने चला है ॥६४॥

यथा जीवं विना देहः पुष्करं पयसा विना ।
तथा नीतिं विना राजा जीवन्नपि न जीवति ॥६५॥

कारण कि, जैसे जीव के बिना शरीर, जल से हीन सरोवर किसी काम के नहीं। वैसे ही नीति से शून्य राजा, जिन्दा रह कर भी मुर्दा ही समझा जाता है ॥६५॥

एतद्ग्रामगता लोकास्त्वया बद्धा विमुंच तान् ।
इदं श्रुत्वा तदा शीघ्रं गुरुवाक्याद्विमोचिताः ॥६६॥

"और सुनो, तुमने इस गांव के कुच्छ लोगों को कैद कर रक्खा है। सो, उन्हें जल्दी ही रिहा कर दो।" यह सुन कर उसने उनकी आज्ञानुसार तत्क्षण ही सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया ॥६६॥

गुरोराज्ञां तदा नीत्वा नतिं कृत्वा पुनः पुनः ।
भालभाग्यं शुभं मत्वा निजस्थानं जगाम सः ॥६७॥

तब बावर ने बारम्बार उनकी वन्दना करते हुए विदा मांगी और अपने भाग्य को सराहते हुए, वहां से अपने आवास की ओर प्रस्थान किया ॥६७॥

ग्रामलोका गते तस्मिन् श्रीगुरुं शरणं गताः ।
साधुचित्ताश्च ते जाताः सत्यनामोपदेशिनः ॥६८॥

उसके वहां से चले जाने के वाद, सभी ग्रामनिवासी, श्रीगुरु की शरण में आये और अपने को साधु-स्वभाव का पात्र बना कर, सत्यनाम के उपदेश से सार्थक कर लिया ॥६८॥

तत्र वृत्तमिदं जातं गतः स्वसृगृहं तदा ।
सत्यनामोपदेशेन मोहसस्या जहार सः ॥६९॥

उसके बाद ऐसा संयोग हुआ, कि श्रीनानक, अपनी बहिन नानकी के घर पधारे। वहां उसे सत्यनाम का उपदेश देकर मोह-माया से ऊपर ऊठा दिया ॥६९॥

जन्मस्थानं गता धीरा बालकूपे स्थितास्तदा।
इदं श्रुत्वा पितायातो रोदनं कृतवानसौ ॥७०॥

फिर वे अपनी जन्मभूमि में आये और "बाल-कुआं" के पास आसन लगाया। यह समाचार पाकर उनके पिता, वहां दौड़े आये और मोहवश रोने लगे ॥७०॥

प्राह देवी बिषादोऽयं क्रियते भवता मृषा।
मृषा माता पिता पुत्रः कति जाता भवार्णवे ॥७१॥

उन्हें रोते देख कर, श्रीनानक ने कहा, कि आप क्यों इस प्रकार दुःख पा रहे हैं। ज्ञान-दृष्टि से देखिये, तो ये सब माता, पिता, पुत्र आदि के सम्बन्ध मिथ्या हैं। इस तरह के क्षणिक सम्बन्ध, न जाने इस संसार-सागर में कितने होते आये हैं ॥७१॥

वर्तमाने निजाद्देहाज्जन्तुजातं हि जायते।
तत्र मोहोऽपि कर्तव्यो जनैः साम्यात्स्वतः पितः।

हे पूज्यवर ? अपने इस वर्तमान शरीर से भी कितने ही जीव पैदा होते रहते हैं। तो अपनेपन के भाव से, उनमें भी लोगों को मोह करना चाहिए ॥७२॥

जनाः प्रत्युत कुर्वन्ति तत्र द्वेषं समन्ततः।
अतो मिथ्या महामायाकृतं सर्वंविचिन्तयेत् ॥७३॥

परन्तु होता सर्वथा इसके विपरीत हैं, कि सभी जीवधारी उन जन्तुओं (जूं प्रभृति) से घृणा करते हैं। इससे स्पष्ट है, कि ये सारे सांसारिक-सम्बन्ध, माया-कृत होने से सर्वथा मिथ्यात्मक ही हैं ॥७३॥

भारतेष्वेवमेवोक्ता पितृपुत्रकथा शुभा ।
श्रूयतां मोक्षसिद्ध्यर्थं मोक्षधर्मेषु विद्यते ॥६८॥

महाभारत में भी इस तरह की "पिता-पुत्र" की एक कथा आई है। मोक्षरूप परम कल्याण की प्राप्ति के लिये, उसे सुन लीजिये। क्योंकि वह कथा, मोक्ष-धर्म-प्रकरण में ही सुनाई गई है ॥७४॥

युधिष्ठिर उवाच —: अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७५॥

युधिष्ठिर ने पूछा,—: हे पितामह जी ? अब आगे जो समय आनेवाला है, वह तो बड़ा बिकट-संकटों से भरा हुआ है। ऐसे घोर समय में, प्राणियों का कल्याणकारी कौन मार्ग है, सो कृपा कर आप समझा दीजिए ॥७५॥

भीष्म उवाच —: अत्रात्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥७६॥

श्री भीष्म ने कहा, हे युधिष्ठिर, इस विषय पर एक पुराना इतिहास हैं, जिसमें पिता-पुत्र का संवाद-रूप शिक्षाध्याय है। तुम सावधान होकर उसे सुनो ॥७६॥

द्विजातेः कस्यचित्पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नामतो मतः ॥७७॥

एक था ब्राह्मण, जो सदा अपने शास्त्राभ्यास में लगा रहता था। उसका एक मेधावी नाम का पुत्र था। तीव्र-बुद्धि का होने से ही उसका नाम मेधावी रखा गया था ॥७७॥

सोऽब्रवीत्पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम्।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥७८॥

मोक्षमार्ग का अनुगामी, अतएव असार-संसार का संविचारक वह एक दिन शास्त्रपारङ्गत अपने पिता से पूछने लगा ... ... ॥७८॥

पुत्र उवाच-: धीरः किंस्वित्तातकुर्यात्प्रजानन् क्षिप्रंह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥७९॥

पुत्र ने कहा, —: हे पिता जी, मनुष्यों की आयु जल्दी २ समाप्त होती जाती है। इस बात को जानकर विचारवान् साधक क्या करे? आप मुझे क्रमानुसार सत्य-सिद्धांत समझाईये, जिसे जान कर मैं स्वधर्म का सत्य-आचरण कर सकूं ॥७९॥

पितोवाच —: वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येणपुत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितृणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥८०॥

पिता ने कहा —: द्विज-मात्र को ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन, गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पादन एवं अग्न्याधानपूर्वक यज्ञानुष्ठान, वानप्रस्थाश्रम में वन-गमन और तदनन्तर संन्यासाश्रम में वेदान्त-विचार से, मुनि-वृत्ति का आश्रयण करना ही शास्त्रमर्यादा है। इससे क्रमशः देव, पितर और ऋषियों का ऋण-भुगतान होकर, अपना सन्मार्ग निष्कण्टक हो जाता है ॥८०॥

पुत्र उवाच — एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥८१॥

पुत्र ने पुनः कहा, —: हे धर्माचार्य, इस प्रकार चारों ओर से संहत एवं घिरे हुए संसार में, जहां कि भीषण-आघात हो रहे हैं, आप यह कैसी धीरता का प्रदर्शन कर रहे हैं। अर्थात् यह लम्बा क्रम क्यों अपना रहे हैं ॥८१॥

पितोवाच —: कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥८२॥

पिता फिर बोला —: अरे, कैसे संसार का संहार हुआ-जा रहा है, किसने इसे चारों ओर से आबद्ध कर रक्खा है, क्या यहां आघात-प्रत्माघात हो रहे हैं, तुम यह सब स्पष्ट करो। वरन् केवल बिभीषिका मत फैलाओ ॥८२॥

पुत्र उवाच —: मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥८३॥

पुत्र फिर बोला —: आर्य, मृत्यु से जगत् विनष्ट हो रहा है। बुढ़ापे ने इसे सब ओर से आक्रांत किया है। दिन-रात-रूप आघात नित्यं प्रति हो रहे हैं, तो आप इनसे सावधान क्यों नहीं हो जाते ॥८३॥

यदाहमेतज्जानामि न मृत्यु स्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चिरम् ॥८४॥

अतः जब मुझे पता चल गया, कि मृत्यु कभी विश्राम नहीं लेती, तो फिर मैं ज्ञान-रूप कवच को पहने बिना, क्यों प्रतीक्षा में बैठा रहूं ॥८४॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा ।
तथैव वन्ध्यं दिवसमिति विन्द्याद्विचक्षणः ॥८५॥

जैसे हर एक रात के व्यतीत होने पर आयु भी क्षीण होती जाती है, वैसे ही प्रतिदिन के समाप्त होने पर भी आयु का भाग कम पड़ जाता है। बुद्धिमान् को इस विषय में सदा जागरूक रहना चाहिये ॥८५॥

गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥८६॥

जिस प्रकार अगाध-जल में पड़ी मच्छली भी, अकाल में ही मृत्यु के गाल में चली जाती है। उसी प्रकार अपने मनोरथों को सफल किए बिना ही, मनुष्य भी मृत्यु का शिकार बन जाता है। तब इस नश्वर जगत् में सुख की आशा कौन करे ॥८६॥

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् ।
वृकीवेरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥८७॥

यह विकराल काल, काम्य-कर्म रूप फूलों को, चुनने में नस्त अत एव अन्य-मनस्क मनुष्यों को, वैसे ही पकड़ लेता है, कि जैसे भयङ्कर भेड़िया, वन में खुशी से चलते-फिरते वन-पशुओं को बलपूर्वक दबोच लेता है ॥८७॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मत्वा कालोत्यगादयम् ।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै संप्रकर्षति ॥८८॥

बेकार समय बीत न जाये, इसलिए आज ही, जो कोई श्रेष्ठ कर्म बन सके, उसे कर लेना उचित है। क्योंकि दीर्घकालीन सोचविचार में

तो अपने कर्म अधूरे ही रह जाते हैं और मृत्यु अपना दाव लगा जाती है ॥८८॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥८६॥

कल का काम आज और सायं का काम सुबह ही कर लेना ठीक है। क्योंकि मृत्यु यह नहीं सोचती, कि किसने क्या किया और क्या नहीं ॥८६॥

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥६०॥

यह कौन कह सकता है कि आज अमुक व्यक्ति की मृत्यु होगी। इसलिये युवा अर्थात् जब होश आ जाये, तभी से धर्मपरायण हो जाना चाहिए। क्योंकि इस जीवन की कोई गारन्टी नहीं है ॥६०॥

मोहेन हि समाविष्ठः पुत्रदारार्थमुद्यतः ।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥६१॥

मनुष्य वृथा मोह में फंस कर, पुत्र-स्त्री आदि की चिन्ता में जलता रहता है और कर्म-अकर्म से कमाई कर, उनकी परवरिश में लगा रहता है ॥६१॥

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति ॥६२॥

परन्तु अन्त में पुत्ररूप पशुओं से घिरे हुए एवं नानाक्रियाओं में

संसक्त हुए, उस मनुष्य को मृत्यु, ठीक वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, कि जैसे सोये पड़े मृग को, बाघ पकड़ कर खा जाता है ॥६२॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥६३॥

अभागा मानव अपने मनोरथों को पूरा करने में ही लगा रहता है। परन्तु उसकी तृप्ति हुए विना ही, मृत्यु आकर उसे पकड़ लेती है। जैसे कि वन-जीवों को, बाघ दबोच लेता हैं ॥६३॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥६४॥

"यह काम कर लिया, वह करना है, फिर अमुक २ कर्म पूरे करूंगा, यों लम्बी-योजना में व्यस्त हुए मनुष्य को, अनायास ही काल अपने आधीन कर लेता है ॥६४॥

कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम् ।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादय गच्छति ॥६५॥

अपने किये हुए कर्मों का पूरा फलभोग किये बिना ही कभी २, भूमि, दुकान, मकान आदि की व्यवस्था में लगे हुए, मनुष्य को मृत्यु पकड़ लेती है ॥६५॥

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम् ।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ॥६६॥

कमज़ोर, ताकतवर, शूरवीर, डरपोक, मूर्ख, विद्वान्, कोई भी हो, सब के कर्म-फल अधूरे ही रहते हैं। परन्तु मृत्यु उन सभी को समाप्त कर देती है ॥९६॥

मृत्यु र्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥९७॥

मृत्यु, वृद्धता, रोग, दुःख, शोक आदि अनेक शत्रु इस शरीर से लिपट पड़ते हैं, तो फिर ऐसी दशा में आप स्वस्थ होकर बैठना कैसे स्वीकार कर सकते हैं ॥९७॥

जातमेवान्तकोन्ताय जराचान्वेति देहिनम् ।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥९८॥

जन्मते ही मनुष्य के पीच्छे काल लगा रहता है। वृद्धता उसे आगे होकर घेर लेती है। चराचर जगत् के सभी भाव, इन दोनों से पिण्ड नहीं छुड़ा सकते ॥९८॥

मृत्योर्वामुखमेतद्वै या ग्रामे वसतो रतिः ।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ॥९९॥

गृह-गांव आदि में रहने की जो प्रीति हैं, उसे साक्षात् मृत्यु का मुख जानिए। जो वन में वास करना है, उसे देवताओं की गोष्ठी समझिए। ऐसा वैदिक उपदेश है ॥९९॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्वैनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥१००॥

गृह-ग्राम आदि में निवास की आसक्ति तो बन्धनकारी महारज्जु (रस्सी) है। पुण्यकर्मा लोग इसे काट कर, वन में आवास करते हैं और कुकर्मी-जन इसी में बंधे पड़े रहते हैं ॥१००॥

न हिंसयति यो जन्तून्मनोवाक्कायहेतुभिः ।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभि र्न स हिंस्यते ॥१०१॥

जो मनुष्य मन, वाणी और कर्म से कभी किसी जीव की हिंसा नहीं करता, उसे वे हिंसक-प्राणी भी नहीं मारते, जो जीवन और अर्थ-साधनों को समाप्त करने में सदा समर्थ होते हैं ॥१०१॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत्त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥१०२॥

जब मृत्यु की सेना सामने आ जाती हैं, तो उसे और कोई नहीं रोक सकता, सिवाय एक सत्य के। अतः असत्य का परित्याग तथा सत्य का सर्वदा संसेवन करना परमावश्यक है। सत्य में ही अमृतत्व टिका हुआ है ॥१०२॥

तस्मात्सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदादान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥१०३॥

इस हेतु से मनुष्य सत्यव्रत, सत्यपरायण, सत्यान्वेषक, सत्यशान्त होकर सत्य से ही मृत्यु को जीत सकता है ॥१०३॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥१०४॥

अमृतत्व और संविनाश, दोनों इस शरीर से सटे हुए हैं। परन्तु मोह से मृत्यु और सत्य से अमरता प्राप्त होती हैं ॥१०४॥

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥१०५॥

इसलिए मैं सर्वथा अहिंसक, सत्यान्वेषी, काम-क्रोध से अछूता, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में एकरस, कल्याणकामी होकर मृत्यु को जीतूंगा और अमरत्व को प्राप्त करूंगा ॥१०५॥

शान्तियज्ञरतोदान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ।
वाङ्मनः कर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने ॥१०६॥

अब मैं निवृत्तिमार्ग का उपासक, शान्त, सदाशुद्ध, उपनिषत्तत्व का चिन्तक, प्रणवाभ्यासी, संयमी, पवित्राचार होकर देवयानपथ का यात्री बनूंगा ॥१०६॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥१०७॥

मेरे जैसा सत्य-साधक भला, पशुबलिसंप्रयुक्त-यज्ञों का अनुष्ठान कैसे कर सकता है। कोई भी विचारवान् व्यक्ति राक्षस - वृत्ति के एवं नष्ट-फलवाले क्षत्र-यज्ञों को करना पसन्द नहीं कर सकता ॥१०७॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥१०८॥

जिस मनस्वी साधक के वाणी और मन स्वायत्त हैं, तप, त्याग और सत्य पर आधारित-चरित्र प्रशस्त हैं, वह सब-प्रकार के प्रेय और श्रेय को प्राप्त कर लेता है ॥१०८॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥१०९॥

विद्या (ज्ञान) ही दिव्य-नेत्र, सत्य ही परमतप, राग आसक्ति, ही महादुःख और त्याग ही सर्वसुखकर होता है ॥१०९॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा ।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा ॥११०॥

मैं अपने आप में आत्मा से ही संभूत हूं । आत्मा में ही संप्रतिष्ठित हूं । सन्तान आदि की, मुझे कोई अपेक्षा नहीं । मैं आत्माराम होकर ही आनन्द मनाऊंगा । पुत्र-पौत्र प्रभृति प्रजा मुझे कभी पार नहीं पहुंचा सकती ॥११०॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥१११॥

एकता, समता, सत्यता, सुशीलावस्था, दण्ड-स्थानीयनिपुणता, सरलता और एक के पश्चात् दूसरी क्रिया में उपराम (वैराग्य) प्राप्त करना, बस, इन से बढ़ कर ब्राह्मणों (विद्वानों) की, कोई और उत्तम-सम्पत्ति नहीं होती ॥१११॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते किं ते दारै ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहस्ते क्वगतः पिता च ॥११२॥

हे विप्रवर्य ? तुम्हें, धन, वन्धु, नारी आदि विनश्वर पदार्थों से क्या लाभ हो सकता है ? ये तो सब क्षण-भङ्गुर हैं। अतः अपने आत्मा की खोज करो, जो अन्तर्मुखी गुहा (गुप्त स्थान) में छिपा बैठा है। अरे, जरा विचार तो करो, कि तेरे दादा, पिता आदि, अपने कहलाने वाले लोग कहां चले गये ? ॥११२॥

भीष्म उवाच :— पुत्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत्पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥११३॥

श्री भीष्म जी ने कहा, हे धर्मराज, अपने ज्ञानवान् पुत्र की उपर्युक्त बातों को सुन कर, कर्मकाण्डी पिता ने जैसा-जैसा कार्य-क्रम मनोनीत किया, उसी तरह तुम भी सत्य-साधक होकर श्रेयोमार्ग का अनुसरण करो ॥११३॥

श्री गुरुरुवाच —: तथा तात त्वया कार्यं मृषा पुत्रादिबान्धवाः।
भ्रान्तिकाले प्रतीयन्ते यथा स्वाप्नगजादयः ॥११४॥

श्री नानक बोले :— हे पिता जी, आप भी ऐसी ज्ञान-धारणा को अपनाईये। पुत्र, कलत्र आदि के बन्धु-भाव, सब मिथ्यात्मक हैं। केवल भ्रम-काल में ही इनकी प्रतीति होती है, जैसे कि सुपनों में हाथी-घोड़े आदि का साक्षात् होता है ॥११४॥

वाक्यजातमिदं श्रुत्वा शान्तचित्तो बभूव सः।
प्राह देवं कृपासिन्धो गम्यतां निजमन्दिरम् ॥११५॥

श्री नानक की यह ज्ञान चर्चा सुन कर, श्री कल्याण वेदी को कुछ

शांति प्राप्त हुई। तब उन्होंने पुनः आग्रह किया कि हे साधु, अपने घर पर पधारने की तो कृपा करो ॥११५॥

इदं श्रुत्वा गतो धीरो मातरं सन्ददर्श ह।
सातिसाध्वी गुरोर्माता सुतं दृष्ट्वा प्रफुल्लिता ॥११६॥

उनकी यह बात मान कर, श्रीनानक अपने घर में आये और अपनी माता का दर्शन पाया। वह तपस्विनी मां, अपने सन्त-पुत्र को देख कर फूली न समाई ॥११६॥

कुर्वतश्च नतिं सूनोरुत्तमाङ्गं चुचुम्ब सा।
नेत्रनीरप्रवाहेण तं सिषेच पुनः पुनः ॥११७॥

वृद्धा-माता ने, चरण-वन्दना करते हुए श्रीनानक के मस्तक को चूमा और स्नेहाश्रुओं की भावमयी धाराओं से वारम्बार उसे अभिषिक्त किया ॥११७॥

प्राह देवं च मां त्यक्त्वा पुत्र कुत्र गतश्चिरम्।
तीर्थसेवादिकात्तात मातृसेवा गरीयसी ॥११८॥

फिर आनन्दमयी जननी ने पूछा, हे बेटा, तूं मुझे छोड़ कर, इतने दिनों तक कहां घूमता फिरा? अरे, तीर्थयात्रा आदि सत्कर्मों से, माता-पिता की सेवा करना बहुत बड़ा पवित्र-कार्य होता है ॥११८॥

मातृदेवो भवेत्यादि श्रुतिः प्राह तथैव हि।
अतो दूरे न गन्तव्यं स्थीयतां च मदन्तिके ॥११९॥

वेद भगवान् की स्पष्ट आज्ञा है, कि माता को सर्वदेवतामयी जानो। पिता को सदा सत्कार-मति से देखो। इसलिये जो हुआ, सो हुआ अब तुम हमें त्याग कर कहीं दूर मत जाना। बस, यहां हमारे पास ही रहना ठीक है ॥११९॥

श्री गुरुरुवाच —: एकस्थाने द्वयं लब्ध्वा स्वयं तृप्ते न तृप्यसि।
इमौ बालौ सुपात्रेस्तस्तव सेवां करिष्यतः ॥१२०॥

श्रीनानक ने सुनाया —: माता ? मुझ एक के बदले में दो (पौत्रों) को पाकर भी तुम संतुष्ट नहीं हुईं ? अरी, बावरी, अपने तृप्ता नाम को तो सार्थक करो। मैं सत्य कहता हूं, कि ये दोनों बालक सत्पात्र हैं और निश्चय ही तुम्हारी सेवा में तत्पर रहेंगे ॥१२०॥

नापि पुत्रैर्धनैर्वापि नापिदानैर्न चेज्यया।
हरेर्भक्ति विना मातर्गतिश्चास्य भविष्यति ॥१२१॥

हे माता ? पुत्र, धन, दान, यज्ञ आदि किसी भी सहायक-साधन से जीव की सद्गति नहीं हो सकती। उसका तो एकमात्र उपाय यही है, कि सदा प्राणपन से प्रभु की भक्ति का सहारा लिया जाए ॥१२१॥

हरेर्भक्तिः सतां सेवा यत्र मातः प्रवर्तते।
तत्र सांख्यस्य योगस्य मोक्षहेतो रवस्थितिः ॥१२२॥

श्री हरि की भक्ति और साधुओं की सेवा, ये दोनों जहां समुचित-रीति से विद्यमान हैं, वहां सांख्य, योग आदि मोक्ष के साधनों का स्वयमेव आविर्भाव हो जाता है ॥१२२॥

तृप्तोवाच :— कीदृशं भक्तिरूपं स्यात्सांख्ययोगौ च कीदृशौ।
कथं मोक्षस्य हे तुत्वं ब्रूहि में सांख्ययोगयो: ॥१२३॥

तृप्ता देवी ने पूच्छा —: भक्ति का स्वरूप क्या है, सांख्य, योग किसे कहते हैं, वे दोनों किस प्रकार मुक्ति के साधन हैं, यह सब रहस्य मुझे समझा कर कहो ? ॥१२३॥

श्रीगुरुरुवाच—: बाह्यभोगोपरामेण गुणानां विषयारतौ।
सत्वाकारा मनो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥१२४॥

श्रीनानक ने कहा —: बाहिर के सब भोगों से पराङ्मुख होकर, सब विषयों से वैराग्य-संधारण कर, जो मन की सत्वप्रधाना, अन्तर्मुखी वृत्ति हो जाती है, उसे ही भक्ति कहा जाता है ॥१२४॥

अष्टौ प्रकृतयो ज्ञेया विकारा द्विगुणास्तथा।
जडान्येतानि तत्वानि चेतन: पुरुषो द्विधा ॥१२५॥

आठ प्रकार की प्रकृति होती है। विकार सोलह कहे गये हैं। ये चौवीस तत्व, जड़ रूप ही होते हैं। चेतन, जो पुरुष है, सो, दो प्रकार का कहा गया है ॥१२५॥

पंचविंशतितत्वानां सम्यग्ज्ञानं यदीरितम्।
तत्वसंख्याप्रसाध्यत्वात्सांख्यमित्यभिधीयते ॥१२६॥

इन पच्चीस तत्वों का (जड़-चेतन-रूप) भलीभांति ज्ञान प्राप्त करने में सहायक अतएव तत्वों की संख्या का संविधायक होने से ही एक शास्त्र "सांख्य" नाम से प्रसिद्ध हैं ॥१२६॥

विवेकज्ञानरूपत्वात्तस्य तस्मान्निजात्मनि ।
पराभेदावगाहि स्याद् ज्ञानं मोक्षस्य साधनम् ॥१२७॥

उसके विवेक एवं ज्ञानरूप से क्रमशः स्वात्मा में अभेदरूप ज्ञान का उदय होने से ही, यह यथार्थ-ज्ञान, मोक्ष का साधन बन जाता है ॥१२७॥

योगश्चित्तस्य वृत्तीनामनुत्यादोऽभिधीयते ।
प्रमाणादिस्वरूपास्ताः पंचयोगैः प्रकीर्तिताः ॥१२८॥

चित्त की वृत्तियों का स्वाधिकार में रहना ही, वास्तविक-योग है। प्रमाण आदि रूपों से, वे पांच प्रकार के योगभेदों में कही गई हैं ॥१२८॥

सात्विकेतरवृत्तीनां संप्रज्ञाते निरोधनम् ।
वृत्तिमात्रनिरोधः स्यादसंप्रज्ञातनामके ॥१२९॥

सत्व-वृत्ति को छोड़ कर, शेष सब वृत्तियों (राजस-तामस) का संप्रज्ञात-योग-समाधि में निरोध किया जाता है। परन्तु असंप्रज्ञात-योग-समाधि में तो, सभी वृत्तियों का निरोध किया जाता है ॥१२९॥

सगुणाकारवृत्तीनां भक्तिज्ञथैकतानता ।
निर्गुणाकारवृत्तीनां निदिध्यासनमुच्यते ॥१३०॥

वृत्तियां (सात्विक), जब सगुण-आकार में संस्फुटित हों, तो ऐकान्तिक-भक्ति की साधना बनती है और जब वे निर्गुण-आकार में परिलक्षित हों, तो निदिध्यासन का उपाय आरम्भ हो जाता है ॥१३०॥

ततो ज्ञानं ततो मोक्षस्ततोभिन्नं मृषात्मकम् ।
ब्रह्मरूपः स एव स्यात् सच्चिदानन्दविग्रहः ॥१३१॥

निदिध्यासन से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष होता है । उससे भिन्न, सब मिथ्यात्मक है । जीव ही उपर्युक्त-साधन से ब्रह्मरूप, सच्चिदानन्द-मय बन जाता है ॥१३१॥

इयं भक्ति रिदं सांख्यमयं योगोऽभिधीयते ।
तत्प्रयुक्तश्च मोक्षोऽयं यत्र प्रश्नस्त्वदीयकः ॥१३२॥

संक्षेप से यहाँ भक्ति, सांख्य, योग आदि का निरूपण किया गया है । उन सब का परिणाम, जो मोक्ष है, उसका भी संप्रदर्शन हो गया है, जिस के लिए तुम्हारा मूल प्रश्न था ॥१३२॥

दृढा भक्तिस्त्वया कार्या हरौ मातर्निरन्तरम् ।
पारंपर्येण कैवल्यं तथाभूता करिष्यति ॥१३३॥

हे माता, तुम दृढ़ता से श्री हरि की भक्ति करो । वही भक्ति यथाक्रम, परमपद मोक्ष की सिद्धि का सत्य-हेतु बन जाएगी ॥१३३॥

चतुर्धा मोक्षहेतुः स्यात्साक्षान्नैवात्र संशयः ।
भक्तश्रद्धानुसारेण तारतम्यं फले स्थितम् ॥१३४॥

भक्ति-मार्ग, चार प्रकार से ही मुक्ति का आदान करवाता है । इसमें कोई शङ्का नहीं । भक्त की श्रद्धा के अनुसार फल में, यह तारतम्य (दशा-भेद) आया करता है ॥१३४॥

हरेःरूपं त्वया चिन्त्यं मातरापादमस्तकम् ।
चिन्त्यमानं तदेव स्यात्सर्वकल्याणकारणम् ॥१३५॥

हे माता, तुम श्रीमन्नारायण के श्रीविग्रह का, चरणों से लेकर शीर्ष तक, पूरा चिन्तन (ध्यान) किया करो। यही अनन्य-विचार, तेरे लिये सर्वविध-कल्याणकारी सिद्ध होगा ॥१३५॥

मातरं स्वां यदेवोक्तं कपिलेन महर्षिणा ।
त्वां तदेव प्रवक्ष्यामि हरे ध्यानमनुत्तमम् ॥१३६॥

श्री कपिलमुनि ने अपनी माता को, श्री विष्णु भगवान् का, जैसा ध्यान-योग्य स्वरूप बतलाया था, वैसा ही तुम्हें मैं भी समझा रहा हूं ॥१३६॥

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शंखचक्रगदाधरम् ॥१३७॥

श्री हरि का मुख-कमल सदा प्रसन्न है। सुन्दर नेत्र लाल-कमल के मध्य-भाग की तरह अरुण हैं। दिव्य-देह नील-कमल की कान्ति को प्रकटा रहा है। चारों-कर कमलों में क्रमश : शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभा पा रहे है ॥१३७॥

लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसम्भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥१३८॥

तन पर प्रफुल्ल-कमल के केसर (मध्यवर्ती पीत-अङ्कुर) के समान पीला, रेशमी वसन शोभायमान है। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स नाम का

चिन्ह परिलक्षित हो रहा है। गले में कौस्तुभ-मणिवाली माला चमक रही है ॥१३८॥

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्घ्यहारवलयकिरीटांगदनूपुरम् ॥१३९॥

उसके साथ ही, सुगन्धित-वन पुष्पों का हार भी लहरा रहा है, जिस पर मस्त-भौंरों की मधुर-झंकार हो रही है। अनमोल हार, कङ्कण, मुकुट, बाजूबन्द, नूपुर आदि आभूषण, अङ्ग-प्रत्यङ्गों में यथास्थान शोभित हैं ॥१३९॥

कांचीगुणोल्लसच्छ्रोणि हृदयाम्भोजविष्ठरम् ।
दर्शनीयतमं शांतं मनोनयनवर्धनम् ॥१४०॥

कमर पर स्वर्ण-मेखला, झिल-मिला रही है। वे प्रभु सदा भक्तों के हृदय-कमल पर विराजमान रहते हैं। परम-दर्शनीय अतएव मन और नयनों को लुभाने वाले हैं ॥१४०॥

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥१४०॥

वे सर्वाङ्ग-सुन्दर, सत्य-सनातन एवं सब के नमस्कार योग्य हैं। अपने सेवकों पर विशेष-कृपा करने की दृष्टि से ही बाल-स्वरूप को संवारे हुए हैं ॥१४०॥

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥१४२॥

वे सदा पवित्र-कीर्ति की निधि हैं। पुण्य-दर्शन और भाग्य-वर्धन हैं। इस प्रकार सर्वगुणोपेत श्री प्रभु के श्री विग्रह को, ध्यान का आधार बनाना चाहिए, जब तक कि अपना मन द्रवीभूत न हो जाये ॥१४२॥

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीये हितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥१४३॥

संस्थित, चलते बैठते, सोते अथवा अन्तर्गुहा (हृदयावास) में संप्रवेश करते हुए, उस प्रिय-दर्शन, लीलाधर को, विशुद्धभाव-युक्तचित्त से ध्यान में बिठाना चाहिये ॥१४३॥

इत्यादिना सुतेनोक्तं कृतं ध्यानं तदीयया।
यथा मात्रा तथा मातस्त्वया कार्यं निजश्रिये ॥१४४॥

इस प्रकार अपने अलौकिक-पुत्र (श्री कपिलदेव) से, श्रीहरि का ध्येय-स्वरूप सुनकर, उनकी माता (देवहूति) ने जैसा आचरण (तदनुरूप) किया था, हे जननी ? तुम भी उसी तरह मुझ से संप्रोक्त रीति से, श्री प्रभु का ध्यान, भक्ति-श्रद्धा-युक्त होकर करो। इसी से तुम्हारा परमहित होगा ॥१४४॥

इति श्रुत्वा गता तृप्तिं तत्परैव बभूव सा।
गुरोर्माता गुरोश्चित्तं निजानन्दपदं गतम् ॥१४५॥

श्रीनानक का यह सदुपदेश सुन कर, उनकी माता को सन्तोष हुआ और उसी के अनुसार वह श्री प्रभु की भक्ति-योग-साधना में लग गई। तब श्रीनानक का चित्त भी स्वानन्दावस्था में चिर-मग्न हो गया ॥१४५॥

॥ चौथा विश्राम समाप्त ॥



अथ पंचमो विश्रामः

किंचित् काले गते चैवं प्राह रागी गुरूत्तमम् ।
सर्वयात्रा प्रभो जाता मक्कयात्रैव शिष्यते ॥१॥

पांचवां विश्राम प्रारम्भ

इसके बाद एक दिन मर्दाना ने, श्रीनानक से निवेदन किया कि हे गुरुवर ? प्रायः और सभी धर्मस्थानों की यात्रा हो चुकी है। किन्तु अभी मक्का की ओर जाना शेष हैं ॥१॥

स्यात्सापीति वचः प्रोच्य रागिणा पाकपट्टनम् ।
गतस्तत्र नदीतीरे जंगले स्थितवानसौ ॥२॥

चलो, यह भी हो जाये, यों कह कर श्रीनानक, मर्दाना को साथ लेकर, पाक-पत्तन (मिण्ट गुमरी) की ओर गये और जंगल में, नदी-तीए पर ही कहीं ठहर गये ॥२॥

तत्र शेख फरीदस्य पूज्यपीठे प्रतिष्ठितः ।
शेख ब्राह्माभिधानोभूच्छिष्यसंघैः समावृतः ॥३॥

वहां एक ओर 'शेख फरीद' के समाधि-मन्दिर में, 'शेख ब्राह्म' नाम का एक संत (फकीर) अपने शिष्यों सहित रहता था ॥३॥

सेवकस्तस्य कान्तारमिन्धनादानहेतवे ।
आगतः श्रीगुरोर्वाक्यं तत्र श्रुत्वा विमोहितः ॥४॥

उस फकीर का कोई सेवक, लकड़ी लेने को उस जंगल में गया। वहां उसने श्रीनानक की अद्भुत-वाणी सुनी, तो वह बेचारा मोह में पड़ गया ॥४॥

पट्टिकापि स्वयं देवो लेखिनी तत्र लेखनम् ।
अतश्चैकं स्मरेद्धीरो द्वितीये किं प्रयोजनम् ॥५॥

श्रीनानक, प्रसंग-वश कह रहे थे, कि परमेश्वर, स्वयं पट्टी (आपे पट्टी...) स्वयं लेखनी और स्वयं लेख का विषय भी बन जाते हैं। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिये, कि एक सर्वेश्वर का ही सदा चिन्तन बना रहे। दूसरे किसी भाव की क्या चिन्ता पड़ी है ? ॥५॥

इति श्रुत्वा गतः स्थानं स्वगुरुं तन्न्यवेदयत् ।
सोपि श्रुत्वा गतो मोहमेकता नहि युज्यते ॥६॥

श्रीनानक की यह अभेद-वाणी सुन कर वह सेवक, अपने गुरु (फकीर) के पास गया और सारी सुनी हुई बात उसे सुना बैठा। यह सुन कर वह गुरु भी मोहित हो गया, कि एकता (अभेद) कैसे सम्भव है ? ॥६॥

इवं ज्ञात्वा गतो धीरः श्रीगुरोः पादसन्निधिम् ।
दर्शनं स्पर्शनं कृत्वा शान्तचित्तो बभूव सः ॥७॥

कुछ सोच-विचार कर वह (गुरु) स्वयं श्रीनानक के पास गया और उनका दर्शन तथा स्पर्शन पाकर स्वस्थचित्त हो रहा ॥७॥

स्वागतं च तदा पृष्ट्वा निजम्भाग्यं शशंस च ।
अद्य यातः पवित्रत्वं देशोयमित्युवाच च ॥८॥

फिर उसने श्रीनानक के शुभागमन की सराहना करते हुए अपने भाग्य को भी सराहा और कहा कि आज आपके पदार्पण से यह प्रदेश भी पवित्र हो गया है ॥८॥

प्रभो चैकं श्रुतं वाक्यं श्रीमुखाम्बुनसम्भवम् ।
अधिष्ठानं तथा कल्प्यं कल्पनं च त्वमेव हि ॥९॥

तदनन्तर उसने प्रश्न उठाया, कि हे भगवन् ? आपके श्रीमुख से एक वचन सुना है, कि आधार, आधेय और साधन, सब तुम्हीं (जीव-आत्मा) हो ॥९॥

अत्र सत्वंचितः प्रोक्तं द्वितीयं नरशृङ्गवत् ।
सकलस्य प्रतीतत्वादैक्यसंभावना कुतः ॥१०॥

यहां सत्व-संपन्नता तो केवल चिति-सत्ता में ही कही गई है । दूसरा (कलप्य-कल्पना) तो आदमी के सींगों की न्याईं सर्वथा परिकल्पित (मिथ्या) ही हैं । यही रीति सर्वत्र प्रतीत होने से इनकी (चेतन-जड़ की) एकता कैसे हो सकती है ? ॥१०

नैवं चेत्-त्वया वाच्यं स्वप्नमुख्यभिचारतः ।
नेह नानेतिवादेन तथा प्रोक्तं न चान्यथा ॥११॥

श्रीनानक ने कहा, कि नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वप्नदशा में व्यभिचार दोष की आपत्ति होती है। वेदान्तवाक्यों ने तो निर्विवाद कह दिया है, कि एक ही ब्रह्म है। उसमें नानात्व (भेद) का दर्शन, अज्ञान का कारण है। सो यह सिद्धांत त्रिकाल-सत्य है ॥११॥

शेख :— विनाध्यात्रादिभेन कथं ध्यानं विधीयते।
एकस्य निर्विकल्पस्व ब्रूहि मे करुणानिधे ॥१२॥

शेख ने फिर कहा,:— हे कृपालु, एक निर्विकल्प-परमतत्व का फिर ध्याता के भेद बिना, ध्यान-रूप कैसे चिन्तित हो सकेगा, यह सब आप स्पष्ट कहें ॥१२॥

श्रीगुरु:— साधु प्रोक्तं त्वया साधो कल्पितः सोपि वर्तते।
ध्यानकाले प्रमाकाले ज्ञानिनो नो प्रतीयते ॥१३॥

श्रीनानक बोले, हे प्रिय ? तुम्हारा प्रश्न उचित है, किन्तु इसमें रहस्य यह है, कि यह भेद, कल्पना मात्र ही है। इसकी कल्पना ध्यान-काल तक सीमित है। प्रमाकाल में ज्ञानी को कोई भेद नहीं रह जाता ॥१३॥

शेख :— ज्ञानरूपं कृपासिन्धो कीदृशं कुत्र जायते।
तस्य ज्ञेयं च वक्तव्यं फलं भेदोभिधीयताम् ॥१४॥

शेख ने पूछा, हे दयामूर्ते ? कृपा कर ज्ञान का स्वरूप, स्थिति, ज्ञेयभाव और फल, भेद सहित वर्णन कीजिए ॥१४॥

श्रीगुरु :— ज्ञानं च मतभेदेन बुधैरुक्तमनेकधा।
तत्रसिद्धान्तरीत्यैव द्विधा बोधोभिधीयते ॥१५॥

श्रीनानक ने कहा, यद्यपि मत-मतान्तरों से ज्ञान के अनेक भेद कहे गये हैं, परन्तु निश्चिततथ्य-रूप से, उसके दो ही रूप हैं, जो बोध-हेतु नाम से भी स्पष्ट होते हैं ॥१५॥

निजानन्दमयं नित्यं ब्रह्म सत्यं चिदात्मकम् ।
इत्याकारो गुरोर्वक्त्राच्छाब्दबोधः परोक्षधीः ॥१६॥

ब्रह्म, सदा आनन्दरूप, सनातन, चिदाकारमय है, इस प्रकार गुरु-मुख से श्रवण कर, जो शाब्दबोध होता है, उसे परोक्ष-धी (परोक्ष-ज्ञान) कहते हैं ॥१६॥

तदभ्यासप्रभावेन जायतेऽप्यपरोक्षधीः ।
सैव तु मोहनाशे स्यात्तमोनाशे यथा रविः ॥१६॥

उसी के मनन, निदिध्यासन के दृढ़-अभ्यास से अपरोक्षधी (अभेद-ज्ञान) की अवस्था प्राप्त होती है, जो सर्वथा मोह-नाश होने पर ही सिद्ध होती है । जैसे कि अन्धकार के पूर्ण-विनाश होने पर ही सूर्य-नारायण का शुभ-दर्शन होना सम्भव है ॥१७॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनेत्यादिवाक्यतः ॥१८॥

ज्ञान के समान पवित्र, अन्य कोई मार्ग नहीं है । वह, योगसाधना के द्वारा यथा समय स्वयं सत्साधक को प्राप्त हो सकता है, इत्यादि वचनों से...॥१८॥

उक्तम्भगवता ह्येवं श्रुतौ सैव विधीयते ।
जायते तत्र विज्ञानं यत्र भक्तिस्तु सद्गुरोः ॥१६॥

श्री कृष्ण भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है। वेद भी ऐसा ही सत्य-बोध कहते हैं। प्रायः जिस भक्त पर सद्गुरु की कृपा हो जाये, उसे सद्यः विशेष रूप से ज्ञान का लाभ हो जाता है ॥१९॥

तस्य ज्ञेया चिति नित्या निजानन्दपरात्मिका।
ततोभिन्नं न विज्ञेयं वस्तुमात्रं विवेकिना ॥२०॥

ज्ञानकाण्ड का यही चरम-सिद्धांत है, कि एक चेतन सत्ता ही स्वयं नित्य, निजान्दरूप, विभु, व्यापक, सर्वत्र ओतप्रोत है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं ॥२०॥

दुःखहानिः सुखावाप्तिः फलं द्वे [illegible] प्रकीर्तितम्।
तच्च ज्ञेयस्वरूपं स्याप्ततोऽद्वैतं न हीयते ॥२१॥

त्रिविध दुःखों का संविनाश और परमसुख का लाभ, ज्ञान के फल-विशेष हैं। ज्ञेय-स्वरूपता भी इसी में आ जाती है, कि जिससे स्वात्मा को जान लेने पर द्वैतका भाव नहीं रह जाता। अद्वैत ही सर्वत्र प्रकाश में आ जाता है ॥२१॥

हरेर्भक्तिर्गुरोर्भक्तिर्यत्र मैत्र्यादि वर्तते।
श्रवणं तत्र विज्ञेयं मननं तत्र जायते ॥२२॥

श्रीहरि और सद्गुरु की भक्ति एवं मैत्री, करुणा, मुदिता आदि सात्विक-भावनाएं, जहां, (व्यक्ति में) विद्यमान हैं, वहां श्रवण-मनन प्रभृति, ज्ञान के पूर्व-समुपकरण स्वयं प्रतिष्ठित हो जाते हैं ॥२२॥

तत्र ध्यानं चिदाकारं निराकारं प्रवर्तते।
तत्रैव ज्ञानविज्ञाने न चान्यत्रेति मे मतिः ॥२३॥

वहीं पर चिन्मात्र निराकार ब्रह्म की ध्यान-विधि भी परिस्फुरित हो जाती है। ज्ञान-विज्ञान रूप आध्यात्मिक-प्रसाद का भी वहां प्रादुर्भाव हो जाता है। जो अन्यत्र (भक्ति-शून्यता में) नहीं पाये जाते। बस, यही मेरा अनुभव-पूर्ण मत है ॥२३॥

शेखः—: यत्र भक्तेर्न लेशोऽस्ति नापि मैत्र्यादिभावना ।
वयं ब्रह्मेतिवक्तारः सतां निन्दापरायणाः ॥२४॥

शेख बोला, —: जिनमें भक्ति का लेशमात्र नहीं, मैत्री आदि भावनाओं का अभाव, संतों की निन्दा करने की प्रवृत्ति है, किन्तु फिर भी 'हम ब्रह्म हैं' ऐसा हठवाद बना है......॥२४॥

गुणातीता वयं विज्ञा इमेऽविज्ञा उपासकाः ।
एवं वदन्ति ये तेषु गुरो किं सम्प्रवर्तते ॥२५॥

...हम ही त्रिगुणों से अच्छूत, ज्ञानी हैं और शेष सभी उपासक (भक्त) अज्ञानी हैं, ऐसा गर्वभाव भरा रहता है, हे सद्‌गुरु ? उनको क्या समझना चाहिये ॥२५॥

श्रीगुरु :— तादृशा भक्तिहीना ये शिश्नोदरपरायणाः ।
इष्टनिन्दापरा ये स्युस्तेषु दण्डः प्रवर्तते ॥२६॥

श्रीनानक ने सुनाया, हे भद्र ? इस प्रकार भक्तिविहीन, भोग-विलास में आसक्त, ईश्वर, गुरु आदि इष्ट-पुरुषों के द्वेषी, नाम मात्र के ज्ञानीअभिमानी-प्राणी तो सर्वथा दण्डयोग्य हैं ॥२६॥

तेषु वृष्टि नं कर्तव्या पशुप्रायेषु जन्तुषु ।
स्वस्य कल्याणसिद्ध्यर्थं मोक्षमार्गोपसेविना ॥२७॥

मुक्ति-साधकों को ऐसे कपट-पटुओं से सदा दूर रहना अच्छा है। वे तो पशु-तुल्य अतएव हीनजीव हैं, जिससे उनकी आडम्बरभरी रीति भी सदा हेय ही है ॥२७॥

हरेर्भक्तिः सतां सेवा दया भूतेष्वलोलता ।
मौनिता सत्यवादो वा द्वेषरागविहीनता ॥२८॥

श्रीप्रभु की भक्ति, सन्तों की सेवा, जीवों पर दया, लोभहीनता, वाणी का संयम, सत्यप्रियता, राग-द्वेष से शून्यता...॥२८॥

चित्तशुद्धिकरा ह्येते गुणाः प्रोक्ता महर्षिभिः ।
शुद्धसत्वे विवेकाद्याः प्रवर्तन्ते स्वभावतः ॥२९॥

इत्यादि उदात्त-भाव, चित्त की शुद्धि-कारण आवश्यक अपनाने-योग्य हैं। क्योंकि सत्व-शुद्धि होने से, विवेक-ज्ञान आदि मुक्ति के सब साधन स्वभाववश वहां सन्नद्ध रहते हैं। यही तत्वदर्शी-महापुरुषों का उपदेश है ॥१९॥

इत्याचारविहीनानां वृथा ज्ञानप्रतीक्षणम् ।
तस्माद्भक्तिस्त्वया कार्या स्वतोऽभिन्ने परेश्वरे ॥३०॥

इस आचार-विचार से विपरीत-व्यवहार-सेवियों की ज्ञानवार्ता निष्फल होती है। इसलिए तुम सदा अपने से अभिन्न-परमेश्वर की भक्ति-उपासना करो ॥३०॥

यतश्चोक्तं श्रुतौ साधो भयं भेदप्रदर्शिनः ।
स्मरणीयस्ततश्चैको द्वितीये किं प्रयोजनम् ॥३१॥

श्रुति भगवती ने भी स्पष्ट घोषणा की है, कि भेद-दर्शी को सदा भय बना रहता है। इसलिए एक परम-तत्त्व का ही नित्य, निरन्तर अनन्य-चिन्तन करना अभयङ्कर है। दुई को अपनाने से कोई लाभ नहीं ॥३१॥

शेख :—: अहोभाग्यमहोभाग्यं कृत्यलेशो न शिष्यते ।
अद्य जातं प्रभोऽस्माकं वृद्धशेखस्य दर्शनम् ॥३२॥

शेख ने कहा, —: आज हमारे भाग्योदय का क्या कहना ? अब कोई कर्म-विशेष नहीं बचा। क्योंकि आप सरीखे ज्ञानवृद्ध शेख (फकीर) के शुभ-दर्शन एवं सत्य-वचन प्राप्त हो गये ॥३२॥

शेखस्थाने च गन्तव्यं शिष्टाचारस्य हेतवे ।
पावनत्वं गमिष्यन्ति तेऽपि देशाः समन्ततः ॥३३॥

हे सन्तवर ? आप कृपा कर अब शेख (फरीद) के स्थान पर पधारें और शिष्टाचार के अनुसार स्वागत-सत्कार स्वीकारें। आपके पदार्पण से वह स्थान भी चारों ओर से शुद्ध-बुद्ध हो जायेगा ॥३३॥

इदं श्रुत्वा गतस्तत्र श्रीगुरुः करुणानिधिः ।
उच्चसिंहासनं दत्वा पूजनं कृतवानसौ ॥३४॥

शेख ब्राह्म (बहराम) की साग्रह एवं सानुरोध प्रार्थना पर, श्रीनानक वहां गये। शेख ने एक ऊंचे आसन पर, उन्हें बिठा कर, भलीभांति

सेवा, मान, पूजा आदि से सत्कारा ॥३४॥

तत्र वृत्तमिदं जातं गतश्चोच्चपुरं गुरुः ।
सय्यदोऽ जलालाख्यस्तत्र मानी प्रतिष्ठितः ॥३५॥

तदनन्तर प्रसंगवश वे "उच्चपुर" में चले गये। वहां "सैय्यद जलालउद्दीन' नाम का एक मानी, सुशिक्षित, जिज्ञासु, मुसलमान रहता था ॥३५॥

शिक्षयित्वा सुपात्रं तं मुलतानं समागतः ।
पूज्यैः पात्रं पयःपूर्णं प्रेषितं तन्निवासिभिः ॥३६॥

उसे अच्छी तरह उपदेश देकर श्रीनानक मुलतान में आ गए। वहां के निवासी जिज्ञासु-जनों ने, उनकी सिद्धि-परीक्षा के लिये, दूध का भरा एक पात्र, उनके पास भेज दिया ॥३६॥

तत्र पुष्पं च विन्यस्य प्रेषितं पूज्यसन्निधौ ।
तेर्दिव्यैस्तदा ज्ञातं तैरयं पुरुषोत्तमः ॥३७॥

श्रीनानक ने उस पात्र को फूलों से भर कर (दूध की जगह फूल बना कर) वापिस उन लोगों के पास पहुंचा दिया। तब उनकी तृप्ति हुई और वे सब जान गये कि वस्तुतः यह (श्रीनानक) एक दिव्य-पुरुष हैं ॥३७॥

उपहारैः समायुक्तः पूज्यसंघः समागतः ।
धर्मसस्य शुभस्थाने तेषां गोष्ठी बभूव ह ॥३८॥

फिर वे जिज्ञासु-साधक, नानाप्रकार के भेंट-पदार्थ लेकर, श्रीनानक के पास आये। तब संत 'शंभत' के पवित्र स्थान पर उनकी, उनसे मिलकर धार्मिक-आध्यात्मिक सभा हुई ॥३८॥

प्रश्नश्चैकः कृतःपूज्यैः किं करोति हरिः स्वयम् ।
रिक्तं करोति पूर्णं स पूर्णंरिक्तं करोति हि ॥३९॥

उन जिज्ञासु यवन-भक्तों में किसी एक ने उनसे (श्रीनानक से) प्रश्न किया, कि 'महात्मन् ? यह तो बताईये, कि श्री हरि (खुदा) स्वयं क्या काम करते हैं ?' श्रीनानक ने तत्क्षण उत्तर दिया, कि भाई ? श्रीप्रभु तो पल भर में राजा को रंक और भिखारी को सम्राट् बना देते हैं ॥३९॥

पूज्यस्य सेवकत्वं च सेवकस्य च पूज्यताम् ।
इदं सर्वं स्वयं कृत्वा न करोतीत्युवाच तान् ॥४०॥

सर्वसमर्थ श्री परमेश्वर, स्वामी को सेवक और सेवक को मालिक (स्वामी) भी बना देते हैं। परन्तु यह सब कुछ करने पर भी वे अकर्ता ही बने रहते हैं ॥४०॥

पूज्या :—: नैर्घृण्यं विषमत्वं च दूषण द्वयमागतम् ।
वारणीयं कृपासिन्धो हरौ विश्वप्रपालके ॥४०॥

उन जिज्ञासुओं ने कहा, हे दयालु, इस तरह तो श्री भगवान् भी घृणा और विषमता के दूषणों से युक्त माने जाएंगे। सो, विश्वबन्धु श्री परमेश्वर में इनका अभाव कैसे सिद्ध हुआ ? ॥४१॥

श्रीगुरु :—: मालभाग्यं समालोच्य प्रकरोति न चान्यथा ।
यथा भाग्यं तथा कृत्वा दोषसङ्गी नजायते ॥४२॥

श्रीनानक ने कहा, श्रीमन्नारायण तो प्रत्येक जीव की मस्तकरेखाओं (भाग्य) को देख-सुनकर ही, तदुपयुक्त योग्य-पद का आदान-प्रदान करते हैं। अतः जिसका जैसा दैव (भाग्य) वैसा उसका फल, इस निष्पक्ष-दृष्टि से, सफल-कर्ता वे अकर्ता ही हैं। किसी प्रकार भी उन पर दोषारोपण नहीं हो सकता ॥४२॥

पृज्या :—: विनोद्देश्यं प्रभो कोऽपि कार्यकर्ता न दृश्यते ।
आप्तकामस्य चेशस्य विद्यते किं प्रयोजनम् ॥४३॥

वादी-वृन्द ने पुनः सिर उठाया, कि हे साधो ? प्रयोजन के बिना तो कोई भी कुछ नहीं करता। परन्तु सदा तृप्त परमेश्वर को किसी प्रकार की एषणा न होने पर, फिर इन क्रियायों के साधन में अपना क्या उद्देश्य है ? ॥४३॥

श्रीगुरु :— सत्यमेतद्विनोद्देश्यं कर्तृता नहि युज्यते ।
ब्रह्मनिष्ठा तथाप्येषा विद्यते हि विलक्षणा ॥४४॥

श्रीनानक बोले —: निःसन्देह कर्ता को किसी न किसी प्रयोजन की सिद्धि अभीष्ट होती हैं। परन्तु यह न्याय लोक-व्यवहार में ही वर्ता जाता है। ब्रह्म-निष्ठा (परमेश्वर-सत्ता) में इससे अधिक विलक्षणता रहती है ॥४४॥

सक्तियुक्ता सर्वेजीवे साभिलाषा च वर्तते ।
ब्रह्मनिष्ठा ततोभिन्ना तत्र सूर्यनिदर्शनम् ॥४५॥

जीवमात्र में आसक्ति-युक्त कामना रहती है। परन्तु ब्रह्म में ऐसा स्वार्थ नहीं होता। श्रीसूर्यनारायण उसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अर्थात् वे प्रकाम ही सर्वप्रकाशक हैं ॥४५॥

ज्ञात्वाचैतादृशं रूपं स्मर्यतां हरिरुत्तमः।
पूज्यताद्यभिमानस्य परित्यागो हि युज्यते ॥४६॥

इसलिए श्री प्रभु के विलक्षण एवं सर्वशक्तिसम्पन्न-स्वरूप को जान कर, सदा अचल-वृत्ति से उसका ही चिन्तन करना ठीक है। पूज्यता, मान्यता आदि अपने मोहमय-अभिमान को वर्जना भी आवश्यक है ॥४६॥

इदं श्रुत्वा गताः सर्वे श्रीगुरं शरणं परम्।
स्थू दृष्ट्या वयं पूज्याः प्राहुरेनमिदं वचः ॥४७॥

श्रीनानक के सारगर्भ उपदेश को सुन कर, वे सभी जिज्ञासु, उनकी कृपामयी शरण में आगये और नम्रता से कहने लगे कि श्रीमन् ? हम तो केवल नाम के पूज्य हैं। आप धन्य हैं ॥४७॥

तत्र वृत्तमिदं जातं श्रीगुरुः पश्चिमां दिशम्।
जगाम रागिणा सार्धं स्थितो देशेऽपि कुत्रचित् ॥४८॥

तदनन्तर ऐसा संयोग हुआ कि श्रीनानक मर्दाना को साथ लेकर, पश्चिम की ओर चले गए और आगे जाकर कहीं उधर के किसी देश में विश्राम करने लगे ॥४८॥

रामतालविधानेन स्वरं श्रुत्वात्र यात्रिणः।
अन्तिके श्रीगुरोर्याता दर्शनेन विमोहिताः ॥४९॥

यहां मर्दाना ने खूब मन लगा कर भक्ति-गीत गाये। उस े स्वर-ताल-पूर्ण और प्रभावकारी-शब्द-संपन्न-राग को सुन कर अनेक यात्री लोग (मक्का-यात्री) श्रीनानक के पास आगये और उनके दर्शन कर, मन्त्र-मुग्ध से हो गए ॥४६॥

रागशान्तौ कृतः प्रश्नः कुत्र यात्रा भविष्यति।
भवतां यत्र तत्रैव कथंचैतद्भविष्यति ॥५०॥

राग समाप्त होने पर उन यात्रियों ने पूछा, कि आप की इच्छा, कहां जाने की हैं? मर्दाना ने कहा, जहां आप लोग जाना चाहते हैं। उन लोगों ने उत्तर दिया, कि यह कैसे होगा ॥५०॥

बिना मन्त्रस्य पाठेन पोतारूढिर्नजायते।
गतौ केन प्रकारेण भवेत्तत्रातिदुर्वंदशा ॥५१॥

क्योंकि मन्त्रपाठ (मुसलमानी ढंग का कलमा वगैरह) के बिना तो जहाज (जलयान) पर सवार होना ही असम्भव है। यदि किसी भी उपाय से स्थान मिल भी गया, तो वहां (मक्का में) प्रवेश पाना, आपकी मानहानि का ही एक मात्र कारण होगा ॥५१॥

इदं श्रुत्वा वचो रागी प्राह सर्वैस्तु गम्यताम्।
स्वयं सिद्धिमतां धीरा भवेद्यात्रा विलक्षणा ॥५२॥

उन लोगों की भेद-वाद की वाणी को सुनकर मर्दाना ने कहा कि बन्धुओं? आप सब लोग तो वहां चले चलिए। हमारे गुरु महाराज, जो कि स्वयंसिद्ध महात्मा हैं, उनकी यात्रा भी अतिविचित्र होगी ॥५२॥

इदं श्रुत्वा गताःसर्वे प्राह देवोऽथ रागिणम् ।
गम्यतां मक्कदेशं भो भवेन्नेत्रनिमीलनम् ॥५३॥

मर्दाना के स्वाभाविक प्रत्युत्तर को सुन कर, वे सब मक्का के यात्री अपने रास्ते पर अग्रेसर हुए। तब श्रीनानक ने उसे कहा कि, अभी अपनी आंखें बन्द करो, तो देख लो कि तुम कैसे मक्का में पहुंचे हुए हो ? ॥५३॥

तथा कृत्वागतस्तत्र प्राह वेदिवरश्च तम् ।
दर्शनीयं त्वया साधो मक्कमन्दिरमीदृशम् ॥५४॥

श्रीनानक की आज्ञा पाते ही मर्दाना ने अपनी आंखें बन्द कीं। तभी वह मक्का में, उनके साथ २ आ टिका। फिर श्रीनानक ने उसे समझाया कि जाकर देखो, कि यह मक्का का मन्दिर कैसा है ॥५४॥

प्रणम्य श्री गुरोः पादौ गतो दृष्ट्वा च मन्दिरम् ।
महाहर्षेण संयुक्तो नर्तनं कृतवानसौ ॥५५॥

श्रीनानक के चरण छूकर वह उठा और मन्दिर-देखने लगा। वहां की गतिविधि को देखते ही वह उच्छल पड़ा और प्रसन्नता से नाचने लगा ॥५५॥

अर्धरात्रे शयीत्तत्र गुरु मन्दिरसन्निधौ ।
मन्दिरं यत्र तत्रैव कृतौ पादौ विपश्चिता ॥५६॥

आधीरात के समय श्रीनानक, उस मन्दिर के पास ही सो गये। संयोगवश उनके पैर उधर ही पड़ गये, कि जिस ओर वह मन्दिर था ॥५६॥

रात्रिशेषे च तत्रस्था उत्थिता मन्दकपूजकाः ।
मार्जनीं च करे कृत्वा मार्जकोऽपि समागतः ॥५६॥

प्रभात होने से कुछ पूर्व ही वहां के पुजारी लोग जागे और झाड़ू लगाने वाला कोई सेवक, हाथ में झाड़ू थामे हुए वहां आया ॥५६॥

गुरुं विलोक्य कोपेन प्रोद्यता तेन मार्जनी ।
स्तब्धहस्तो बभूवासौ पूजकाश्च समागताः ॥५७॥

उसने वहां सोये पड़े श्रीनानक को देखा, तो बिना जाने पहचाने ही, झाड़ूवाले हाथ को ऊपर उठाकर, उन पर प्रहार करने की कुचेष्टा की। क्योंकि वह क्रोध से अन्धा हो गया था। परन्तु उसका वह अपराधी हाथ ज्यों का त्यों, ऊपर की ओर ठूंठ-सा खड़ा रह गया और फिर पुजारी लोग वहां इकट्ठे हो गये ॥५८॥

तेऽपि चक्रुः प्रहारांश्च पात्रकाष्ठसमन्विताः ।
योऽकरोत्तस्य वै मूर्धाभिद्यतात्र न संशयः ॥५६॥

उन मूढ़-पूजकों ने भी धर्मान्धता से, बर्तन लकड़ी आदि जो भी उनके हाथ लगा, उसी से उन पर ताड़ना आरम्भ की। किन्तु जिस २ ने जैसा २ प्रहार किया, सो २ उसी २ के कपाल को फोड़ने लगा ॥५६॥

तत्रकैश्चिज्जनैरुक्तं पुरुषोऽयं विलक्षणः ।
कस्त्वङ्कुत आगतिर्जाता कुत्र पादौ प्रसारितौ ॥६०॥

यह देखकर उनमें कुछ सयाने मनुष्यों ने कहा, कि यह तो कोई निराला मानव है। फिर पूछने लगे कि, अरे भाई, तुम कौन और कहां

से आये हो ? देखो तो भला, तुमने किस ओर अपने पैर फैला रक्खे हैं ? ॥६०॥

ब्रह्मपीठमिदं साधो ज्ञायते भवता न किम् ।
चक्रवर्तिजनैः सर्वैः क्रियते चात्र वन्दनम् ॥६१॥

क्यों, भले आदमी ? यह स्थान एक विश्व-विख्यात ब्रह्म-पीठ (खुदा का घर) हैं। तुम्हें इसकी खबर नहीं है, क्या ? अरे, यहां पर तो बड़े २ बादशाह भी आकर बन्दगी करते हैं ॥६१॥

श्रीगुरुः—दूरादेव समायातः श्रान्तदेहोभवाम्रि च ।
पादन्यासोभवेत्तत्र यत्र मक्को न विद्यते ॥६२॥

श्रीनानक ने कहा,—अरे भाई, मैं बड़ी दूर से आया अत-एव बहुत थका हुआ हूं। तुम्हीं लोग मेरे पैरों को घुमा दो, कि जिधर तुम्हारा मक्का-मन्दिर नहीं है ॥६२॥

कम्पितैस्तैस्तथा श्रुत्वा घृतौ पादौ सहस्तकौ ।
यत्र पादौ गतौ मक्कस्तत्र दृष्ट्वा च विस्मिताः ॥६३॥

सब कांपते हुए उन लोगों ने श्रीनानक को हाथ-पांव की ओर से पकड़ा और इधर-उधर घुमा कर जमीन पर रखने की कोशिश की। किन्तु आश्चर्य यह हुआ कि जिस दिशा में वे उनके पैरों को घुमा-फिरा कर रखते, उसी ओर उनका माना मक्का-पीठ भी घूम जाता। यह सब देखकर उन्हें अभूतपूर्व चमत्कार नजर आया और वे सब हैरान हो गए ॥६३॥

ईश्वरो मूर्तिमानेषः प्रलयोऽतो भविष्यति ।
तस्य व्यक्ति विना धीराश्चालयेत्कोऽपि मन्दिरम् ॥६४॥

यह अलौकिक सामर्थ्य देख कर वे घबरा कर, परस्पर कहने लगे, कि ओह यह तो कोई परमेश्वर का ही अवतार नजर आता है । क्योंकि एक सर्वेश्वर की सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कौन व्यक्ति इस मक्का-पीठ को दायें-बाएं घुमा-फिरा सकता है ?' अतः लगता है कि यह प्रलय मचा देगा ॥६४॥

इति संचिन्त्य गताःसर्वे श्रीगुरुं शरणं तदा ।
अज्ञैर्ध्येय कृतावज्ञा क्षम्यतां करुणानिधे ॥६५॥

इस प्रकार आपस में सोच विचार कर, उन में कुछ सयाने लोग श्रीनानक की शरण में आकर गिड़गिड़ाने लगे, कि हे कृपालु, अज्ञानवश कुछ मूर्खों ने आपकी अवहेलना की है, सो आप सब क्षमा करें ॥६५॥

श्रीगुरुः—:पूजका यत्र वर्तन्ते तत्र चैतादृशी गतिः ।
सर्वदेशेषु संदृष्टा नैव नव्यात्र वर्तते ॥६६॥

श्रीनानक ने कहा, अरे, प्रायः सर्व धर्मस्थानों के पुजारी-लोग ऐसे ही धर्मध्वजी बन गये हैं । केवल तुम्हारे यहां ही यह नया अबोध-व्यवहार नहीं है ॥६६॥

महादानाद्युपादानं तत्र हेतुः प्रतीयते ।
तत्कदापि न कर्तव्यं मोक्षमार्गोपसेविना ॥६७॥

मैं समझता हूं कि दान-कुदान आदि के संग्रह से ही इन लोगों

की बुद्धि मन्द पड़ गई है। परन्तु मोक्ष-साधकों को सदा अन्न-दोष प्रकृति दान के दूषणों से बचना चाहिये ॥६७॥

सतां सेवां न कुर्वन्ति पूजका मोक्षहेतवे।
पांवराणां तु कुर्वन्ति तत्परा लोभहेतवे ॥६८॥

ये लोग, मोक्षमार्ग के समर्थक संतो की कभी सेवा नहीं करते। हां, लोभवश ऐरों-गैरों की परछाईयों को भी मस्तक नवाते फिरते हैं ॥६८॥

रुक्नदीनोभवत्तत्र मुख्य एकः प्रपूजकः।
प्राह चैवं नतिं कृत्वा श्रीगुरुं करुणानिधिम् ॥६९॥

उनमें एक "रुक्नदीन" था, जो वहां का प्रधान धर्माचार्य भी था। उसने श्रीनानक की विशेष-सम्मान्यता से प्रभावित होकर एक प्रश्न पूछा ॥६९॥

किं प्रयुक्तो नरो मूढो दुराचारे प्रवर्तते।
शुभाचारं परित्यज्य सर्वकल्याणकारणम् ॥७०॥

हे महानुभाव ? सब तरह के कल्याणकारी श्रेष्ठ-कर्मों को छोड़कर पतनकारी कुकर्मों की ओर, मानव की प्रवृत्ति जल्दी से क्यों हो जाती हैं ॥७०॥

श्रीगुरु :—: मूढतैषा मोहेतुः पूर्वजन्मकृतं च यत्।
तेन जाताश्च संस्कारास्तेऽपि तत्र प्रवर्तकाः ॥७१॥

श्रीनानक ने कहा, हे प्रिय ? बुराई में सद्यः प्रवृत्ति का कारण, मूर्खता, पूर्व-जन्म-कृत दुष्कर्म और उनके संस्कार, बस ये ही सबल हो जाते हैं ॥७१॥

सतां संगप्रभावेन मूढतेयं विनश्यति ।
संस्काराश्च शमं यान्ति भक्तियोगप्रभावतः ॥७२॥

सत्पुरुषों के सहवास से मूर्खता का विनाश हो जाता है और पूर्व-जन्म के उन २ कर्मों के संस्कारों की शान्ति के लिये तो श्रीहरि की भक्ति ही एकमात्र सदुपाय है ॥७२॥

पंचवेलासु चिन्त्यं स्याद ब्रह्मरूपमवश्यकम् ।
मोहपंकनिमग्नैश्च सर्वदा तु मुमुक्षुभिः ॥७३॥

मोह-रूप दल-दल में फंसे हुए, संसारी-जिज्ञासुओं को, मोक्षकाम होकर, कम से कम पांच बार दिन में ब्रह्म की सत्य-उपासना करना आवश्यक है ॥७३॥

दया देवी सदा सेव्या शुक्लधर्मविवर्धिका ।
पापमाता वृथा हिंसा सा न सेव्या हि राक्षसी ॥७४॥

धर्म-विवर्धिनी, दया-रूपा देवी का आश्रय लेना सर्वथा हितकर और उसके विपरीत पापजननी-अकारण हिंसा-रूपिणी राक्षसी का सर्वदा परित्याग करना श्रेयस्कर है ॥७४॥

अतः सर्वैर्जनैः सेव्यो हरिरेको निरन्तरम् ।
वर्जनीयाः क्रिया दुष्टास्ततः कर्तुं न शिष्यते ॥७५॥

इसलिये प्रत्येक प्राणी को श्रीप्रभु का नित्य, निरन्तर चिन्तन करना चाहिये और सब हीन-कर्मों को सर्वथा त्याग देना चाहिये । इससे आगे का मार्ग स्वयं प्रशस्त है ॥७५॥

तत्र वृत्तमिदं जातं श्रीगुरोः करुणानिधेः ।
नवीमृत्युरभूद्यत्र तत्र देवो जगाम ह ॥७६॥

वहां इसप्रकार आचार-व्यवहार की शुभचर्चा करने के बाद श्रीनानक उस जगह पर गये, कि जहां "नवी" (इस्लाम के प्रमुख-संत) की मृत्यु हुई थी ॥७६॥

तत्राप्येवं कृता लीला सता ज्ञेया न चान्यथा ।
रागिणं श्रीगुरुः प्राह गम्यतामधुनात्र किम् ॥७७॥

वहां भी उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण, लोकोत्तर लीलाएं दिखाइं। तदनन्तर वे मर्दाना को कहने लगे, कि, चलो, अब यहां कोई काम अवशेष नहीं रह गया ॥७७॥

मर्दान्न उवाच —: प्रभो दृष्टं मया सर्वं कल्पितं मृगनीरवत् ।
सुखं सर्वं कृपासिन्धो श्रीमतां पदकञ्जयोः ॥७८॥

मर्दाना बोला —: हे गुरुदेव ? मैंने सब कुच्छ देख लिया । यह सब प्रपंच, माया से कल्पित क्रीड़ा मात्र है । सत्यसुख तो बस, आपके श्री· चरणों के अनुराग में ही है ॥७८॥

सव्यपादो मदीनः स्याद्दक्षिणो मक्क एव तु ।
इमं विश्वासमापन्नं मनो मे नात्र संशयः ॥७९॥

हे प्रभो, मेरा तो यह सुदृढ़ विश्वास है, कि आपका बायां पैर मदीना और दायां पैर ही मक्का है । इस मन्तव्य में शङ्का की कोई गुञ्जाईश नहीं है ॥७९॥

सत्यवस्तु दृढोपास्यं कीदृशं भगवन् गुरो ।
रोचते न ततोभिन्नं ब्रूहि मे करूणानिधे ॥८०॥

हे भगवन् ? आप कृपा कर "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की दृढ़ उपासना का सदुपदेश देकर, मुझे कृतार्थ करें । अव उससे पृथक् किसी भी भाव की कल्पना में अपनी प्रवृत्ति नहीं है ॥८०॥

श्रीगुरु :—: मर्दान्न त्वंच धन्योऽसि येन पृष्टं तदे वसत् ।
इदं जातं यतः सर्वं स्थितं यत्र प्रलीयते ॥८१॥

श्रीनानक ने कहा, मर्दाना ? तुम बड़भागी हो, कि जो आज सिद्धान्त-तत्व की बात पूछ रहे हो । हे प्रिय, सत्य, सनातन, नित्य, चिरन्तन, केवल एक ब्रह्म ही है, कि जिससे यह सारा संसार उत्पत्ति, स्थिति और संहृति के दशा-क्रमों में परिवर्तित होता है ॥८१॥

श्रुणु वाहेत्ति मन्त्रं त्वं गुरुशब्दसमन्वितम् ।
जप प्रेमप्रभावेन सत्यं वस्तु वदिष्यति ॥८२॥

हे साधु, तुम दृढ़ता एवं तन्मयता से "वाहे गुरु" इस मंत्र को जपते रहो । इसी के प्रेम-प्रभाव से वह 'सत्य वस्तु' (ब्रह्म बोध) प्राप्त हो जायेगा ॥८२॥

इदं श्रुत्वा ततो रागी तत्परश्च बभूव सः ।
सर्वावस्थासु तन्त्रीषु तदभ्यासं चकार च ॥८३॥

श्रीनानक की सारभूत, सरल, मन्त्र-जप की दीक्षा के अनुसार मर्दाना अभ्यास करने लगा । उसने यथा सम्भव अपने वाद्य की ध्वनि

में की, उसी मन्त्र की स्वर-कल्पना करली और निरन्तर तन्मय हो गया ॥८३॥

गुरुं ज्ञात्वा रसूलस्य लोकसङ्घसमागतिम् ।
तत्र दृष्ट्वा गतो देवस्ततः पूर्वदिशं प्रति ॥८४॥

वहां अब श्रीनानक को, "रसूल" (इस्लाम के महोपदेशक) का गुरु मानकर, अनेक श्रद्धालु-जन आने-जाने लगे थे । उस भीड़-भाड़ को देखकर, उन्होंने पूर्वकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥८४॥

स्थानं च दस्तगीरस्य वगदादं जगाम ह ।
गान्धारिणाकृता गोष्ठी ततश्चाचलमागतः ॥८५॥

उधर वे 'दस्तगीर' के स्थान 'बगदाद' में जा पहुंचे । फिर 'गांधार' के शासक से उनकी गोष्ठी हुई । तदनन्तर वे 'अचल' (पर्वत) की ओर आगे बढ़े ॥८५॥

तत्र सिद्धैः कृता गोष्ठी गतश्चेरावतीतटम् ।
तत्रासनं स्थिरं कृत्वा निजानन्दपदं गतः ॥८६॥

वहां (अचल पर) अनेक सिद्ध-पुरुषों से उनकी गोष्ठी हुई । फिर वे इरावती (रावी) के तीर पर आ गये और वहां एक मनोनुकूल स्थान पर आसन जमा कर, स्वात्मारामपद में संप्रतिष्ठित हो गये ॥८६॥

॥ पांचवां विश्राम समाप्त ॥



अथ षष्ठो विश्रामः

तत्रस्थितिं गुरोर्ज्ञात्वा जनानामागतिर्गतिः ।
दर्शनायाभवद्धीराः सर्वदेशात्समन्ततः ॥१॥

छटो विश्राम प्रारम्भ

वहां उन्हें आया जानकर, दर्शनार्थी लोगों का तांता बंध गया। सभी ओर से असंख्य श्रद्धालु-भक्त प्रतिदिन वहां आने-जाने लगे ॥१॥

दुग्धपात्रं करे कृत्वा बालः कश्चित्समागतः ।
अर्पयित्वा गुरोरग्रे चक्रे दण्डसमां नतिम् ॥२॥

एक दिन वहां कोई बालक, हाथों में दूधभरा पात्र लेकर आया और उसे श्रीनानक के आगे समर्पण कर, उसने साष्टांग दण्डवत् नमस्कार का शिष्टाचार निभाया ॥२॥

बालक :—: मृत्युभीतिः प्रभो जाता रक्षतां करुणानिधे।
बालवाक्यमिदं श्रुत्वा प्राह बाले कथं नु सा ॥३॥

बालक ने कहा, —: 'हे महात्मा जी, मुझे मृत्यु-भय प्राप्त हुआ है। आप मेरी रक्षा करो।" उसकी करुण-पुकार सुनकर श्रीनानक बोले —: अरे, बालकों को मरण-भय कैसा ? ॥३॥

बाल :—: मातुराज्ञानुसारेण ज्वालितोऽग्निर्मया प्रभो।
लघुकाष्ठं बभूवादौ तत्र दग्धं समन्ततः ॥४॥

बालक बोला :— महाराज, अपनी माता की आज्ञा से मैंने आग जलाई। पहले तो वह छोटी-मोटी लकड़ियों को भस्म कर गई, परन्तु फिर वह भयंकर रूप होकर, चारों ओर फैलगई और सब कुच्छ स्वाहा कर गई ॥४॥

स्वशरीरं लघुं ज्ञात्वा भीतोऽहं कालवन्हितः।
अतो वाच्यस्त्वयोपायस्त्रिधा दुःखनिवृत्तये ॥५॥

उसका व्यापक-आकार और अपना लघु-काय देख कर मैं उस कालाग्नि से संत्रस्त हो गया हूं। अतः आप कृपा कर मुझे त्रिविध-तापों से मुक्त होने का सदुपाय बतलाईये ॥५॥

श्रीगुरु :—त्वं न बालोऽसि वृद्धोऽसि यस्यैतादृगवेक्षणम्।
हरिस्त्वेकस्त्वया सेव्यश्चिरञ्जीवी भविष्यसि ॥६॥

श्रीनानक ने कहा, अरे, तुम बालक नहीं, वरन् वृद्ध (ज्ञानी) हो, कि जो ऐसा तत्व-विचार कर रहे हो। इसलिये तुम एक मात्र श्रीहरि का भजन करो। इस से तुम दीर्घायु हो जाओगे ॥६॥

इति वाक्यानुसारेण गतो बालोऽतिवृद्धताम्।
षष्ठस्य च गुरोर्जन्म वृद्धवाक्याद्बभूव ह ॥७॥

श्रीनानक के सत्यवचनानुसार वह (बालक) अतिवृद्ध-जीवन पा गया। छठे गुरु (श्री हर गोविन्द) का जन्म उसी के जीवन-काल में हुआ था। अर्थात् उसने दीर्घायु प्राप्त कर ली थी ॥७॥

सारस्वतो बभूवैकः सांयिदासेतिनामकः।
विश्वं दुःखमयं ज्ञात्वा गतः श्रीगुरुसन्निधिम् ॥८॥

एक 'साइंदास'' नाम का सारस्वत-ब्राह्मण था। वह दुःखमय संसार से विरक्त होकर, श्रीनानक की शरण में आया ॥८॥

सत्यनामोपदेशेन सोऽपि पावनतां गतः।
कृष्णमालादिचिन्हानि गुरोर्नीत्वागतोगृहम् ॥९॥

सत्य नाम का उपदेश एवं श्रीकृष्ण २ जपने की माला, तिलक प्रभृति वैष्णवोपयोगी चिन्ह प्राप्त कर वह पवित्र हो गया और फिर श्रीनानक की आज्ञा से ही अपने स्थान पर चला गया ॥९॥

म्लेच्छजातिरभूदेको बालकोऽजादिपालकः।
अजादुग्धं करे कृत्वा श्रीगुरुं शरणं गतः ॥१०॥

एक म्लेच्छ (यवन) बालक था, जो भेड़-बकरी आदि को पाल कर जीवन चलाता था। एक दिन वह बकरी का दूध, उपहार लेकर श्रीनानक की सेवा में उपस्थित हुआ ॥१०॥

प्राह देवं नतिं कृत्वा निजं दुःखं समन्ततः।
मारयन्ति कृषीकारा एडिकाश्च हरन्ति मे ॥११॥

उसने हाथ जोड़ कर उनके आगे अपनी दुःख की सारी कथा वर्णन की, कि हे देव ? यहां के किसान लोग मुझे मारते हैं और मेरी भेड़-बकरियों की चोरी भी करते हैं ॥११॥

क्यापि काले कृपासिन्धो म्रियन्ते ध्रुवमेडिकाः ।
इत्यादि मे महादुःखं ह्रियतां करुणानिधे ॥१२॥

हे दयालु, इस तरह बस, बहुत जल्दी ही मेरी भेड़-बकरियां समाप्त हो जाएंगी। तब मैं कहीं का नहीं रहूंगा। सो, आप कृपा कर मेरे दुःख हरण का कोई उपाय कीजिये ॥१२॥

ईदृशं सुलतानस्य वचः श्रुत्वोपदिष्टवान् ।
हरेराराधनं कृत्वा महापूज्यो भविष्यसि ॥१३॥

'सुलतान' नामक उस यवन-बालक की प्रार्थना सुनकर, श्रीनानक ने उसे सत्यनाम का उपदेश देते हुए कहा, कि तन-मन का सब ओर लगा कर श्रीहरि का भजन करो। इसी से तुम सब के स्वागत-पात्र बन जाओगे ॥१३॥

नाम चेमे वदिष्यन्ति सखिशब्देन संयुतम् ।
तवस्थानं गमिष्यन्ति ह्येडिकानयमाश्रिताः ॥१४॥

ये सभी लोग तुम्हें सुलतान सखा या सखा सुलतान नाम से स्मरण करेंगे और भेड़-गति से लगातार एक के पीछे दूसरा चलकर, तेरे निवास-स्थान पर आते-जाते रहेंगे ॥१४॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं तत्परश्च बभूव सः ।
हरिभक्तिप्रभावेन गतः सोऽपि महत्पदम् ॥१५॥

श्रीनानक की शुभ-शिक्षा के अनुसार वह (यवन-तरुण) ईश्वरा-राधन में मग्न हो गया जिस से समय पाकर वह महामान्यपद का अधिकारी बन गया ॥१५॥

शक्तियात्रार्थमायाता जना आङ्गलवासिनः ।
दिने क्वापि गुरुस्थानं गता दर्शनहेतवे ॥१६॥

उधर अपने अवसर पर, चिन्त्यपूर्ति (चिन्तापूर्णी) देवी की यात्रा पर, पंजाब के श्रद्धालु-भक्त-जन देवी-स्थान पर, आने-जाने लगे। उनमें कुच्छ लोग, एक दिन श्रीनानक के आश्रम पर, गुरु-दर्शन के लिए आ निकले ॥१६॥

क्षत्रियोऽत्र बभूवैको लहणेतिपदाह्वयः ।
तेन दृष्टा निशाशेषे दिव्यनारी विभूषिता ॥१७॥

उन अभ्यागत-यात्रियों में एक 'लहणा' नामका क्षत्रिय था। उसने रात के अन्तिम पहर (ब्रह्म-मुहूर्त) में वहां एक दिव्य-भूषावाली नारी को देखा ॥१७॥

भासयन्ती दिशाः सर्वाः कुर्वन्ती च मार्जनम् ।
तस्याश्चाष्टभुजा दृष्ट्वाऽकरोद्दंडसमां नतिम् ॥१८॥

वह अलौकिक नारी अपनी दिव्य कान्ति से सब ओर उजाला कर रही थी और श्रीनानक के आश्रम के आस-पास, मार्ग-शोधन का सेवा-कार्य निभा रही थी। उसकी आठभुजाओं वाली शक्ति-मूर्ति को देख कर, लहणा ने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया ॥१८॥

लहरण :—: कासि कस्मादिदं कृत्यं ब्रूहि देवि प्रकाशिके ।
सूर्यचन्द्रसमं तेजो भवद्व्यक्तौ प्रतीयते ॥१९॥

लहणा ने पूछा, हे देवि, अनुपम प्रकाशरूपिणी, आप कौन हैं। यह सेवा कार्य किस लिये अपनाया है ? आप में तो रवि-शशी जैसा अद्भुत तेज विद्यमान हैं ॥१९॥

देवी :—: इमे लोका गमिष्यन्ति दर्शनाय यदन्तिके ।
सैव कृत्यमिदं साधो चिन्त्यपूर्त्यै करोम्यहम् ॥२०॥

देवी ने कहा, हे साधु, ये सब यात्री-भक्त लोग जिसकी दर्शनाभिलाषा से शक्ति-मन्दिर में आ-जा रहे हैं, मैं वही देवी हूं । यह सेवाकार्य करने का इतना ही अभिप्राय है कि अपनी अभीष्ट-कामना की पूर्ण सफलता हो जाये ॥२०॥

दुःखहानिः सुखावाप्तिरिमे चिन्त्ये त्वदीयके ।
ते च साधोऽत्र सिध्येतां श्रीगुरोः कुरुसेवनम् ॥२१॥

हे भद्र, दुःख का नाश और सुख का लाभ, ये दो कामनायें, तुम्हारी भी मनोनीत हैं । सो, अब यहां श्रीगुरु नानक की सतत-सेवा करो। तुम्हारा मनोरथ यहीं पर सफल हो जायेगा ॥२१॥

इति श्रुत्वा वचो मत्वा नतिं कृत्वा प्रसन्नधीः ।
चकारानन्यभावेन गुरोः सेवामहर्निशम् ॥२२॥

यह सुनकर, लहणा ने श्रीदेवी की आज्ञा शिरोधार्य की और उसे सादर नमस्कार कर, वह सहर्ष वहां पर श्रीनानक की सेवा में आठों पहर तत्पर हो गया ॥२२॥

गुरोराज्ञा मया कार्या सैव पथ्यं न चेतरत् ।
इति मत्वाकरोन्नित्यं श्रीगुरोरनुसारिताम् ॥२३॥

उसने यह दृढ़ संकल्प कर लिया, कि श्रीगुरु की आज्ञा ही मेरे लिये परमहितकारी है। जैसा वे कहेंगे, वैसा ही मैं करूंगा। उससे अलग कुछ नहीं। बस, इसी धारणा से वह नित्यं प्रति उनकी आज्ञा का समुचित पालन करता रहा ॥२३॥

तत्परीक्षां समुद्दिश्य सदुपायं चकार सः ।
प्राह पुत्रौ निशाकाले पटक्षालनहेतवे ॥२४॥

एक दिन श्रीनानक ने उसकी परीक्षा के लिए अपनी लीला रची। उन्होंने रात के समय अपने पुत्रों को, वस्त्र धोने के लिए, नदी पर जाने को कहा ॥२४॥

अर्धरात्रमिति प्रोच्य गतौ निद्रां न चोत्थितौ ।
गच्छ शिष्येति श्रुत्वैव गतः शिष्योऽविलम्बतः ॥२५॥

किन्तु, अभी तो आधीरात है, यह कह कर वे (पुत्र) सोये रहे, उठे नहीं। तब श्रीनानक ने शिष्य (लहणा) से कहा, तो वह उसी क्षण में उठ कर चला गया ॥२५॥

तत्र मध्ये रविं दृष्ट्वा कृत्वा कृत्यं समागतः ।
अर्धरात्रं गृहे ज्ञात्वा श्रीगुरुं शरणं गतः ॥२६॥

जब वह नदी पर गया तो उसे रवि-दर्शन हुआ और दिन के उजाले में उसने वस्त्र-धोने का सारा काम निपटाया। परन्तु फिर अपने

स्थान पर आकर उसे यथापूर्व आधीरात का अन्धेरा ही नजर आया। तब वह सम्मोहित होकर श्रीनानक की शरण में गया ॥२६॥

मानुषस्य कृतं रूपं क्वापि काले परीक्षणे ।
त्यक्त्वा श्रद्धां जनाः प्रायो गता धाम निजं निजम् ॥२७॥

एक बार फिर श्रीनानक ने, स्वयं शिकारी का उग्र-वेश धारण कर, शिष्य-परीक्षा की नयी रीति अपनाई। उन्हें उस बीभीत्स-रूप में देख कर, प्रायः सभी भक्त-जन अश्रद्ध होकर, यथापूर्व अपने २ ठिकाने पर लौट गये ॥२७॥

गृहं त्यक्त्वा गतौ पुत्रौ मन्यमानौ च वातुलम् ।
येऽपि संगे गतास्तेभ्यो हेमवृष्टि चकार सः ॥२८॥

उनके अपने पुत्र भी, उन्हें पागल समझ कर त्याग बैठे। जो कोई लोग साथ गये, उन्हें सोने की वर्षा कर, श्रीनानक ने कसौटी पर कसा ॥२८॥

तद्गृहीत्वा गताः प्रायो लोभलेशेन संयुताः ।
सार्धं तेऽप्यन्ये गताः केचिल्लोभलेशविवर्जिताः ॥२९॥

सोने को लेकर ही कई लोभी-भक्त राह से मुड़ गये। फिर भी कुछ उदार-भक्त आगे को, उनके साथ चल पड़े ॥२९॥

तत्र दृष्ट्वा शवं चाह क्रियतामस्य भक्षणम् ।
शङ्कितान्सकलान् दृष्ट्वा प्राह शिष्योऽथ बाङ्गली ॥३०॥

आगे चल कर श्रीनानक ने एक मुर्दा-देह को देखा, तो अपने शिष्यों

से कहा, कि तुम लोग इसे खा जाओ। यह सुनते ही वे सब अवाक् हो गये। परन्तु उस जंगलवासी शिष्य (लहणा) ने प्रार्थना की...॥३०॥

कस्याङ्गस्य प्रभो चादौ कर्तव्यं मेऽस्ति भक्षणम्।
यस्य कस्येतिवाक् श्रुत्वा शिरोवासोनिवारितम् ॥३१॥

हे गुरुदेव ? इस शव के किस अङ्ग को मैं पहले खाऊँ ? श्रीनानक ने कहा, "अरे, जिस किसी भी अङ्ग को तुम खाना चाहो, खा लो" यह वाणी सुनकर लहणा ने उस शव के सिर से वस्त्र उतारा और...॥३१॥

तत्र दृष्ट्वा गुरोःरूपं कृता दण्डसमा नतिः।
उत्थाय गलेनाशु स्पर्शनं कृतवानसौ ॥३२॥

उसमें भी साक्षात् श्रीनानक का ही प्रत्यक्ष दर्शन पाकर, वह उनके श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने के लिए भूमि पर लम्बा पड़ गया। तब उन्होंने स्वयं उठकर उसे अपने गले से लगा लिया ॥३२॥

श्रीगुरु :—मयि लभ्यं त्वदीयं यत्तच्च लब्धं त्वयाधुना।
मया चाङ्गंयतो दत्तं जातोऽसि जगतां गुरुः ॥३३॥

श्रीनानक बोले —: हे प्रिय, जो कुछ तत्व (ज्ञातव्य) मुझ में तुम्हें अभिप्रेत था, वह सब तुम्हें साक्षात् प्राप्त हो गया है। मैंने तुम्हें अपने अङ्ग से मिलाया है। सो, अब तुम संसार भर के गुरु हो चुके ॥३३॥

एवं गुरोश्च कृता सेवोद्दालकेन महर्षिणा।
लब्ध्वा विद्यां विनायासं गतश्चोऽतिमहत्पदम् ॥३४॥

श्री उद्दालक (गौतम) ने अपने सद्गुरु (वैशम्पायन) की, श्रद्धा-भक्ति से अपूर्व सेवा की थी। उनकी कृपा से वह (उद्दालक) महर्षि बन गया। क्योंकि उसे सब विद्याएं प्राप्त हो गई थीं ॥३४॥

येन येन सतां सेवा कृता वाक्यं च पालितम् ।
उत्तमो वा महामन्दो गतः सोऽतिमहत्पदम् ॥३५॥

यह तो एक निदर्शन है। और भी जिस किसी ने संतों की सेवा करते हुए, उनका कथन अपने जीवन में उतारा, वह श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ, किसी भी वर्ग में-होने पर भी, अन्त में महामान्य पद को प्राप्त कर, कृतार्थ हो गया ॥३५॥

इदं चोक्त्वा गतः स्थानं श्रीगुरुः करुणानिधिः ।
नामशिष्यास्तदायाता वाह वाहेति चोचिरे ॥३६॥

उसे यह सदुपदेश देकर वे अपने स्थान पर लौट आये। तब दूसरे नाम-शिष्य (नाम-मात्र के शिष्य) भी वहां आ पहुंचे और वाहे गुरु २ के शब्द को बारम्बार दुहराने लगे ॥३६॥

भक्ष्यभोज्यादि को देयाद्विना सद्गुरुमीदृशम् ।
इदं प्रोक्त्वा नताःसर्वे वाह वाहेति चोचिरे ॥३७॥

श्रीनानक के अन्न-भण्डार में स्वादु-भोजन खा-पीकर वे लोग पेट पर हाथ फेरते हुए बोले, कि सद्गुरु के सिवाय और कौन हमें उत्तमभोग दे सकता है ? तदनन्तर पुनः जोर से "वाहे गुरु २" का नारा गूंज उठा ॥३७॥

स्वर्णवृष्टिर्वने जाता श्रीगुरोः कृपया जनाः ।
भाग्यहीना वयं सर्वे नो गता गुरुसङ्गतिम् ॥३८॥

फिर वे आपस में कहने लगे, कि देखो, भाई, वन में श्रीगुरु की दया से स्वर्ण की वर्षा हुई । परन्तु हम बड़े अभागे हैं, जो उनके साथ जंगल में नहीं गए ॥३८॥

इमाः श्रुत्वा गिरस्तेषां प्राह हासेन सद्‌गुरुः ।
अहो प्रायोभविष्यन्ति कलावेतादृशा नराः ॥३९॥

उनकी यह लोभ-वार्ता सुनकर श्रीनानक जरा मुस्कराते हुए कहने लगे, कि ओह, ठीक है, इस कलियुग में प्रायः ऐसे भक्त ही अधिक मिलेंगे ॥३९॥

क्वापि काले कृपासिन्धुर्मनसीदं व्यचारयत् ।
त्यक्तदेहस्तु गच्छेयं निजं रूपमनामयम् ।।४०।।

कुछ समय के पश्चात् एक दिन उन्होंने गम्भीर-विचार किया कि अब मैं इस नश्वर-देह को त्याग कर, अपने अमरपद निरञ्जनाकार में समा जाऊं, तो उचित होगा ।।४०।।

सन्ति शिष्याश्च पुत्रौ च विश्वकल्याणहेतवे ।
सत्यनामोपदेशार्थमङ्गदेन समो नहि ।।४१।।

अपने अनेक शिष्य और दोनों पुत्र, संसार के हित-साधन में पर्याप्त प्रयत्न करते रहेंगे । परन्तु हां, सत्यनाम के यथाधिकार उपदेश का पात्र तो एकमात्र अङ्गद (लहणा) ही है । उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।।४१।।

इतिसङ्कल्पमात्रेण द्रव्यहस्तः समागतः ।
अङ्गदो भक्तिसम्पन्नो नतः पादारविन्दयोः ॥४२॥

ऐसा भविष्य का सत्सङ्कल्प करते ही उनके सामने, अङ्गद भी आ पहुंचा । उसने अपने हाथों में कुछ उपहार-पदार्थ ले रखे थे । पास आकर वह अपार श्रद्धा-भक्ति से उनके श्रीचरणों पर लोटने लगा ॥४२॥

श्री अङ्गद उवाच —ः कर्म चैके प्रभो प्राहुः सांख्यमेके वदन्ति हि ।
योगमेके कृपासिन्धो भक्तिमेके विचक्षणाः ॥४३॥

श्री अङ्गदने पूछा, —ः हे गुरुदेव ? एक मनीषी लोग कर्म, दूसरे सांख्य, तीसरे योग, चौथे भक्ति को ही सर्वोत्तम क्षेमकर साधन मानते हैं ॥४३॥

मोक्षहेतुं न जानेऽहं कलौ काले विनिश्चितम् ।
अतो ब्रूहि दयासिन्धो त्वां विना को वदिष्यति ॥४४॥

इन में से ठीक २ कौन ऐसा सुनिश्चित मार्ग है, जो इस भयङ्कर कलियुग में मोक्षदायक सिद्ध हो सके, उसे मैं नहीं जानता । आप कृपा कर बतलाईये । आप के अतिरिक्त और कोई भी मुझे सत्य-पथ पर नहीं चला सकता ॥४४॥

श्रीगुरुरुवाच —ः कलौ काले न कर्माणि तस्य हेतोरभावतः ।
द्रव्यशुद्धिविना साङ्गो कर्मरूपनसम्भवि ॥४५॥

श्रीनानक बोले —: हे प्रिय, इस कलिकाल में कर्म-बल से कोई पार नहीं उतर सकता। क्योंकि कर्म-हेतु ही दूषित होगये हैं। तदुपयुक्त द्रव्य-शुद्धि कहीं नहीं रह पाई। ऐसी दशा में कर्म का साधु-स्वरूप (यज्ञ) कैसे सम्पन्न हो सकता है ॥४५॥

सांख्ययोगौ विना भक्तिं क्वापि काले न सिध्यतः ।
अतो भक्तिस्त्वया कार्या सर्वसिद्ध्यै निरन्तरम् ॥४६॥

सांख्य एवं योगमार्ग भी, भक्ति के बिना सरल नहीं होते। इसलिये हे साधु, तुम सर्वलाभ के लिये श्रीहरि की भक्ति का आश्रम ग्रहण करो ॥४६॥

सत्यनाम त्वया भ्यस्यं तारमन्त्रात्मकं सदा ।
तदर्थस्य विचारोऽपि सदा साधो विधीयताम् ॥४७॥

तारक-मन्त्र स्वरूप सत्यनाम का ही, तुम सदा अभ्यास किया करो एवं साथ २ उसके अर्थ पर भी विचार करते रहा करो ॥४७॥

हरौ शक्तस्य शब्दस्य ब्रह्मचर्यादिसप्तभिः ।
संयुतस्य विजानीहि सत्यनामाभिधेयताम् ॥४८॥

श्रीहरि के नामरूप सर्व समर्थ शब्द को, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि सात श्रेष्ठ-निष्ठाओं सहित सेवन करने से ही 'सत्य-नाम' का अभ्यास सिद्ध हो सकता हैं ॥४८॥

सत्यनाम्नो यदभ्यासः कलौ मोक्षस्य कारणम् ।
ततः सांख्यं च योगश्च जायते नात्र संशयः ॥४९॥

इस कलिकाल में तो सत्य-नाम (श्री हरिनाम) का दृढ़ अभ्यास ही मोक्षदाता बन जाता है। उसी से क्रमशः सांख्य (प्रकृति-पुरुष-ज्ञान) और योग (समाधि-ध्यान) भी सिद्ध होते हैं ॥४९॥

अतः साधो त्वया कार्यं सत्यनामोपदेशनम् ।
यथा पात्रं विना पात्रं भवेत्कीशोपदेशवत् ॥५०॥

इसलिए हे प्रिय, तुम सदा सत्यनाम का ही उपदेश करना। इससे पहले उसके अधिकारी-अनधिकारी का विचार भी कर लेना। क्योंकि कुपात्र को उपदेश देना ठीक नहीं। वह तो वानरों को पढ़ाने जैसा विफल प्रयास है ॥५०॥

कामहीनाः क्रोधहीना लोभमोहादिवर्जिताः ।
मैत्र्यादिभावनायुक्ताः सतां सेवापरायणाः ॥५१॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य प्रभृति अवगुणों से शून्य, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि उदात्त-वृत्तियों से युक्त, सन्त-महात्माओं की सेवा में तत्पर ... ॥५१॥

ज्ञानहेतुविवेकाद्यैः सदा युक्तास्तपस्विनः ।
द्वेषरागादिहीना ये तारमन्त्राधिकारिणः ॥५२॥

ज्ञान के साधन विवेक-वैराग्य प्रभृति से भूषित, तपोनिरत, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से विमुक्त साधक ही तारमन्त्र (सत्य--नाम) के अधिकारी होते हैं ॥५२॥

यत्र तारोपदेशस्य भवेत्साधोऽधिकारिता ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानामपि तत्रैव निश्चिनु ॥५३॥

हे प्रिय, जो साधु-स्वभाव का मनुष्य तारक-मन्त्र का अधिकारी है, उसे ही "तत्वमसि" आदि ब्रह्म-बोधक वेदान्त वाक्यों का भी अधिकार प्राप्त होजाता है ॥५३॥

तारमन्त्रस्य चाभ्यासे भक्तिपक्षो न हीयते ।
तत्वमस्यादिवक्तृषु कुत्रचित्सा प्रतीयते ॥५४॥

तारमन्त्र (नाम-जप) का अभ्यास करने पर भक्ति मार्ग को कोई क्षति नहीं है। परन्तु 'तत्वमसि' आदि ब्रह्मवाद के अभ्यास में कहीं पर उसे (भक्ति मार्ग) को भुला दिया जाता है ॥५४॥

अतः शिष्टेन कर्तव्यं तारमन्त्रानुवर्तनम् ।
अस्य मुक्तिं स्वयं कुर्यात्तेन तुष्टो निरञ्जनः ॥५५॥

इसलिए श्रेष्ठ साधक को सदा तार-मन्त्र का ही निरन्तर अभ्यास करना हितकर है, जिस से संतुष्ट होकर परमेश्वर स्वयं उसकी (साधक की) मुक्ति-भावना को परिपूर्ण करते हैं ॥५५॥

स्वल्पाश्च यत्र वै सन्ति गुणा उक्ता मया नघ ।
श्रद्धधाने च तत्रास्ति रामनामाधिकारिता ॥५६॥

हे प्रिय, उपर्युक्त गुणों में थोड़े भी गुण, जिस साधक में विद्यमान हैं, वह श्रद्धालु-जन निःसन्देह राम-नाम का अधिकारी है ॥५६॥

स्वतस्तत्रागमिष्यन्ति गुणा रामाद्युपासके ।
देहेत्पापात्मकं तूलं तदभ्यासोऽनलात्मकः ॥५७॥

श्रीराम-नाम के उपासक में शेष सब गुण स्वयं आ जाते हैं। क्योंकि श्रीराम-नाम का जप-रूप अभ्यास ही, वह दाहक अग्नि है, जो पापरूप-तुल (कपास) के ढेर को क्षणभर में जलाकर भस्म करने में समर्थ है ॥५७॥

तदर्थाभ्यासमापन्नः स्वयं रामो भविष्यति ।
यन्मनास्तन्नरो गच्छेदिति प्राहुर्महर्षयः ॥५८॥

उस महामन्त्र के जप एवं अर्थ पर गम्भीर-विचार करते २, साधक स्वयं राममय हो जाता है। क्योंकि तत्वदर्शी साधकों का यह स्वानुभूत प्रयोग है, कि जिसका चिन्तन हो, उसी में चिन्तक भी समा जाता है ॥५८॥

हंसमन्त्रोऽपि ध्येयः स्याद्योगिभिर्विरतैः सदा ।
तदभ्यासेन गच्छन्ति परब्रह्म निरञ्जनम् ॥५९॥

हंस-मन्त्र को भी, योगी-जन उपासते हैं। वे उसी की सतत-साधना से ध्यानस्थ होकर परब्रह्मपद को पा लेते हैं ॥५९॥

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवोजपति सर्वदा ॥६०॥

जीव स्वभावतः "हंस, हंस" इस मन्त्र को जपने का अभ्यासी है। हकार से बाहिर और सकार से अन्दर की ओर, प्राण-वायु का गमन-आगमन (मुख नासिका द्वारा) निरन्तर होता रहता है ॥६०॥

षट्शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥६१॥

प्रायः दिनरात में मनुष्य इक्कीस हजार छः सौ (२१६००) बार उक्त (हंस) मन्त्र को निरन्तर श्वास द्वारा जपता है ॥६१॥

अजपा नाम गायत्री योगिनांसुख दायिनी ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६२॥

यह (हंस-मन्त्र) अजपा गायत्री कहाती है, जो योगिजनों की परम-सुखदा विद्या है । इसके अभ्यास के सङ्कल्प-मात्र से अनन्त पापों का सर्वनाश हो जाता है ॥६२॥

अनया सदृशी विद्या त्वनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥६३॥

इस (अजपा गायत्री) के समान, और कोई विद्या, जप एवं ज्ञान नहीं है । यह सिद्धांत त्रिकाल-सत्य समझो ॥६३॥

सोऽहंमन्त्रोऽपि सिद्धः स्यादेतद्वर्णविपर्यये ।
चित्यभेदावगाहित्वान्महामन्त्र इतीर्यते ॥६४॥

इसी (हंसमन्त्र) के वर्ण-परिवर्तन से 'सोऽहम्' मन्त्र की रूपनिष्ठा प्रतिष्ठित होती है । 'चिति सत्ता' (ब्रह्म) से अभेद-ज्ञापक (जीव का) होने से यह मन्त्रराज या महामन्त्र भी कहलाता है ॥६४॥

बीजमन्त्रोऽजपामन्त्रो राममन्त्रादिकोऽपि वा ।
जप्यमानः सदा साधो पारिजातो भविष्यति ॥६५॥

बीजमन्त्र, अजपामन्त्र, राममन्त्र इत्यादि किसी भी मन्त्र का जप करने से, वह यथासमय कल्पवृक्ष के समान सर्वप्रद बन जाता है ॥६५॥

पद्मासनं समारुह्य समं कायशिरो मुनिः ।
नासाग्रे दृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥६६॥

प्रणवोपासक-जन, पद्मासन से बैठ कर अपने देह, ग्रीवा, शिर को एक समानसीधा रक्खे और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करते हुए, निरन्तर ओङ्कार का जप करे ॥६६॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥६७॥

भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक, चन्द्र, सूर्य और अग्निदेवता, ये क्रमशः जिसकी मात्राओं में संप्रतिष्ठित हैं, वह परंज्योति-स्वरूप "ॐकार" ही है ॥६७॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥६८॥

भूत, भविष्यत, वर्त्तमान, ऋक्, यजुः, साम, भूलोक, द्युलोक, देवलोक, उदात्त, अनुदात्त स्वरित, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ये क्रमशः तीन काल, तीन देव, जिसमें संस्थित हैं, वह परं ज्योति "ॐकार" ही है ॥६८॥

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥६९॥

साधक-जन वाणी से बीज मन्त्र (ॐकार) का जप, तन से आकार-विज्ञान, मन से अर्थभूत विचार (तत्व-चिन्तन) करता रहे। यह परं ज्योति "ॐकार" ही है ॥६९॥

शुचिर्वा प्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥७०॥

पवित्र या अपवित्र दशा में, जो कोई साधक, परम पवित्र 'ॐकार' का जप करता है। वह पापों से उसी तरह अछूता रहता है, जिस प्रकार जल से कमल के पत्र ॥७०॥

तस्मात्साधो त्वयाभ्यस्यं जगद्बीजं निरन्तरम्।
वाच्यमात्रं परित्यज्य लक्ष्यरूपो भविष्यसि ॥७१॥

इसलिये, हे प्रिय, तुम हमेशा जगद्-बीज-रूप "ॐकार" का सतत अभ्यास करो। उसकी तीव्र-साधना से ही तुम वाच्य-अर्थ से लक्ष्य-अर्थ तक अर्थात् लौकिक से अलौकिक परम पद (मोक्ष) तक पहुंच जाओगे ॥७१॥

अधिकारं विना मन्त्रं योऽजपा प्रणवादिकम्।
गृह्णाति चापि दत्ते तौ लम्बकर्णौ न मानवौ ॥७२॥

परन्तु अधिकार के बिना, अजपा (हंस-सोऽहं) या प्रणव (ॐकार) मन्त्र की दीक्षा देने व लेने वाले, दोनों (गुरु-शिष्य) लम्बे-कानों वाले पशु (गधा) समझे जाते हैं, मनुष्य नहीं ॥७२॥

सत्यनामोपदेशोऽयं ध्यानयोगोऽथ श्रूयताम् ।
विनाध्यानं कथं साधो मनः स्थैर्यं भविष्यति ॥७३॥

यह 'सत्य नाम का उपदेश' रूप साधन सुनाया गया । अब ध्यान योग की विधि सुनो । क्योंकि ध्यान के बिना मौजी मन स्थिर नहीं हो सकता ॥७३॥

मूर्तिध्यानं भवेदादौ तेजोध्यानं द्वितीयकम् ।
सूक्ष्मध्यानं तृतीयं स्यात् त्रिधा ध्यानमथोच्यते ॥७४॥

पहले स्थूल-ध्यान (प्रतिमा आदि), फिर तेजोध्यान (ज्योति-आदि) और अन्त में सूक्ष्म-ध्यान (बिन्दु आदि) का विधान शास्त्रों में किया गया है । तीन प्रकार के इन ध्यानों का साधार प्रकार भी सुनो ॥७४॥

स्वकीयहृदये ध्यायेत्सुधासागरमुत्तमम् ।
तत्र द्वीपं परं रम्यं सुरत्नवालुकामयम् ॥७५॥

साधक को सावधान होकर अपने हृदय-प्रदेश में, इस प्रकार ध्यान लगाना चाहिए, कि वहां दिव्य-अमृत का सागर भरा पड़ा है । उस पर एक अनुपम द्वीप (टापू) बसा हुआ है, कि जिसके आगे-पीछे रत्नमयी बालुका (चमकती-रेत) बिछी हुई है ॥७५॥

तत्र ध्येया महारम्या पुष्पितैका च वाटिका ।
गन्धिपुष्पैः सदा युक्ता प्राकारेण च वेष्टिता ॥७६॥

उस में एक अतिसुन्दर, खिली हुई, सुगन्धित चित्र-विचित्र-पुष्पों-वाली फुलवारी है, जिसके चारों ओर एक घेरेदार दीवार बनी हुई है ॥७६॥

पारिजातोऽथ ध्येयः स्यात्तत्र पुष्पफलादिभिः ।
चतुर्वेदात्मकं रम्यं यस्य शाखाचतुष्टयम् ॥७७॥

उसके बीच में एक फूला-फला पारिजात (कल्पवृक्ष) खड़ा है, जिसकी चार शाखाएं, चारों वेदों के रूप में भिन्न २ दिशाओं की ओर फैली हुई हैं ॥७७॥

तत्र साधो सता ध्येयं रत्नमण्डपमद्भुतम् ।
दिव्यवेदिश्च ध्येया स्यात्तत्र शय्या विचक्षणा ॥७८॥

उसके मध्य में (नीचे) रत्नों का बना हुआ एक दिव्य मण्डप है, जिस के बीचो-बीच एक सुन्दर वेदी है और उस पर एक अद्भुत शय्या (आसन) लगी हुई है ॥७८॥

इष्टमूर्तिर्निजा ध्येया तत्र दोषनिवृत्तये ।
यथारूपं यथाचेष्टं यथाभूषणवाहनम् ॥७९॥

उस दिव्य-आसन पर सुप्रतिष्ठित, अपने इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान, शास्त्रों में उक्त-रीति से रूप, चेष्टा, वाहन, भूषण आदि से संयुक्त ही करना चाहिये ॥७९॥

मूलाधारे भवेच्छक्तिर्भुजगाकाररूपिणी ।
जीवात्मा वर्तते तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः ॥८०॥

मूलाधार-चक्र में एक शक्ति का वास है, जो सर्पाकार से वहां टिकी है। उसके अन्दर ही जीवात्मा का निवास है, जो दीप-शिखा के समान प्रकाशमय आकार में बैठा है ॥८०॥

ध्याये ज्ज्योतिर्मयं ब्रह्म तेजोध्यानं तदेव हि ।
भ्रुवोर्मध्ये तदूर्ध्वं च यत्तेजः प्रणवात्मकम् ॥८१॥

उस ज्योतिर्मय ब्रह्म का ध्यान ही तेजोध्यान होता है और भ्रूकुटि के मध्य या उससे कुछ ऊपर के प्रदेश (ललाट) में ॐकार-रूप-ब्रह्म तेज का आवास है ॥८१॥

ध्याये ज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि ।
उत्थितायाश्च तच्छक्तेर्मध्यमार्गं प्रवर्तने ॥८२॥

अनन्त ज्वालाओं से सङ्कुलित उस ॐकार-रूप-ब्रह्म का ध्यान भी तेजोध्यान ही कहलाता है । पूर्वोक्त शक्ति (मूलाधारस्थ कुण्डलिनी) का यथाक्रम अभ्युत्थान होने से मध्यमार्ग में संचार होता है ॥८२॥

ब्रह्मणैक्यस्य या चिन्ता सूक्ष्मध्यानं तदुच्यते ।
त्रिधा ध्याने क्रमात् सिद्धे तत्वबोधोऽथ जायते ॥८३॥

उसके ऊर्ध्वगामी प्रभाव से फिर, जीव और ब्रह्म की एकता का सत्यविचार प्रस्फुटित होता है, वही सूक्ष्मध्यान के नाम से परिलक्षित है । इस तरह तीनों ध्यान-क्रमों से लाभ उठाते हुए तत्वबोध (अभेद ज्ञान) का उदय होता है ॥८३॥

ततोऽज्ञानेगते साधो जन्ममृत्युभयं कुतः ।
अथ नादानुसन्धानं शास्त्ररीत्या मयोच्यते ॥८४॥

उस तत्वज्ञान से सब अज्ञान जाता रहता है, फिर जन्म-मरण का भय कहां टिक सकता ? हे प्रिय ? अब क्रमशः नाद-विद्या का वर्णन भी यथाशास्त्र ही किया जाता है, सो उसे भी सुनो ॥८४॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरकमुत्तमम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सुधीः ॥सुधीः ॥८५॥

साधक-नर अपने दोनों हाथों से, दोनों कानों को बन्द कर, पूरक प्राणायाम करे और फिर दायें कान में, अन्तर्वर्ती नाद (गुञ्जार-ध्वनि) को सुने ॥८५॥

प्रथमं बीजनादः स्याद्वंशीनादस्ततः परम् ।
मेघभ्रमरनादीस्तस्ततो घण्टारवस्तथा ॥८६॥

पहले बीजनाद, फिर वन्शीनाद, तब मेघनाद व भ्रमरवाद और अन्त में घण्टा नाद का क्रमशः श्रवण होता है ॥८६॥

तूरीभेरीमृदङ्गादेर्वीणानादश्चदुन्दुभेः ।
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यसेत् ॥८७॥

तदनन्तर तुरही, भेरी, मृदङ्ग, वीणा, दुन्दुभि, आदि वाद्यों जैसा नाद, भिन्न २ रूप से सुनाई पड़ता है। क्रमशः उनके श्रवण के अभ्यास में तत्पर होना चाहिये ॥८७॥

नादविद्यासमं नास्ति मनोबन्धनकारणम् ।
तन्निरोधे ह्ययं साधो स्वयं ब्रह्म न संशयः ॥८८॥

नाद-श्रवण के अभ्यास से बढ़ कर दूसरा कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे मन काबू में आ सके। मन का निरोध कर लेने से यह (जीव) स्वयंमेव ब्रह्मरूप हो जाता है ॥८८॥

बीजं सकलविद्यानां सत्यनाम हरेः परम् ।
तच्च तुभ्यं मया दत्तं यथायोग्यं तथा कुरु ॥८९॥

सब विद्याओं का मूलाधार, श्रीहरि का नामरूप बीज मन्त्र, मैंने

तुम्हें दे दिया है । अब तुम जैसा चाहो, वैसा अभ्यास कर सकते हो ॥८६॥

इदं श्रुत्वा नतिं कृत्वा गुरुपादारविन्दयोः ।
प्राह देवं कृपासिन्धो मेऽद्य कृत्यंन शिष्यते ॥६०॥

श्रीगुरु नानक का यह सदुपदेश सुनकर, उसने (श्री अङ्गद ने. उनके श्रीचरणों की वन्दना करते हुए प्रार्थना की, कि हे देव ? अब मुझे और कुछ श्रवण करने की आकांक्षा नहीं रही ॥६०॥

दिव्यसिंहासने देवः स्थापयित्वा तदाङ्गदम् ।
पुष्पमालादिभिर्द्रव्यैः कृतवानस्य पूजनम् ॥६१॥

तब श्रीनानक ने उसे एक सुन्दर उच्चासन पर बिठा कर, पुष्प-हार आदि सुगन्धित-पदार्थों से संपूजित किया ॥६१॥

पंचकं ताम्रमुद्राणां नारिकेलफलं शुभम् ।
अर्पयित्वा नतिं कृत्वा प्राह सर्वमिदं वचः ॥६२॥

फिर ताम्बे की पांच मुहरें और मङ्गल-सूचक नारियल फल समर्पण कर, नमस्कार किया और सब अनुयायी जनों को सुनाया कि...॥६२॥

अयं शिष्योमदीयः स्याद्गुरुश्चात्र न संशयः ।
इदं श्रुत्वा नताः सर्वे कृतवन्तश्च पूजनम् ॥६३॥

हे भक्त जनो ? यह मेरा प्रिय शिष्य ही अब यहां का भावि गुरु है । उनकी सारगर्भित वाणी सुनकर सभी ने उन्हें (गुरु-शिष्यों को) नमस्कार किया और उनकी विशेष पूजा की ॥६३॥

गच्छ साधोऽद्य खंडूरं प्राह देवस्तदाङ्गदम् ।
तव सेवां करिष्यन्ति तत्र भक्ता मदीयकाः ॥९४॥

फिर श्रीनानक ने उसे आज्ञा दी, कि हे प्रिय, अब तुम खण्डूर में जाकर रहो। वहां मेरे भक्तलोग, तुम्हारी यथेष्ट सेवा करेंगे ॥९४॥

नागन्तव्यं त्वया साधो मत्समीपे कदाचन ।
अहमेवागमिष्यामि त्वत्समीपे कदापि भोः ॥९५॥

और सुनो, अब तुम यहां मेरे पास कभी मत आना। समय पर मैं स्वयं तेरे पास पहुंच जाऊंगा ॥९५।

इमां श्रुत्वा गुरोराज्ञां गतस्तत्र प्रसन्नधीः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण तपश्चर्यां चकार सः ॥९६॥

श्रीनानक की पवित्र आज्ञा सुनकर वह बड़ी प्रसन्नता से वहां चला गया और सदगुरु की शिक्षानुसार ही तपस्या करने लगा ॥९६॥

द्वित्रिकृत्वो गतो देवः खण्डूरं करुणानिधिः ।
भक्तवात्सल्यसम्पन्नः सतां रीतिरियं सदा ॥९७॥

शिष्य की विशेष-भक्ति से प्रसन्न होकर, श्रीगुरु नानक दो-तीन बार स्वयं खण्डूर में गये। अपने-जन की खबर रखना, सत्पुरुषों का स्वाभाविक गुण होता है ॥९७॥

क्वापि काले गुरुः प्राह श्वश्च देहमहं त्यजे ।
इदं श्रुत्वा गुरोःपुत्रौ नागतौ गुरुसन्निधिम् ॥९८॥

समय पाकर, एक बार उन्होंने कहा, कि "कल मैं अपना शरीर त्याग करूंगा। यह सुन कर भी उनके पुत्र पास नहीं आये ॥९८।

श्रीमतां च पितुःश्राद्धं श्वो भविष्यसि श्रीप्रभो।
नैवं कर्तुं मतो योग्यं प्राह माता सुलक्षणी ॥९९॥

परन्तु माता सुलक्षणी ने श्रीनानक (पतिदेव) को स्मरण कराया कि कल तो आपके श्रीपिता जी का श्राद्ध-दिवस है। अतः आप यह क्या कार्यक्रम बना रहे हैं? ॥९९॥

अस्तु चैवं दशम्यां तु तनुत्यागो भविष्यति।
इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं शिष्यसङ्घास्तदागताः ॥१००॥

श्रीनानक ने उसकी बात पर ध्यान दिया और फिर कहा, चलो, कल की बजाये, दशमी को मैं महाप्रस्थान करूंगा। उनका यह निर्णय सुनकर अनेक शिष्य लोग वहां आगये ॥१००॥

प्रातःकाले गतो देवस्तद्दिने धुनिसन्निधिम्।
शिष्यसङ्घा गताः सार्धमुदासीनदशान्विताः ॥१०१॥

अपनी अभिलाषा के अनुसार वे उस दिन बड़े सवेरे ही नदी पर चले गये। उनके साथ बहुत से शिष्य भी गये, जो उदासीनता की प्रतिमा बने हुए थे ॥१०१॥

तत्र दृष्ट्वा स्थलं रम्यं पावनं जलवेष्टितम्।
तत्रासनं कृतं शिष्यैश्चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥१०२॥

वहां एक स्वच्छ, जल-पूर्ण सुन्दर स्थान पर, शिष्यों ने एक आसन की व्यवस्था की, कि जिस पर क्रमशः वस्त्र, मृगचर्म, कुशासन, ये ऊपर २ बिछा दिये ॥१०२॥

पद्मासनं समारुह्य प्राङ्मुखःस्थितवानसौ ।
इदं वृत्तं सुतौ श्रुत्वा चागतौ लोक लज्जया ॥१०३॥

उस पर श्रीनानक पद्मासन लगाकर, पूर्व-मुख होकर बैठ गये । तब इनके महाप्रयाण को जानकर, दोनों पुत्र भी वहां आ पहुंचे, क्योंकि इन्हें लोक-लाज का अधिक ध्यान था ॥१०३॥

तुच्छकृत्यं न कर्तव्यं श्रीमतां ख्यातितः प्रभो ।
नापि राज्यं कृपासिन्धो विद्यते धनसङ्ग्रहः ॥१०४॥

उन्होंने वहां आते ही अपनी बात चलाई, कि हे करुणाधार, आपको लोक-प्रशंसा के अनुसार तो हम छोटी-मोटी क्रिया नहीं कर सकते । परन्तु इधर दशा यह है, कि अपना कोई राज्य तो है नहीं, जिससे धन-संग्रह उपलब्ध हो सके ॥१०४॥

गतं वस्तु प्रतिष्ठा च शिष्यकोटौ न संशयः ।
प्राहतुस्तु ततस्तातं कीदृशी गतिरावयोः ॥१०५॥

आपकी सारी करामात, प्रतिष्ठा, (गुरुत्वपद) आदि सभी कुछ शिष्यों में संप्रविष्ट हो गया है । तो ऐसी स्थिति में हमारी क्या गिनती होगी ॥१०५॥

श्रीगुरुरुवाच —: यत्र भक्तिश्च श्रद्धा च रागरागद्वेषादिशून्यता।
तपश्चर्या क्षमा शीलं गुरोराज्ञानुवर्तनम् ॥१०६॥

श्रीनानक बोले —: जहां भक्ति, श्रद्धा, राग-द्वेष-विहीनता, तपस्या, क्षमा, सुशीलता, गुरु-आज्ञा की मान्यता ... ॥१०६॥

नम्रता सर्वभूतेषु सतां सेवा मनीषिता।
तुच्छतृष्णा न यत्रास्ति वस्तु तत्रैव गच्छति ॥१०७॥

सब-जीवों में विनीत भावना, साधु-सेवा, बुद्धिमत्ता, तृष्णा-शून्यता आदि उदात्त-वृत्तियां रहें, वहीं पर वस्तु (सत्य-साधुता-सिद्धि आदि) भी संस्थित हो जाती है ॥१०७॥

गतं वस्तु निजस्थानं नागमिष्यति कर्हिचित्।
स्याद्युवयोरपिख्याति र्यात्रा नौ न संशयः ॥१०८॥

इसलिए गुरुत्वपद की सत्यवस्तु तो अपने समुचित स्थान पर जा चुकी है जो अब कभी लौटाई नहीं जा सकती। परन्तु तुम दोनो की भी विख्याति एवं संसार-यात्रा भली प्रकार होती रहेगी ॥१०८॥

इमां श्रुत्वा गुरोरास्यादाशिषं सुखदायिकाम्।
सुप्रसन्नौ सुतौ भूत्वा नतौ पादारविन्दयोः ॥१०९॥

उनकी सत्यवाणी को सुन कर व सुखदाई आशीष को स्वीकर कर वे (पुत्र) अति प्रसन्न हुए और उनके श्रीचरणों पर झुक गये ॥१०९॥

इदं कृत्वा समाधानं पुत्रयोः करुणानिधिः ।
निजं चित्तं ततो दत्तं निजानन्दमये विभौ ॥११०॥

इस प्रकार अपने पुत्रों की समस्या को सुलझा कर, श्रीनानक ने अपने निर्मल मन को, आनन्दस्वरप-परमात्मा के ध्यान में लगा दिया ॥११०॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत् ।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥१११॥

उपस्थेन्द्रिय से ऊपर और नाभि से नीचे के स्थान में "कन्दयोनि" एक कला है, जो पक्षी के अण्डे की आकृति रखती है । उसमें बहत्तर हजार (७२०००) नाड़ियों का संयोग है ॥१११॥

तेषु नाड़ीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ॥११२॥

उन में भी बहत्तर (७२) नाड़ियां प्रधान प्राणवाहिका मानी गई हैं और फिर उनमें भी दस (१०) नाड़ियों का विशेष महत्व है ॥११२॥

इड़ा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा योगिनां प्रिया ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥११३॥

उनके (१०) नाम ये हैं —ः इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा (हस्तीजिह्वा) पूषा, यशस्विनी ... ॥११३॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी मता ।
इड़ा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥११४॥

अलम्बुषा, कुहू (कुहू) और शंखिनी। इनमें इड़ा देह के वाम और पिङ्गला दक्षिण भाग में संस्थित है ॥११४॥

सुषुम्णा मध्यदेशे तु गांधारी वामचक्षुषि।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ॥११५॥

सुषुम्णा मध्य भाग में, गान्धारी बाईं आंख में, हस्तिजिह्वा दां आंख में और पूषा दायें कान में रहती है ॥११५॥

यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा।
कुहूश्चलिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी ॥११६॥

यशस्विनी बायें कान में, अलम्बुषा मुख में, कुहू (कुहू) उपस्थ में तथा शंखिनी मूलाधार में प्रतिष्ठित है ॥११६॥

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥११७॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल) देवदत्त और धनञ्जय, ये दस, देहस्थ वायु हैं ॥११७॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिदेशगः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥११८॥

प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में एवं व्यान वायु सारे शरीर में व्यापक है ॥११८॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने मतः ।
कृकरः (लः) क्षुतहेतुः स्याद्देवदत्तो विजृम्भणे ॥११९॥

डकार मारने में नाग, आंख खोलने-बन्द करने में कूर्म, भूख प्यास में कृकर (ल) और जम्भाई में देवदत्त वायु संयुक्त है ॥११९॥

नो जहाति मृतं चापि देहव्यापी धनञ्जयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥१२०॥

मृत-देह में भी संस्थित रहने वाला वायु धनञ्जय कहलाता है। ये सब वायु (१०) सब नाड़ियों में प्राण-बल को लेकर घूमते रहते हैं ॥१२०॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्न दृश्यते ॥१२१॥

प्राण और अपान वायु के झूलेमें झूलता-सा जीव, नीचे-ऊपर आता-जाता है। उसकी यह गति वाम-दक्षिण, दोनों रास्तों से होती है। परन्तु सूक्ष्मता एवं चंचलता के कारण उसका सद्यः ज्ञान नहीं होता है॥१२१॥

प्राणयुक्तस्य जीवस्य मुख्यस्थानं हि कुण्डली ।
कन्दोपरि प्रसुप्ता सा सार्धत्रिवलयाकृतिः ॥१२२॥

प्राण-संयुक्त जीव का प्रमुख-स्थान "कुण्डली" है। वह (कुण्डलिनी) पूर्वोक्त "कन्दयोनि कला" के ऊपर साढ़े तीन घेरे मार कर (चक्राकार) सर्पाकार में सोई पड़ी है ॥१२२॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्रन्ध्रं सा सुप्ता परमेश्वरी ॥१२३॥

जिस द्वार से जीव को ऊर्ध्व-गमन कर, ब्रह्मस्थान (कपालस्थ) पर पहुंचना है, उसके प्रवेश-छिद्र को अपने मुख से रोक कर, वह शक्ति (कुण्डली) लेटी पड़ी है ॥१२३॥

प्रबुद्धा बन्हियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥१२४॥

योगरूप अग्नि को मनोरूपवायु से प्रदीप्त कर, उसे (कुण्डली को) जगा लेने पर, वह धागापिरोई हुई सुई की तरह सुषुम्णा के मार्ग से ऊर्ध्वगमन करने लगती है ॥१२४॥

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥१२५॥

जिस प्रकार तालाबन्द द्वार को, कुञ्जी से खोला जाता है। ठीक उसी प्रकार योगी-जन, कुण्डली-शक्ति से मोक्ष द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) का उद्घाटन करते हैं ॥१२५॥

प्रेरिता वेदिवर्यैः सा समं प्राणैश्च चेतसा ।
ब्रह्मरन्ध्राद् गता देवी ब्रह्मस्थानमनामयम् ॥१२६॥

इसी विधि से श्रीनानक ने, योगाभ्यास द्वारा प्राण और मन की शक्ति के साथ २ संप्रेरित की हुई उस कुण्डली को ब्रह्मरन्ध्र में संप्राप्त-

किया और वहां से वह सीधी ब्रह्मधाम को चली गई कि जहां आधिव्याधि-उपाधिका का कोई लेश नहीं है ॥१२६॥

आत्मनश्च परेणैक्यं स्वतः सिद्धं न संशयः ।
पुर्यष्टका च सीमानं गता भित्वा निजाश्रये ॥१२७॥

तब स्वयमेव आत्मा (जीव) का परमात्मा से संमिलन हो गया और आठ पुरियां (देहस्थ-कोट) सीमा को तोड़कर अपने २ मूलाधार में (पृथिवी आदि तत्वों में) मिल गईं ॥१२७॥

कोटिसूर्यसमा जाताः प्रभास्तत्र विलक्षणाः ।
तदाकाशे जनैर्दृष्टा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥१२८॥

उस समय वहां पर अनन्त सूर्यों के उदय जैसा अलक्ष्य-प्रकाश फैल गया और समुपस्थित जनवर्ग ने देखा कि नभोमार्ग में श्री ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर, तीनों देव प्रकट हो गये ॥१२८॥

इन्द्रचन्द्रकुबेराद्याः सिद्धसङ्घाः समागताः ।
कृत्वा च श्रीगुरोर्यात्रां गतास्ते कृतकृत्यताम् ॥१२९॥

उनके साथ २ इन्द्र, चन्द्र, कुबेर आदि देवता, सिद्ध-महात्मा प्रभृति दिव्य-पुरुष भी दृष्टिगोचर हुए । वे सभी लोग श्रीनानक की दिव्यधाम यात्रा के सुअवसर पर पधारने की प्रसन्नता से अपने को बड़भागी मान रहे थे ॥१२९॥

भुवि सर्वेषु लोकेषु दिवि देवेषु सर्वतः ।
पुष्पवृष्ट्या समायुक्ता जयशब्दाः समुत्थिताः ॥१३०॥

भूलोक में मनुष्यों और देवलोक में देवताओं द्वारा प्रसन्नता-प्रदर्शन में फूलों की वर्षा के साथ २ जय-जयकार की ध्वनि, सब ओर गूंज उठी ॥१३०॥

एवं त्यक्त्वा मृषोपाधिं चित्स्वरूपेण राजते ।
विज्ञदृष्ट्या कृपासिन्धुर्यथा रामादयः सदा ॥१६०॥

इस प्रकार मिथ्याधार भौतिक-आकार का संहार कर, सत्य-सनातन ज्ञान दृष्टि से चिति-सत्ता में संविलीन श्रीनानक, उसी प्रकार शोभायमान हुए, कि जैसे श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी महापुरुष हो गए ॥१३१॥

यदा शिष्यैश्चितां कृत्वा पुष्पराशिर्निवारिता ।
नोपलब्धो गुरोर्देहो गतस्तत्त्वेषु लीनताम् ॥१३२॥

शिष्यलोगों ने दाह-संस्कार के लिए, जब चिता-निर्माण कर, श्रीनानक की संज्ञा हीन-काया से फूल हठाकर देखा, तो उनका देह भी अपने अपने मूल-तत्वों में विलीन हो चुका था, जो शिष्यों के हाथ नहीं लगा ॥१३२॥

वस्त्रदाहं तदा कृत्वा गता धाम निजं निजम् ।
देवाश्च श्रीगुरोर्लीलां वर्णयन्तः परस्परम् ॥१३३॥

तब केवल शव-देह के वस्त्रों को चिताग्नि में जला कर वे लोग अपने २ स्थान पर लौट आये उधर आकाश-गामी देवता भी उनके गुण-गौरव को स्मरण करते-कराते अपने २ आवास पर चले गये ॥१३३॥

यस्माज्जातं निखिलमनृतं यत्रजातोऽस्य नाशः
यो वै देवः सकलजगतां क्षेमयोगी करोति ।
यस्मिन् सन्तो विगतविषया वीतरागा विशन्ति
वन्दे देवं सुरनरनुतं नानकं निर्विकारम् ॥१३४॥

जिस परमाधार से यह सारा संसार प्रकट हुआ, जिससे यह स्थित है एवं जिसमें फिर समा जाएगा, ऐसा जो सर्वेश्वर सबका भरण-पोषण करता है और जिसमें विषय-विमुख, विरागी, सन्त-जन नित्य निमग्न रहते हैं। सुर-मुनि नर, जिस की सदा वन्दना करते हैं, उस निर्विकार-सच्चिदाकार श्री नानक-देव को अनंत २ प्रणाम ॥१३६॥

॥ छठा विश्राम समाप्त ॥



अथ सप्तमो विश्रामः

स्वीयसेवावशतोऽतिशीघ्रं ददौ निजाङ्गं नरदेव पूज्यः ।
गुरुः प्रसन्नो निजहार्दयुक्तं नमामि देवं गुरुमङ्गदाख्यम् ॥१॥

सातवां विश्राम प्रारम्भ

अपनी सत्य सेवा से सत्वर प्रसन्न हुए श्रीगुरु (नानक) से अंग-स्पर्श का सुख पाकर एवं सुर-मुनि-नर, सब से सम्मानित श्रीगुरु के चरण-कमलों का आश्रय लेकर, उत्तराधिकारी बने हुए श्रीगुरु अङ्गद-देव को कोटि २ प्रणाम ॥१॥

अङ्गदस्य गुरोर्वृत्तं श्रूयतामधुना जनाः ।
तस्य श्रवणमात्रेण चित्तशुद्धिर्भविष्यति ॥२॥

अब श्रीगुरु अङ्गददेव का पवित्र-चरित्र सुनिये, जिस के श्रवण-मात्र से अन्तःकरण शुद्ध-बुद्ध हो जाता है ॥२॥

श्रुत्वा च श्रीगुरोर्वृत्तं चिरं तूष्णीं बभूव सः ।
उदासीनमना भूत्वा प्राह सर्वमिदं वचः ॥३॥

अपने सद्गुरु श्रीनानक देव का महाप्रयाण हुआ सुन कर वे बहुत देर तक मौन रहे। फिर कुच्छ उदास-मन से अपने अनुयायी लोगों से कहने लगे ... ॥३॥

परप्रेमास्पदीभूते गते मृत्वाऽनुधावनम्।
वरं यद्यपि नैवास्ति गुरोराज्ञा तु तादृशी ॥४॥

यद्यपि यह ठीक है, कि अपने एकमात्र प्रेमाधार, परमीहेतू श्रीगुरु के परलोक सिधारने पर मुझे भी उनका अनुगमन करते हुए, जीवन-त्याग कर देना चाहिये, परन्तु विवशता यह है, कि वैसा करने की, उनकी आज्ञा नहीं मिल पाई ॥४॥

इदं प्रोच्य कृतं कृत्यं यथायोग्यं समन्ततः
महायज्ञं गुरोः कृत्वा प्राह बालमिदं वचः ॥५॥

तब उन्होने निर्वाण-प्राप्त सद्गुरु का, और्ध्व-दैहिक सब कृत्य, यथा-योग्य रीति से सम्पन्न कर, एक बड़ा भण्डारा किया और फिर बाल से कुछ बातचीत की ॥५॥

कथ्यतां भो महाभाग्य गुरोर्लीलाऽस्ति यादृशी।
त्वया सर्वानुभूता सा सर्वदा सहचारिणा ॥६॥

उन्होंने कहा, कि हे बाल, तुम बड़े भाग्यशील हो। तुमने उनके (श्रीनानक के) साथ रह कर अनेक विचित्र, किन्तु सत्य-घटनायें देखीं, सो अब यथाक्रम उनकी सब लीला-कथा मुझे भी सुनाओ ॥६॥

इदं श्रुत्वा च तेनोक्तं गुरोर्वृत्तं समन्ततः।
स्वसंकेतितवर्णैश्च तल्लिलेख गुरूत्तमः ॥७॥

उनकी आज्ञा से बाल ने यथानुभूत श्रीनानक का पवित्र-चरित्र कह सुनाया, जिसे उन्होंने अपनी सांकेतित-लिपि (गुरुमुखी) में लिख डाला ॥७॥

इन्द्रप्रस्थे हिमायूनोऽभवद्राजाऽतिविश्रुतः ।
बावरस्य सुतः कश्चित्तेन युद्धं चकार ह ॥८॥

उन दिनों में बाबर का बड़ा बेटा हुमायूं दिल्ली के तख्त पर बैठा हुआ था। अकस्मात उसका अपने ही किसी एक छोटे भाई से युद्ध छिड़ पड़ा ॥८॥

ततस्त्रस्तो नृपो भीरुः श्रीगुरुं शरणं गतः ।
गुरुस्तस्य परीक्षायं नास्यतामित्युवाच तम् ॥९॥

उससे भयभीत होकर हुमायूं, श्रीगुरु अङ्गददेव की शरण में आया। उन्होंने उसकी परीक्षा करने के लिये, उसे बैठने को नहीं कहा ॥९॥

चिरं स्थित्वा च कुप्वा च प्रोद्यतासिर्बभूव सः ।
स्तब्धहस्तो बभूवाशु यथास्थाणुरुवाच च ॥१०॥

कुछ देर तक खड़ा रहने के बाद वह क्रोध कर बैठा और तलवार उठा कर उन्हें रोब दिखाने लगा। परन्तु उसका वह खड्गवाला हाथ ज्यों का त्यों ठूण्ठ की तरह चेष्टाहीन हो गया। तब उसने पुनः विनीत-प्रार्थना की, ... ॥१०॥

नो महत्वं मया ज्ञातं त्राहि मां करुणानिधे ।
तस्यैतादृग्गिरं श्रुत्वा प्राह देवोऽद्य गम्यताम् ॥११॥

"हे दयालु, मैंने आपके महत्व को बिना जाने, शोक-दुःख से खिन्न-हृदय होकर जो अमानुषता दिखलाई है, सो आप क्षमा करें।' उसकी गिड़गिड़ाहट एवं परिस्थिति को देख-भाल कर श्री गुरु अङ्गददेव ने कहा, अभी तुम जाओ, आराम करो ॥११॥

द्वादशाब्दे गते काले निजस्थानमवाप्स्यसि ।
इदं श्रुत्वा नतिं कृत्वा गतः पूर्वनिजस्थलम् ॥१२॥

बारह बरसों के बाद तुम्हें फिर अपना तख्त हासिल होगा।" उनकी भविष्यवाणी सुनकर और बन्दगी कर वह अपने पूर्वस्थान (ईरान) को चला गया ॥१२॥

हरीके ग्रामनाथस्य ह्यपस्मारो निवारितः ।
जातस्तत्प्रमादेन पुनर्मृत्युमसौ गतः ॥१३॥

उन्होंने 'हरीके' गांव के नम्बरदार या हरीके नामी नम्बरदार को महा-रोग अपस्मार (मृगी-मिर्गी से) बचाया। परन्तु बाद में वह, उनके बताये पथ्य पर न टिकने से, पुनः उसी रोग से पीड़ित होकर मर गया ॥१३॥

दातू-दासिवति नामानौ गुरोः पुत्रौ बभूवतुः ।
परिणीताऽमरो कन्या सता वासरके पुरे ॥१४॥

उनके "दातू-दासू" नाम के दो लड़के थे और एक 'अमरो' नाम की लड़की थी, जिसकी शादी 'वासरके' गांव में हुई थी ॥१४॥

क्षत्रियोऽमरदासा ख्यस्तत्र चैको बभूव ह ।
गुरोर्वाणीं ततः श्रुत्वा प्राह देवीति कस्य भो ॥१५॥

वहां 'अमरदास' नाम का क्षत्रिय (खत्री) था। उसने गुरु-पुत्री 'अमरो' से गुरुवाणी को सुना, तो पूछने लगा, कि हे देवी ? यह किसकी शब्दावली प्रस्तुत की गई है ॥१५॥

गुरोर्नाम ततः श्रुत्वा श्रीगुरुं शरणं गतः।
नतिं कृत्वा वचश्चोक्तं पाहि मां करुणानिधे ॥१६॥

गुरु-पुत्री अमरो देवी से, श्रीगुरु अङ्गददेव का नाम सुनकर, वह सीधा उनकी शरण में गया और विनम्र-वन्दना कर बोला, कि हे कृपालु, मेरा उद्धार करो ॥१६॥

अहं सेवां करिष्यामि श्रीमतां पदकञ्जयोः।
गुरोर्भक्तिं विना दुःखं सर्वथा न विनश्यति ॥१७॥

फिर उसने साग्रह-प्रार्थना की, कि हे गुरुदेव, मैं आपके चरणों में रह कर, यथायोग्य सेवा करना चाहता हूं। क्योंकि सद्गुरु की भक्ति के बिना दुःखों का सर्वनाश नहीं हो सकता ॥१७॥

यथा वांछेत्यसौ श्रुत्वा तत्परस्तु बभूव सः।
यथारीति गुरोः सेवां सर्वथा कृतवानसौ ॥१८॥

उसकी सानुरोध विनय पर उन्होंने 'जो तेरी इच्छा, सो करो' कह दिया। तब वह यथाविधि, हर प्रकार से उनकी सेवा में तत्पर हो गया ॥१८॥

आनीय च नदीनीरं रात्रिकालेऽतिदूरतः।
कारयित्वा गुरोःस्नानं शेषकृत्यं चकार सः ॥१९॥

वह प्रतिदिन बड़े सवेरे उठ कर, दूरस्थ नदी से जल भर लाता और श्रीगुरु को स्नान-पानी करवा कर, बाद में सेवा के दूसरे कार्य निपटाता था ॥१६॥

एवं दिने दिने कृत्यं श्रीगुरोरनुकूलता ।
अकारि साधुभावेन द्वादशाब्दं निरन्तरम् ॥२०॥

इस प्रकार यथानियम उनके अनुकूल, पवित्र-सेवा-कार्य करते २ उसने बारह बरस बिताये ॥२०॥

रात्रौ कदापि हेमन्ते महावृष्टिः समागता ।
तदानेतुं जलं धीरो गतःशीते प्रभञ्जने ॥२१॥

एक बार हेमन्त (अगहन-पौष) ऋतु की एक रात में बड़ी वर्षा हुई । परन्तु अपने पूर्वाभ्यास-वश वह यथापूर्व, उस शीतभरे वायुकाल में भी जल लाने को नदी पर चला गया ॥२१॥

पङ्कयुक्तं च पन्थानं नैव दृष्ट्वा विकम्पितः ।
धुनीतीरं गतो धीरःसाऽपि वृद्धा जलागमैः ॥२२॥

मार्ग कीचड़ से भरा पड़ा था, जो साफ २ नजर भी नहीं पड़ता था । परन्तु फिर भी वह गुरुभक्त घबराया नहीं और नदी पर जाकर देखा, तो वह भी बाढ़ से आर-पार महाविस्तार पा चुकी थी ॥२२॥

नाभिदघ्ने जले गत्वा सर्वदा जलमाप्तवान् ।
धुनीवेगं तदा दृष्ट्वा गुरोर्ध्यानं चकार सः ॥२३॥

वह हर रोज नाभिपर्यन्त पानी में घुस कर ही जल लेता था। आज नदी के तीव्र-वेग को देख कर, उसने श्रीगुरु का ध्यान किया ॥२३॥

गतः शीघ्रं धुनौ धीरः स्थिता सा गुर्वचितया।
तत्र स्नात्वा हरिं ध्यात्वा पूरयित्वा च गर्गरीम् ॥२४॥

फिर साहस कर वह नदी में उतर पड़ा। तब श्रीगुरु के प्रताप से वह नदी शान्त-सी हो गई। अमरदास ने वहां स्नान-ध्यान कर अपनी गागर भर ली ॥२४॥

निजपन्थानमासाद्य गुरुवाणीं स्मरन्नसौ।
शीतवातैः समाक्रांतो गतः खण्डूरसन्निधिम् ॥२५॥

अपने मार्ग पर चलता २ वह गुरुवाणी का निरन्तर जप कर रहा था। भले ही शीतल-जल वायु से, उसका शरीर व्याकुल था। जब वह 'खण्डूर' के पास पहुंचा... ॥२५॥

तन्तुवायगृहस्थूणा नैव दृष्टा तमोन्तरे।
पपातायं तया स्पृष्टो नैव त्यक्ता तु गर्गरी ॥२६॥

तो एक जुलाहे के घर के पास गड़ी खूंटी को, अन्धेरे में उसने नहीं देखा और वह उससे टकरा गया। परन्तु स्वयं नीचे गिर कर भी उसने जलभरी-गागर को उठाये ही रक्खा ॥२६॥

कोऽसि रात्राविति श्रुत्वा तन्तुवायगिरं तदा।
प्राह नारी पतिं साध्वी ह्यमरोऽयं निराश्रयः ॥२७॥

घड़ाम-गिरने की आवाज़ सुन कर, अन्दर से जुलाहा बोल पड़ा कि अरे, तू कौन और क्यों यहां रात को आया है ? तब उसकी सुशीला नारी (जुलाही) ने पति (जुलाहे) को समझाया, कि रहने दो, यह बेचारा, अनाथ, अमरदास ही लगता है ॥२७॥

गतः स्नानं कारयित्वा श्रीगुरोस्तदनन्तरम् ।
अन्यसेवां चकारासौ भोजनाद्युपयोगिनीम् ॥२८॥

अमरदास सीधा गुरु-आश्रम पर आया और श्रीगुरु को स्नान-पानी करवा कर, दूसरी, भोजन-बनाने आदि की सेवाओं में लग गया ॥२८॥

सर्वमेतत्परिज्ञाय प्राह तं करुणानिधिः ।
कृतं कृत्यं त्वया साधो शिष्यते न च किंचन ॥२९॥

उसकी सारी आपबीती को स्वयमेव जानकर श्रीगुरु ने कृपा कर उसे कहा, कि प्यारे, तुमने करने योग्य सब काम पूरा कर लिया है। अब किंचिन्मात्र, उसमें कमी नहीं रही ॥२९॥

आश्रयो यस्य नैवास्ति सम्मानो न च विद्यते ।
तस्य दाता तयोः साधो त्वं भविष्यसि सर्वदा ॥३०॥

हे साधु, जिसका कोई सहारा, कहीं आदर नहीं है, उसको सहायता और सम्मान देने के लिए तुम ही सदा समर्थ हो सकोगे ॥३०॥

सतां सेवाप्रभावेन हरिभक्तेश्च सर्वदा ।
स्वल्पोऽपि गुरुतां याति यथा वाल्मीकिनारदौ ॥३१॥

सन्तों की सेवा के पुण्य-प्रताप और श्रीप्रभू की भक्ति के वर-प्रभाव से, छोटा आदमी भी बड़ा (उच्च-जीवन का) बन जाता है। इसमें श्रीवाल्मीकि और नारद, सर्वसम्मत प्रमाण हैं ॥३१॥

हरिभक्तो दरिद्रोऽपि सर्वतो वर उच्यते ।
सुप्रसिद्धं जगत्येतत्सुदामविदुरादिषु ॥३२॥

श्रीहरि का सेवक धन-हीन भी सब से श्रेष्ठ गिना जाता है। इसके उदाहरण, श्रीसुदामा और विदुर प्रभृति भक्त, संसार भर में प्रसिद्ध हैं ॥३२॥

महादुष्टकृतोपायैर्भक्तहानिर्न जायते ।
प्रत्युतेष्टस्य सिद्धिः स्याच्चन्द्रहासकुमारवत् ॥३३॥

श्रीप्रभु के सत्य-सेवक को, किसी दुष्ट की दुष्टता से कोई हानि नहीं पहुंचती। वरन् उसका और अधिक-हित ही होता है। इसमें चन्द्रहास कुमार (राजपुत्र) की कथा स्वयं एक आदर्श दृष्टान्त है ॥३३॥

हरिभक्तप्रतिज्ञा चेन्मृषाऽपि नो मृषायते ।
यथा सत्या कृता जाता देवेन भुवनेन च ॥३४॥

श्रीहरि का दास, कोई प्रतिज्ञा कर बैठे, तो वह अवश्य पूरी हो जाती है। भले ही वह कमज़ोर हो। जैसे भक्त भुवनदेव की निर्बल-प्रतिज्ञा को भगवान् ने निभाया अथवा जैसे अर्जुन के "जयद्रथ-वध" के प्रण को श्रीप्रभु ने पूरा किया ॥३४॥

देहप्राणादिसर्वस्वं यः समर्पयति प्रभुम् ।
सोऽपि तं च तथा याति रन्तिदेवबली यथा ॥३५॥

जो अनन्य-भक्त, श्रीहरि के चरणों में अपना देहप्राण आदि सर्वस्वसमर्पण कर देता है, उसको, श्रीभगवान् भी उसी प्रकार सब काम त्याग कर, अपनाते हैं। श्रीरन्तिदेव और बली का उपाख्यान, एतदर्थ पुष्ट-प्रमाण है ॥३५॥

यस्य कस्योपदेशेन श्रद्धालुः परमं सदम् ।
प्राप्नोति नात्र सन्देहो यथास्या द्बिल्वमङ्गलः ॥३६॥

समय पर संप्राप्त, जिस किसी के भी सदुपदेश से, श्रद्धावान् मनुष्य अवश्य ही उच्च-गति को पा सकता है। इसमें कोई शङ्का नहीं। श्रीभक्त बिल्वमङ्गल, इसके साक्षी हैं ॥३६॥

दासभावं हरौ कृत्वा हरिं दासं करोत्यसौ ।
विनायासं हरिं विन्देद्यथा धन्नात्रिलोचनौ ॥३७॥

श्रेष्ठ भक्त-जन, श्रीहरि में दास भावना कर, उन्हें अपना दास बना लेता है और अनायास ही उनका साक्षात् दर्शन करता है। इस पर श्रीधन्ना और त्रिलोचन की कथा प्रसिद्ध ही है ॥३७॥

देहमोहं परित्यज्य तन्मयस्तु भवेन्नरः ।
यः स शीघ्रं हरिं याति भक्तदासनृपो यथा ॥३८॥

शारीरिक-मोह को त्याग कर, जो साधक प्राणपन से श्रीप्रभु के ध्यान में तल्लीन हो जाता है, उसे अतिशीघ्र उनकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे राजा भक्तदास ने कर दिखाया ॥३८॥

योगक्षेमावधि त्यक्त्वा सदा विष्णुपरायणाः ।
केचिद्धीरा यथा जाता अम्बरीषादि सज्जनाः ॥३९॥

राजा अम्बरीष प्रभृति कई उत्तम-भक्त ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने अपना योग-क्षेम (लोक-निर्वाह) का सारा भार भी श्रीमन्नारायण के ही सुपुर्द कर रक्खा था। वेसब भवसे तर गये ॥३९॥

येन केन प्रकारेण सतां सेवां करोति यः ।
कृपापात्रं हरेर्ज्ञेयो यथा निष्किचनो जनः ॥४०॥

जैसे कैसे बन सके, सन्तों की सेवा करने से, सेवक को यथा-समय उसका श्रेष्ठ-फल मिलता ही है, कि छोटे से छोटा व्यक्ति भी, श्रीहरि की कृपा का पात्र बन जाता है ॥४०॥

सतां सेवा कृता साधो त्वया तस्याः फलं च ते ।
दीयते सत्यनामैवं तदभ्यासो विधीयताम् ॥४१॥

हे प्रिय, तुमने मन लगाकर सन्तों की, निरन्तर सेवा की है। उसके फल-स्वरूप ही अब 'सत्यनाम' की दीक्षा तुम्हें दी जाती है। तुम इसका यथेष्ट अभ्यास करो ॥४१॥

सत्यनाम्नस्ततारस्य विद्धि मात्राचतुष्टयम् ।
प्रथमाकारमात्रा स्यादुकाराख्या द्वितीयका ॥४२॥

तारक सत्यनाम की चार मात्राएं होती हैं। पहली अकार, दूसरी उकार, ... ॥४२॥

मकाराख्या तृतीया स्यादर्धमात्रा तुरीयका ।
चतुर्धा तु विभज्यैताः षोडशापि वदन्ति हि ॥४३॥

तीसरी मकार और चौथी है अर्धमात्रा-स्वरूपिणी। फिर इन चारों को चौगुणा कर सोलह मात्राएं भी बतलाई गई हैं ॥४३॥

विश्वजीवो विराडीशो द्वावुपाधी तदीयको।
जाग्रच्चैतदाकारार्थं प्राह वेदो न संशयः ॥४४॥

वेदों में क्रमशः "अकार" को, विश्व-जीव (संसार-स्वरूप) विराट्-परमेश्वर (जगदीश-स्वरूप) और जाग्रत् (होश) की दशा का ज्ञापक बतलाया गया है। इसमें किसी को कोई मतभेद नहीं है ॥४४॥

सूत्रात्मा तैजसाख्यश्च द्वावुपाधी तदीयको।
स्वप्नश्चैतदुकारार्थं विद्धि साधो न संशयः ॥४५॥

"उकार" को सूत्रात्मा (निर्माता-स्वरूप), तैजस (प्रकाश-स्वरूप) और स्वप्न (शयन) दशा का बोधक कहा गया है। यह भी निर्विवाद ही है ॥४५॥

प्राज्ञजीवोऽथ मायेशो स्यात्सुषुप्तिस्तुरीयका।
भवेद्वाच्यं मकारस्य वेदवाक्यात्प्रतीयते ॥४६॥

'मकार' को प्राज्ञ-जीव (प्रबुद्ध-स्वरूप), मायेश (मायापति) और सुषुप्ति तथा तुरीया (अर्धजागृत-अर्ध-स्वप्न, और मस्ती-आनन्द) की दशा का सूचक समझाया गया है। यह मत भी वेदोक्त ही है ॥४६॥

अर्धमात्रा न वाच्या स्याद्यथा वाच्यं तदीयकम्।
तयोर्भेदोऽपि चैवं स्याद्धेमकुण्डलयोर्यथा ॥४७॥

"अर्धमात्रा' को शब्दों की अगोचर कहा है। उसकी वाच्यता शब्दातीत है। परन्तु 'मकार' में ही उसका अन्तर्भाव, ठीक उसी प्रकार है, कि जैसे कुण्डल में सोना रचा-पचा हुआ रहता है। इसीलिए उसके भेद को अभेद माना है तथा भेद-दृष्टि को भी हेम और कुण्डल की सादृश्यता प्रदान की गई है ॥४७॥

चेतनाचेतनं सर्वं तारवाच्यं दिशानया ।
सत्य एकश्चिदात्मा स्यात्कल्पितं सकलं जडम् ॥४८॥

इस प्रकार जड़-चेतन सब कुछ तारक "ॐकार" का ही वाच्य है। वास्तव में एक, नित्य, सत् चित् आत्मा ही सत्य है। अन्य सभी जड़ एवं कल्पित 'पदार्थ हैं ॥४८॥

अकारो वाच्यसंभि न्न उकारान्न च भिद्यते ।
सोऽपि वाच्येन संभिन्नो नो मकाराद्विभिद्यते ॥४९॥

इनकी (अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा की) एकता में कोई बाधा नहीं पड़ती। यद्यपि वाच्यार्थ से ये पृथक २ अवस्था को सूचित करते हैं, तो भी लक्ष्यार्थ-तत्वरूप से ये एक ही हैं ॥४९॥

तं च वाच्येन संभिन्नमर्धमात्रात्मकं विदुः ।
सैव ब्रह्मस्वरूपा स्यादिति मे निश्चिता मतिः ॥५०॥

मकार को ही वाच्यार्थ से संभिन्न हुआ, अर्धमात्रात्मक समझो। इस प्रकार इनकी वास्तबिक स्वरूपैकता जैसी ही ब्रह्म की स्थिति भी है। अर्थात् अनेक में एक को सर्वतत्व-स्वरूप जान लेना ही परमार्थ-सिद्धि है। ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ॥५०॥

इमां चिन्तां सदा कृत्वा परं ब्रह्म विचिन्तयेत् ।
यस्तु तस्य निजानन्दो निराकारः प्रमीयते ॥५१॥

इस विचारधारा के अनुसार, जो साधक नित्य-निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न है, उसके लिए वह निराकार, निरञ्जन-स्वरूप, परमानन्दमय पद (ब्रह्मैकता) यथासमय सुलभ हो जाता है ॥५१॥

सत्यनाम्नो विचारस्य रूपमेतन्मयोदितम् ।
तारकं वस्तु जीवस्य तत्परं न च विद्यते ॥५२॥

यह मैंने संक्षेप से सत्यनाम (ॐकार) के विचारयोग्य स्वरूप का वर्णन किया है । इससे बढ़ कर दूसरी कोई साधना नहीं है, जो जीव का परमकल्याण कर सके ॥५२॥

रामनाम्नस्तु शास्त्रेषु यन्महत्वं विधीयते ।
शिवोऽपि तद्विजानाति वाल्मीक्यादिमहर्षयः ॥५३॥

श्री रामनाम के महान् महत्व को सब शास्त्रों ने माना है । श्रीशिवजी एवं वाल्मीकि प्रभृति महर्षि लोग उसे भली प्रकार जानते हैं ॥५३॥

अतः साधो त्वयाभ्यस्यं हरेर्नाम निरन्तरम् ।
ततो ध्यानं ततो ज्ञानं ततो मोक्षो निरंकुशः ॥५४॥

इसलिए हे साधु, तुम भी उसी परम्परा के अनुसार श्री हरिनाम का निरन्तर अभ्यास करो । उसी से ध्यान, ज्ञान और तदनन्तर मुक्ति का परमलाभ हो जायेगा ॥५४॥

इमां श्रुत्वा गुरोराज्ञां तत्परस्तु बभूव सः ।
गुरुं प्रदक्षिणीकृत्य नतः पादारविन्दयोः ॥५५॥

श्रीगुरु अङ्गददेव की परमपवित्र आज्ञा को शिरोधार्य कर उसने, तदनुसार चलने का सत्सङ्कल्प करते हुए, उनकी प्रदक्षिणा कर, चरणों पर मस्तक झुका दिया ॥५५॥

दिव्यसिंहासने शिष्यं स्थापयित्वा स्वपाणिना ।
कृता पूजा सवृद्धेन यथारीति दयालुना ॥५६॥

तब उसे एक सुन्दर आसन पर बिठा कर, उन्होंने अपने साथी वृद्ध (जिसको श्रीनानक के वरदान से दीर्घायु प्राप्त थी) के साथ, स्वयं उसकी पूजा की ॥५६॥

सर्वशिष्यैस्ततः पूजा कृता जातो महोत्सवः ।
पुष्पवृष्टिस्तदा जाता कृता देवैश्च मानवैः ॥५७॥

फिर अन्य शिष्यों ने भी उसकी (अमरदास की) पूजा की और बड़ा भारी उत्सव मनाया । आकाश से देवता और धरती से मनुष्यों द्वारा उस पर सहर्ष फूल बरसाये गये ॥५७॥

क्षत्रजातिश्च गोंदाख्यः श्रीगुरुं शरणं गतः ।
प्राह देवं कृपासिन्धो ग्राम एको मया कृतः ॥५८॥

एक दिन कोई 'गोंदा' नामक क्षत्रिय, वहां आया और कहने लगा, कि हे दयालु, मैंने एक गांव बसाया है...॥५८॥

पिशाचास्तत्र चायान्ति गृहोत्पाटनहेतवे ।
आविशन्ति जनान्मूढा मारयन्ति निरंकुशाः ॥५६॥

लेकिन वहां जब-तब कई भूत-प्रेत आकर, लोगों के घरों को बर्बाद करते और उनमें प्रविष्ट होकर, जन-साधारण का संहार करते हैं ॥५६॥

श्रीमतां यदि वासो हि तत्र भूयान्निरन्तरम् ।
तदा जाने कृपासिन्धो नोद्भवेत्स उपद्रवः ॥६०॥

इसलिए हे गुरुदेव, यदि आप वहां चल कर कुछ दिन निवास करें, तो मुझे पूरी आशा है, कि उन पिशाचों का वह उपद्रव समाप्त हो जाएगा ॥६०॥

इति श्रुत्वा गुरुश्चाहामरदासं गुरुं प्रति ।
गच्छ साधो नदीतीरं तत्र वासोविधीयताम् ॥६१॥

'गोंदा' की विनीत-प्रार्थना सुन कर श्रीगुरु अङ्गददेव ने, श्रीगुरु-अमरदास को कहा, कि हे प्रिय, तुम वहां जाओ और नदी के तीर पर अपना आसन लगाकर कुछ दिन रहो ॥६१॥

यत्र कष्टं कृतं मार्गे तत्र सुन्दरवाहनैः ।
गम्यतां तेन भक्तोऽयं कृतकृत्यो भविष्यति ॥६२॥

जहां कहीं रास्ता दुखदाई लगे, वहां घोड़े आदि उपयुक्त सवारी से तुम यात्रा करना । इस प्रकार इस भक्त (गोंदा) को प्रसन्नता होगी ॥६२॥

इति श्रुत्वा गुरोराज्ञां नतः पादारविन्दयोः ।
गुरुम्प्रदक्षिणीकृत्य पुनर्नत्वा गतोऽवशः ॥६३॥

श्रीगुरु की आज्ञा मान कर, वह उठा और उनकी वन्दना की । फिर प्रदक्षिणा कर, पुनः प्रणाम कर, अपने मार्ग पर चल दिया ॥६३॥

तत्र गत्वा च गोंदाय दत्तवान्करवेत्रिकाम् ।
अहा देवोऽनया साधो यत्र यत्र गमिष्यसि ॥६४॥

वहां जाकर श्रीगुरु अमरदास ने गोंदाभक्त को एक छड़ी, अभिमन्त्रित कर दे दी और कहा, कि इसे अपने साथ रखकर तुम जहां कहीं जाओगे ... ॥६४॥

तत्र तत्र पिशाचानां न प्रवेशो भविष्यति ।
यथाकामं व्रज त्वं भो ग्रामेऽभीप्सितमाप्नुहि ॥६५॥

वहां २ कभी उन दुष्ट-दानवों का प्रवेश नहीं होगा। तुम यथेष्ट ग्राम में जाओ और अपना मनोरथ पूरा करो ॥६५॥

इदं श्रुत्वा गतो गोंदो मनोवांछितभूमिकाम् ।
वेष्टयित्वा कृतो ग्रामो मध्ये च गुरुमन्दिरम् ॥६६॥

उनकी आज्ञानुसार, वह उस छड़ी को लेकर, अपनी पसन्द की हुई भूमि पर गया और चारों ओर से उसे छड़ी से घेरा देकर वहां, पुनः उसने गांव को बसाया और उसके मध्य में एक सुन्दर गुरु-मन्दिर भी बनवाया ॥६६॥

इदं कृत्वा गुरोर्वासः कारितो वरधामनि ।
सर्वसेवां सदा कृत्वा निजं कृत्यं चकार सः ॥६७॥

यह सब कुछ कर-कराकर, उसने श्रीगुरु अमरदास को एक सुन्दर भवन में ठहराया और हर प्रकार से उनकी सेवा-सुश्रुषा करने के बाद, वह अपना काम करता था ॥६७॥

तत्र वृत्तमिदं जातं खण्डूरस्य यथोच्यते ।
तपस्वेको बभुवात्र मृषा मानी निरंकुशः ॥६८॥

वहां तो ऐसा शान्त-वातावरण संस्थापित हो गया । अब 'खण्डूर' की घटना सुनिये, कि वहां एक साधु रहता था, जो वृथाभिमान एवं अनाप-शनाप की वाणी बोलता था ॥६८॥

तेन चेर्ष्या वृथाकारि क्षमाशीलेऽपि सद्गुरौ ।
इदं वृत्तं तदा श्रुत्वागतो देवस्तृतीयकः ॥६९॥

इसने अकारण ही, श्रीगुरु अङ्गददेव से द्वेष बढ़ा लिया, जो कि अत्यन्त क्षमाशील एवं साधु-स्वभाव के आदर्श माने जाते थे । यह घटना सुन कर, तीसरे गुरु श्रीअमरदास वहां आ पहुंचे ॥६९॥

सुप्रसिद्धा दशा तस्य यथा जाता तपस्विनः ।
मूर्खस्यतु विना दण्डं प्रतीकारो न विद्यते ॥७०॥

तब उस मूर्ख-साधु की जो दुर्दशा हुई, सो सारी कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है । मूढ़ को डण्डे से ही सुधारा जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥७०॥

चिरकाले गतेचैवं श्रीगुरुः करुणानिधिः ।
मृषाऽहं परित्यज्य गतो धाम निजं प्रति ॥७१॥

उस के कुछ समय के बाद, श्रीगुरु अङ्गददेव, इस नश्वर शरीर को त्याग कर, अमरधाम को चले गये ॥७१॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वृत्तं शिष्यसङ्घसमागतो ।
महायज्ञं गुरोः कृत्वा गोंदवालं गतो गुरुः ॥७२॥

उनके महाप्रस्थान को सुन कर जहां-तहां से शिष्य लोग वहां आ पहुंचे । तब उनकी यथोचित अन्तिम-क्रिया करने के बाद, श्रीगुरु अमरदास ने एक बड़ा भण्डारा किया और फिर वे गोंदवाला में आ गये ॥७२॥

तत्रापि श्रीगुरोर्यज्ञं गुरुदेवश्चकार ह ।
कीर्तनं गुरुवाक्यानां तदा जातं च नित्यशः ॥७३॥

वहां भी उन्होंने निर्वाण-प्राप्त, अपने गुरु के उपलक्ष्य में एक भण्डारा किया और प्रतिदिन वहां निरन्तर गुरुवाणी का अखण्ड पाठ होता रहा ॥७३॥

॥ सातवां विश्राम समाप्त ॥



अथाष्टमो विश्रामः

'अमरं गुरुदेवमहं सततं प्रणमामि निरन्तरमेकरसम् ।
गुरुपादसरोज अनन्यरतिं हरसिंहकृपायतनं विमलम् ॥१॥

आठवां विश्राम प्रारम्भ

परमानन्द-रस-सेवी, गुरु-चरणों के अनन्य-भक्त, शिष्यों पर आश्रय-सुख-वर्षी, श्रीगुरु अमरदास को अनन्त प्रणाम ... ॥१॥

एवं दिने दिने तेजोऽजायताभ्यधिकं गुरोः ।
शिष्यसङ्घाः समागच्छन्मनोवांछितसिद्धये ॥२॥

इस प्रकार दिनों दिन उनका तेज-बल बढ़ता गया और असंख्य शिष्य लोग, अपनी २ कामनापूर्ति के लिए, उनकी सेवा में आने जाने लगे ॥२॥

कश्चिदेको गुरोः शिष्यो भ्रातृजः श्रावणाभिधः ।
गुरोराज्ञानुसारेण गतः कुत्रापि पर्वते ॥३॥

उनका एक शिष्य 'श्रावण' जो उनका भतीजा भी था, उनकी ही आज्ञा से कहीं दूर पर्वत की ओर चला गया ॥३॥

तद्देशस्य मृतो राज्ञस्तदा पुत्रोऽपमृत्युना ।
प्राह लोकानयं श्रुत्वा रोदनं राजमन्दिरे ॥४॥

उस प्रदेश के राजा का एक पुत्र, अकाल-मृत्यु से मरा पड़ा था । उधर से राजभवन के अन्दर, शोकपूर्ण रुदन को सुनकर, उसने लोगों से पूछा ... ॥४॥

किं निमित्तो विलापोयमिति श्रुत्वा त ऊचिरे ।
राजपुत्रमृतिः साधो तद्विलापस्य कारणम् ॥५॥

लोगों ने सुनाया, हे साधु, यहां के राजा का पुत्र मर गया है । उसी के कारण-दुःख से राजघर में रोना-धोना मचा हुआ है ॥५॥

जीविष्यति शिशुः प्राह श्रावणोऽथ जनानिति ।
इदं श्रुत्वा गतो राजा तस्य पादौ गृहीतवान् ॥६॥

तब 'श्रावण' (साधु) ने जनता से कहा, "कि यह बालक (राजपुत्र) जी उठेगा ।" उसकी यह भविष्यवाणी सुनते ही, राजा स्वयं वहां आकर, उसके चरणों पर गिर पड़ा ॥६॥

प्राह एहि कृपासिन्धो गम्यतां मम मन्दिरे ।
राजवाक्यमिदं श्रुत्वा गतो बालकसन्निधिम् ॥७॥

उसने विनीत प्रार्थना की, कि हे कृपालु, आप मेरे भवन में पधारें । राजा की साग्रह-विनय पर वह वहां गया और जाते ही मृत-बालक के पास खड़ा हो गया ॥७॥

क्षालयित्वा गुरोर्वस्त्रं सिंचिता तनुरस्य वै ।
जीवयुक्तस्तदा भूत्वा बालचेष्टां चकार सः ॥८॥

फिर उसने अपने गुरु से प्राप्त, वस्त्र-खण्ड को भिगो कर, उस निर्जीव बालक का शरीर सींचा । यह करना ही था, कि वह बालक जीवित होकर, शिशु-अनुकूल चेष्टाएं करने लगा ॥८॥

गुरुशिष्यस्तदा जातो नृपो बालेन संयुतः ।
पुष्टेतच्च जनाःसर्वे गताः श्रीगुरुशिष्यताम् ॥९॥

इस योग-बल से प्रभावित होकर, वह राजा, अपने पुनर्जीवित-पुत्र के साथ २ उसके गुरु (श्री अमरदास) का शिष्य बन गया । राजा का अनुकरण करते २ और भी अनेक लोग शिष्य हो गये ॥९॥

दारुराशिस्तदा राज्ञा प्रेषितो गुरुसन्निधौ ।
स्वयं काले गते स्वल्पे गतः पुत्रादिसंयुतः ॥१०॥

राजा ने समयोपयोगी काष्ठ-संग्रह कर, श्रीगुरु के आश्रम में भेज दिया और उसके थोड़े दिनों के बाद वह अपने परिवार-सहित, उनकी सेवा में समुपस्थित हुआ ॥१०॥

रत्नजातैः कृता पूजा श्रीगुरोः स्वजनैःसमम् ।
किंचित्कालं कृतो वासो गतश्चाज्ञानुसारतः ॥११॥

उसने अपने बन्धुओं सहित, अनेक बहुमूल्य रत्नों की भेंट चढ़ाकर उनकी विशेष-पूजा की । कुछ समय तक वहां निवास किया और फिर उनकी आज्ञा से वह अपने भवन को लौट आया ॥११॥

तस्य नार्या यथावृत्तं चैनसङ्गो यथानया ।
तस्यसिद्धिर्यथा लोके सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥१२॥

उसकी रानी की कैसी अवस्था होगई और उसने भी श्रीगुरु की सत्सङ्गति से कैसी सिद्धि प्राप्त की, यह सारी कथा अपने सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है ॥१२॥

सजीवोऽभूद्यथा बालो यथा वापी च कारिता ।
माणको जीवडो जातो दुर्गस्य विजयो यथा ॥१३॥

उनका वह मृत-बालक, कैसे पुनर्जीवित हुआ, किस प्रकार, उसके मङ्गल-कृत्यों के अनुसार, एक सार्वजनीन बावली का निर्माण हुआ, उनके अन्न-सत्र का एक अधिकारी (भण्डारी), कोई "जीवड़ा" नामक सेवक कैसे बन गया, उस प्रदेश के, शत्रु-हस्त-गत किले पर पुनः स्वाधिकार कैसे हुआ ? ॥१३॥

सुप्रसिद्धं तथावृत्तं शिष्यलोकेषु सर्वदा ।
ग्रन्थवृद्धिभयादेतन्नातिविस्तरितो मया ॥१४॥

अपनी शिष्य-परम्परा में, वह सारा वृत्तान्त विख्यात है । अतः इस ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से, उसे यहां पूरा २ नहीं लिखा, वरन् संकेत-मात्र किया गया है ॥१४॥

हन्दालाख्यो बभूवैको गुरोः शिष्योतिसेवकः ।
प्रतिनित्यं चकारासौ सेवां रासवतीं गुरोः ॥१५॥

श्रीगुरु का एक "हन्दाल" नाम का सेवक था वह प्रतिदिन उत्तम भोजन बनाने की सेवा से, उन्हें प्रसन्न करता था ॥१५॥

कदाचित्त्वागतो देवः समं शिष्यैर्महानसम् ।
हन्दालस्तु समायातश्चूर्णलिप्तकरस्तदा ॥१६॥

एक दिन श्रीगुरु, अपने कुछ शिष्यों के साथ २ भण्डारे (रसोई घर) में चले आये । तब 'हन्दाला' आटे से लिपे-हाथों में ही उनके सामने हुआ और ... ॥१६॥

पृष्टहस्तश्चकाराशु नतिं श्रीगुरुपादयोः ।
प्राह देवो भवेदेवं सम्प्रदाये सदा तव ॥१७॥

उसने पीठ-पीछे हाथ ले जाकर, उनके श्रीचरणों की वन्दना की । तब उन्होंने कहा, कि अरे, तुम्हारे सम्प्रदाय (वंश) में यही प्रथा, प्रणाम करने के लिये चालू रहेगी ॥१७॥

क्षत्रजातिरभूदेको रामदासाभिधः सुधीः ।
शिष्यभावं गतो बालो गुरुपादारविन्दयोः ॥१८॥

'रामदास' नाम का एक क्षत्रिय-बालक था । बुद्धिमान् वह बालक भी श्रीगुरु अमरदास जी के चरणों में आया और उनका शिष्य बन गया ॥१८॥

तस्य भाग्यं च शीलं च भक्तिमव्यभिचारिणीम् ।
प्राह दृष्ट्वा स्वयं देवः स्थीयतामत्र पुत्रक ॥१९॥

उसके भाग्य, चरित्र, एकान्त भक्तिभाव आदि को देखकर श्रीगुरु ने प्रसन्न होकर कहा, कि बेटा ? तुम हमारे पास ही रहो ॥१९॥

महाभाग्यं निजं ज्ञात्वा प्राह श्रुत्वा गुरूत्तमम् ।
सदा वांछा मदीयापि सद्गुरोः पदसेवने ॥२०॥

श्रीगुरु की कृपायुक्त-आज्ञा सुनकर उसने अपने को बड़भागी माना और कहा, कि हे देव ? आपकी चरणसेवा में ही रहने का, मेरा विचार है ॥२०॥

गुरोः आवुभौ पुत्री जाता भानीति नामिका ।
सातिभक्ता हरेर्देवी रामदासाय चार्पिता ॥२१॥

श्रीगुरु के दो पुत्र और एक पुत्री थी। बेटी का नाम 'भानी' था। वह देवी श्रीहरि की परम-भक्ता थी। श्रीगुरु ने उसको रामदास के साथ ब्याह दिया ॥२१॥

गुरोःपुत्रौ सुपात्रैवं रामदासस्तथैव च ।
गुरो राज्ञानुरोधेन सदा सेवासु तत्पराः ॥२२॥

इनके दोनों पुत्र और शिष्य रामदास, सब श्रेष्ठसेवक थे। वे उनकी आज्ञानुसार हमेशा सेवा में लगे रहते थे ॥२२॥

सत्यनामोपदेशेन गता बोधं निजात्मनः ।
तथापि प्रेमबाहुल्यं रामदासे दिनेदिने ॥२३॥

उन सब को श्रीगुरु-मुख से, सत्यनाम के उपदेश द्वारा, आत्मबोध

हो चुका था। परन्तु रामदास पर, श्रीगुरु का प्रेम, प्रतिदिन बढ़ता हो गया ॥२३॥

रात्रिशेषे समुत्थाय क्रियां स्वस्य चकार सः।
स्नानशौचादिरूपाया गुरोःसेवां तदुत्तरम् ॥२४॥

वह (रामसदास) बड़े सवेरे उठ कर, अपनी नित्य-क्रिया समाप्त कर लेता और फिर श्रीगुरु की पवित्र-सेवा में लग जाता था ॥२४॥

कदाचित्स गुरुं धीरः प्राह कोमलया गिरा।
भक्तिरूपं प्रभो वाच्यं गुरुगोविन्दयोर्यथा ॥२५॥

एक दिन उसने बड़ी नम्रता से श्रीगुरु से प्रार्थना की, कि हे देव ? कृपा कर श्रीगुरु एवं श्रीगोविन्द की भक्ति का स्वरूप समझाईये ॥२५॥

श्रीगुरुरुवाच —: मुख्यभक्तिस्तु विज्ञेया गुरोराज्ञाप्रतीक्षणम्।
नैव शङ्का गुरोर्वाक्ये करणीया सदैव हि ॥२६॥

श्रीगुरु ने कहा—: अपने सद्गुरु की आज्ञा का पालन करना ही श्रेष्ठ-भक्ति है। शिष्य को चाहिये, कि कभी अपने गुरु की वाणी पर, कोई सन्देह न करे ॥२६॥

अभिप्रेतं च कर्तव्यं सदा सत्यनिवेर्गुरोः।
सतां सङ्गश्च कर्तव्यः सन्ति ये गुरुसन्निधौ ॥२७॥

सदा अपने गुरु की सत्य-कामना को पूरा करना और गुरु-आश्रम में प्रतिष्ठित सन्तों की सङ्गति करना भी शिष्य का एक प्रधान कर्तव्य है ॥२७॥

यत्र सन्ति गुणाःसर्वे तत्वबोधोपकारिणः ।
स एव सद्गुरुर्ज्ञेयो गुणैस्तत्पदवाच्यता ॥२८॥

जिस में तत्व-ज्ञान के समुपयुक्त सब गुण विद्यमान हैं, वही व्यक्ति गुरु कहलाने का अधिकारी है। क्योंकि विशिष्ट गुणों से ही गुरुत्व-पद प्राप्त होता है ॥२८॥

ईदृशस्य गुरोर्भक्त्या शिष्यकल्याणसम्भवः ।
अतः पथ्यं गुरोर्भक्तिर्दीर्घरोगनिवृत्तये ॥२९॥

ऐसे सर्वगुण सम्पन्न सद्गुरु की सेवा से ही शिष्य का मङ्गल होना सम्भव है। इसलिए श्रीसद्गुरु की भक्ति ही, संसार-व्याधि से छूटने का एक मात्र पथ्य है ॥२९॥

हरेर्भक्तिस्तु विज्ञेया हरौ प्रेमात्मिका शुभा ।
औषधं दीर्घरोगस्य सैव साधोऽभिधीयते ॥३०॥

इसके बाद श्रीप्रभु की भक्ति, जो कि विशुद्ध-प्रेम स्वरूपा है, वही जगत्-रोग की परमौषध है। ऐसा ही सत्-सिद्धांत है ॥३०॥

श्रवणादिस्वरूपा या सापि प्रेमविवर्धिका ।
गुरोराज्ञानुसारेण सापि कार्या मुमुक्षुणा ॥३१॥

इस भक्ति के जो अन्य श्रवण, कीर्त्तन आदि भेद हैं, उनका सेवन भी, श्रीगुरु की आज्ञानुसार साधक को करना चाहिये। क्योंकि उनसे भी यथाक्रम अन्तिम-दशा (प्रेमाभक्ति) की प्राप्ति होती है ॥३१॥

भाव्यमानं विना भक्तैर्दृश्यते वस्तु न प्रियम् ।
दीयमानोपि नो दृष्टो रैदासेन यथा मणिः ॥३२॥

सत्य-साधक भक्त-जन, अपने भावगम्य इष्ट के बिना और कहीं नजर नहीं रखते । देखो, भक्त रविदास को दिव्य मणि भी मिल रही थी, परन्तु उसने उसकी ओर देखा तक नहीं ॥३२॥

अपकारं न कुर्वन्ति दुर्जनेष्वपि सज्जनाः ।
उपकारं तु कुर्वन्ति कविराजेश्वरो यथा ॥३३॥

श्रीहरि के प्रेमी-भक्त, कभी किसी की कोई बुराई नहीं करते । वरन्, वे हर किसी की भलाई ही करते हैं । भले ही कोई उनका वैरी ही क्यों न हो । इस पर कविराजेश्वर का उदाहरण स्पष्ट है ॥३३॥

हरिमुद्दिश्य भक्तानां गर्तपातोऽपि शोभते ।
वांछितस्याथ लाभः स्याद्य थाप्रह्लादपीपयोः ॥३४॥

श्रीहरि के कारण, यदि भक्तों को गढ़े में भी गिरना पड़े, तो वह परिणाम-मधुर होता है । इससे भक्ति-युक्तभक्त की कठिन परीक्षा के बाद, उसे मनोकामना का सुन्दर फल मिलता है । इसमें भक्त प्रह्लाद और पीपा की कथा प्रसिद्ध है ॥३४॥

दुष्टलोकोपहासेऽपि सम्महत्वं न हीयते ।
सद्भुतास्य भवेद्वृद्धिर्यथान सींकबीरयोः ॥३५॥

दुर्जनों द्वारा उपहास होने पर भी, सन्त-भक्तों की महिमा कभी

नहीं घटती। वरन् उसमें और अधिकता आ जाती है। जैसे कि भक्त नरसी और कबीर का इतिहास है ॥३५॥

सर्वकार्येषु भक्तानां नामैव शरणं सदा।
अत्र मानं कथा साधो पद्मनाभकबीरयोः ॥३६॥

जीवन की प्रत्येकदशा में भक्तों को, एक मात्र श्रीभगवन्नाम का ही प्रबलआश्रय होता है। इस में भक्त पद्मनाभ और सन्त कबीर का उदाहरण स्पष्ट है ॥३६॥

भक्तभक्तिप्रभावेन जडोऽपि चेतनायते।
सुप्रसिद्धं यथा लोके नामदेवेन मन्दिरम् ॥३७॥

आदर्श भक्त की भक्ति के प्रताप से जड़-पदार्थ भी चेतनमय व्यवहार करने लगते हैं। भक्त नामदेव द्वारा अचल-मन्दिर को चल के तुल्य होना पड़ा। यह घटना भक्त-संप्रदाय में सुप्रसिद्ध है ॥३७॥

बन्धुवर्गं निजं त्यक्त्वा यस्तु देवपरायणः।
तस्य बन्धुःस्वयं देवो भवेन्माधवदासवत् ॥३८॥

जो भक्त, सांसारिक-सम्बन्धियों को त्याग कर, एकमात्र श्रीमन्नारायण के शरणापन्न हो जाता है, उसका सर्वेसर्वा सहायक वे (श्रीभगवान्) स्वयं बन जाते हैं। भक्त माधवदास का उदाहरण सर्वत्र विख्यात है ॥३८॥

पशोः कुर्वन्ति साधुत्वं साधवो हरिवल्लभाः।
हरेर्भक्तिप्रभावेन ज्ञानदेवमुरारिवत् ॥३९॥

श्रीभगवान् के प्रेमी-भक्त, श्रीप्रभु-भक्ति के बल से, पशु-प्राणी को भी साधु-स्वभाव का सत्पात्र बना लेते हैं। इस में भक्त ज्ञानदेव और मुरारि का आख्यान सुप्रसिद्ध है ॥३९॥

भक्तिःसाधो कदाप्येषा चातुर्यं नो व्यपेक्षते ।
ऋजुतां तु सदा देवी कर्मासधनयोर्यथा ॥४०॥

हे प्रिय, श्रीप्रभु की भक्ति किसी की चतुराई के आधीन नहीं है। अपितु इसमें सर्व-सरलता का होना ही, भक्त की श्रेष्ठता का ज्ञापक है। जैसे भक्त कर्मा व सधन की सरल-भक्ति प्रसिद्ध है ॥४०॥

शुद्ध्यपेक्षो न गोविन्दः प्रेमापेक्षस्त्ववश्यकम् ।
अत्र मानं कथा साधो शवरीकर्मयोः शुभा ॥४१॥

श्रीमन्नारायण, ऊंच-नीच आदि जात-पात की शुद्धि-अशुद्धि पर कोई ध्यान नहीं देते। वे तो प्रेम के भूखे हैं। इसमें शबरी (भीलनी) और कर्मा भक्त की कथा जग-विदित है ॥४१॥

भक्तिरूपं त्वया पृष्टं तन्महत्वं च लक्षणम् ।
तस्याः प्रोक्तं मया साधो सर्वलोकहिताशया ॥४२॥

हे साधु, तुमने भक्ति का स्वरूप, माहात्म्य और लक्षण आदि की जिज्ञासा की है। सो, मैंने यथाक्रम सब सारांश तुम्हें, लोककल्याण की दृष्टि से बतला दिया है ॥४२॥

हरेर्भक्तिं विना याति शुष्कवृक्षसमानताम् ।
अतो भक्तिर्हरौ कार्या सर्वकल्याणमिच्छता ॥४३॥

श्री प्रभु की भक्ति के बिना मनुष्य नीरस, ठूण्ठे पेड़ की तरह उजड़ा-पुजड़ा सा रहता है। इसलिए प्रत्येक-दशा में अपना कल्याण चाहने वाले साधक को अवश्य ही सर्वेश्वर की भक्ति करनी चाहिये ॥४३॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं नतः पादारविन्दयोः।
महाभाग्यं निज मत्वा तत्परश्च बभूव सः ॥४४॥

श्रीगुरु की तारक-वाणी को सुन कर वह उनके श्रीचरणों में लिपट गया और अपने को सौभाग्यवान् मान कर, उनकी शिक्षानुसार भक्ति-साधना में लग गया ॥४४॥

कर्मणा श्रीगुरोः सेवां वाचा च हरिकीर्तनम्।
चकारासौ सदा धीरश्चेतसा चिन्तनं हरेः ॥४५॥

वह अपने तन से गुरु-सेवा, वाणी से श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन और मन से निरन्तर श्रीप्रभु का चिन्तन करता था ॥४५॥

कदा चित्तत्परीक्षायै प्राह देवोऽथ मोहनम्।
मोहरीं च कृपासिन्धुः स्थण्डिलं क्रियतां सुतौ ॥४६॥

एक बार उसकी परीक्षा के लिये ही, श्रीगुरु ने अपने पुत्र मोहन और मोहरी को आज्ञा दी कि, तुम एक स्थण्डिल (यज्ञ-शाला का चत्वर) का निर्माण करो ॥४६॥

सत्यवाक्यं गुरोर्मत्वा कारितं स्थण्डिलं जनैः ।
ताभ्यां च चित्रितं रम्यं हर्षयुक्तेन चेतसा ॥४७॥

उन दोनों ने, उनकी सत्य-आज्ञा का आदर कर, सेवकों द्वारा एक स्थण्डिल बनवा कर, उसे खूब सजा-बजा दिया। वे दोनों इस पर मन ही मन बड़े खुश थे ॥४७॥

नास्ति सम्यगिति प्रोच्य प्राह देवो दिनान्तरे ।
रामदास समीचीनं क्रियतां स्थण्डिलं त्वया ॥४८॥

परन्तु दूसरे दिन श्रीगुरु ने उसे नापसन्द करते हुए, शिष्य रामदास को आदेश दिया, कि प्रिय ? तुम ठीक-विधि से उसे तय्यार करो ॥४८॥

साक्षात्कर्तृपरं वाक्यं गुरोश्चेदं विचारितम् ।
तेनाकारि स्वहस्ताभ्यां स्थण्ठिलं गुरुवाक्यतः ॥४६॥

रामदास ने विचार किया कि श्रीगुरु जी ने मुझे ही निर्देश किया है ।, अतः स्वयं अपने हाथों से स्थण्डिल बनाऊंगा । किसी अन्य-सेवक द्वारा नहीं ।" तब उसने तदनुसार काम आरम्भ किया ॥४६॥

नास्ति सम्यगिदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रसन्नधीः ।
हस्तमांसं गतं दृष्ट्वा वेष्टितो वस्त्रतस्तदा ॥५०॥

उसने बड़ी लगन से वह बनाया था। परन्तु श्रीगुरु के कथन से कि "यह ठीक नहीं बना है" वह तनिक भी दुखी नहीं हुआ। यद्यपि उसके हाथों का मांस भी उखड़ चुका था। परन्तु उसने उन पर कपड़े की पट्टी लपेट रक्खी और...॥५०॥

कृतवान् स्थण्डिलं चान्यत्प्राह देवो न रोचते।
पुनः शीघ्रं चकारान्यत्प्राह देवोऽथ रोचते ॥५१॥

एक नये स्थण्डिल का निर्माण किया। श्रीगुरुजी ने उसे भी नापसन्द कर दिया, तो फिर उस धीर-शिष्य ने तीसरी बार पुनः स्थण्डिल की रचना की। अब श्रीगुरुजी ने प्रसन्नता से कहा, कि हां, यह ठीक बन पाया है ॥५१॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं नतः पादारविन्दयोः।
गुरोर्दृष्टिप्रभावेन स्वतो हस्तौ चिकित्सितौ ॥५२॥

श्रीगुरु की यह स्वीकारोक्ति सुनकर, वह प्रसन्नता से उनके चरणों में लोटने लगा। उनकी दयालु-दृष्टि के पुण्य-प्रभाव से ही शिष्य के घायल हाथ भले-चंगे हो गये ॥५२॥

कृतं कृत्यं त्वया साधो प्राह शिष्यमिदं वचः।
गुरूपदेशपात्रत्वं त्वयि प्राप्तं न संशयः ॥५३॥

श्रीगुरु ने कहा, हे प्रिय, तुमने सत्य-कर्म-साधना करली है। गुरु के सदुपदेश का पूर्ण अधिकारी बन कर, तुम कृतकृत्य हुए हो। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥५३॥

इदं चोक्त्वा स्वयं देवः स्थापयित्वा तमासने।
समं वृद्धेन पुत्रैश्च पूजनं कृतवानसौ ॥५४॥

यह कह कर उन्होंने, उसे पवित्र-उच्चासन पर बिठाया और पूर्वोक्त साथी वृद्ध-पुरुष एवं पुत्रों के साथ मिल कर उसका विधिपूर्वक पूजन किया ॥५४॥

सर्वं शिष्यैः कृता पूजा रामदासगुरोस्ततः ।
पुष्पवृष्टिस्तदा जाता देवमानवकर्तृका ॥५५॥

तब श्रीरामदास को गुरु-पद मिला, जान कर, सब शिष्यों ने भी विशेष पूजा कर उन्हें सम्मानित किया । उस समय देवता तथा मनुष्यों ने फूलों की वर्षा कर आनन्द मनाया ॥५५॥

धन्यधन्योस्ति धन्योस्ति रामदासो गुरूत्तमः ।
यत्र जाता कृपा धीरा ईदृशी जगतां गुरोः ॥५६॥

देव-मनुष्यों में यही चर्चा चल रही थी, कि श्रीरामदास-गुरु धन्य हैं । इन पर अपने जगद्गुरु श्रीअमरदास जी की अपार कृपा हुई है ॥५६॥

इदं चोक्त्वा सुराःसर्वे गता धाम निजं निजम् ।
इदं वृत्तं महापुण्यं श्रूयतां च कथान्तरम् ॥५७॥

मङ्गल-बधाई देने के बाद सब नभोपरि-स्थित देवता अपने २ ठिकाने पर लौट गये । यह बड़ा पुनीत आख्यान है । अब दूसरी पवित्र-कथा सुनिये ॥५७॥

गुरोःपुत्री महासाध्वी तया क्वाप्यथ वासरे ।
आसनार्थं गुरोर्न्यस्ता दारुनिर्मितपीठिका ॥५८॥

एक दिन गुरुपुत्री सती मानी ने, श्रीगुरु अमरदास के बैठने का एक काष्ठमय आसन लगाया ॥५८॥

शीघ्रं तत्र स्थितो देवस्तत्पाणिस्तदधस्थितः ।
स्थिता तत्रैव सा देवी सूचितं न च किंचन ॥५६॥

श्रीगुरु अमरदास जल्दी से उस पीठ (आसन) पर बैठ गये । लेकिन बेचारी भानी का एक हाथ उसके नीचे दबा रह गया, जिससे वह भी चुपचाप वहीं टिकी रही । मुंह से उफ़ तक न किया ॥५६॥

महश्चर्यं गतो दृष्ट्वा नित्यकृत्यादनन्तरम् ।
अवतीर्य ततः शीघ्रं वरं ब्रूहीत्युवाच ताम् ॥६०॥

अपने दैनिक कर्म को समाप्त कर, जब श्रीगुरु ने बेटी (भानी) को उस-दशा में देखा, तो वे बड़े हैरान हुए और एक दम उस-आसन से नीचे उतर कर बोले, कि पुत्री ? तुम मन चाहा वर मांग लो । ॥६०॥

देवी—: हरेर्भक्तिः सतां सेवा भवेत्तात वरो वरः ।
अन्यश्चैकः सदैव स्याद्गुरुभावोऽपि मत्कुले ॥६१॥

देवी (भानी) बोली—: हे पिता जी, श्रीप्रभु की भक्ति और संतों की सेवा में जीवन लगे, यह एक और दूसरा, मेरे बंश में गुरुभाव (गुरु-पद) बराबर बना रहे, बस, ये दो वर दे दीजिये ॥६१॥

श्रीगुरु :—: वरश्चाद्यः समीचीनो द्वितीयो न च तादृशः ।
भवेदेतद्वचः सत्यं विग्रहोऽपि भविष्यति ॥६२॥

श्रीगुरु ने कहा, बेटी, पहला वर तो ठीक है, किन्तु दूसरा कुछ अच्छा नहीं । अस्तु, तुम्हारा संकल्प सिद्ध होगा । किन्तु दूसरे वर

(गुरु-भाव) के कारण झगड़ा भी (वंश में) होगा ॥६२॥

इदं चोक्त्वा गतो देवः सभामध्ये प्रसन्नधीः ।
कीर्तनं गुरुवाक्यानां तत्र जातमनेकधा ॥६३॥

पुत्री को वरदान देकर, वे अपने सभ्य-समाज में जाकर विराजमान हुए । वहां सब ने गुरुवाणी का संकीर्तन किया ॥६३॥

कदाचित्तु कृता चिन्ता गुरुभिः सर्ववेत्तृभिः ।
रामदासनिवासाय कारणीयं पुरान्तरम् ॥३४॥

एक दिन श्रीगुरुने विचार किया, कि रामदास की शोभा इसी में है, कि वह किसी अलग स्थान में रहे । सर्वज्ञ होने से उन्होंने तदर्थं पृथक् पुर (गांव) बसाने की बात सोच ली ॥६४॥

इमां चिन्तां गुरोर्ज्ञात्वा गताः शिष्याश्च पश्चिमाम् ।
कृतं रम्यं पुरं धीरैर्योजनत्रितयात्ततः ॥६५॥

उनके मनोरथ को जान कर शिष्य लोग, उसे पूरा करने के लिए पश्चिम की ओर विदा हुए और एक जगह तीन योजन स्थान में, सुन्दर नया गांव बसा दिया ॥६५॥

रामदासपुरं रम्यं तद्वदन्ति नरोत्तमाः ।
तत्र जातो निवासो वै रामदासगुरोस्तदा ॥६६॥

उस गांव को "रामदासपुर" के नाम से लोग याद करते हैं । वहीं पर श्रीगुरु रामदास का निवास हुआ था ॥६६॥

स्वल्पकाले गते चैवं श्रीगुरुः करुणानिधिः ।
त्यक्तदेहो गतः श्रीमान्निजंरूपमनामयम् ॥६७॥

इसके थोड़े दिनों के बाद श्रीगुरु अमरदास ने अपने भौतिक-शरीर का परित्याग कर, अमरलोक की यात्रा की ॥६७॥

मोहनाद्यैर्मिलित्वा च रामदासगुरुस्तदा ।
कृतवान् श्रीगुरोर्यज्ञं लोकवेदानुरोधतः ॥६८॥

श्रीरामदास ने गुरु-पुत्रों से मिल-मिला कर, दिवंगत गुरु के देहोत्तर-संस्कारोपरान्त, एक विशाल भण्डारा (यज्ञ) भी किया ॥६८॥

स्वल्पकालंस्थितिं कृत्वा गोंदबालपुरे ततः ।
सर्बस्वास्थ्यं स्वयं कृत्वा गतः स्वस्य पुरं प्रति ॥६९॥

कुच्छ दिन गोंदबाला में रहकर और सब बन्धु एवं शिष्यों को समाश्वासन देकर श्रीरामरासगुरु, पुनः अपने स्थान (रामदामपुर) में चले गये ॥६९॥

॥ आठवां विश्राम समाप्त ॥



अथ नवमो विश्रामः

कृता येन सेवा गुरोर्मोदहेतुः तनयैव लब्धं निजानन्दरूपम् ।
ददौ शिष्यसङ्घाय नामोपदेशं नमामि प्रसन्नं गुरुं रामदासम् ॥१॥

नवम विश्राम प्रारम्भ

अपने सद्गुरु श्रीअमरदास को अनन्य सेवा से प्रसन्न कर, उनसे आत्मबोध की शिक्षा प्राप्त कर, शिष्यों को निरन्तर नामदान से कृतार्थ करने वाले, सदा तृप्त, श्रीगुरु रामदास को अनन्त प्रणाम ...॥१॥

चतुर्थस्य गुरोःपुत्रास्त्रयो जाताः शुभङ्कराः ।
पृथ्वीचन्द्रो महादेवस्तृतीयश्चार्जुनो मतः ॥२॥

चौथे गुरु (श्रीरामदास) के तीन पुत्र हुए, जो सदा सत्पात्र बने रहे । उनके नाम हैं, पृथ्वीचन्द्र, महादेव और अर्जुनदेव ॥२॥

कनिष्ठस्तत्र भक्तोऽभूच्छ्रीगुरोः पदकञ्जयोः ।
मध्यमस्तु स्वयं तृप्तो मातुलो मोहनो यथा ॥३॥

फिर भी उनमें सबसे छोटे (श्रीअर्जुनदेव) श्रीगुरु (रामदास) के परमभक्त होकर, चरण-सेवक बने रहे। मंझले (श्रीमहादेव) तो स्वयं ज्ञानी होगये, जैसे कि उनका मामा मोहन स्वयं-तुष्ट था ॥३॥

सर्वंचातुर्यसम्पन्नो ज्येष्ठपुत्रोऽथ सद्गुरोः।
पुत्रत्रये द्विधा वृतिः सात्विकी राजसी तथा ॥४॥

बड़ा बेटा (पृथ्वीचन्द्र) सर्वंगुणसम्पन्न था। इस प्रकार उनके तीनों लड़कों में क्रमशः सात्विकी और राजसी प्रकृति का सुदृढ़ आवास था। (प्रथम-द्वितीयी, राजस और तृतीयसात्विक था ॥४॥

कदाचित्तु गुरोर्भ्राता यः सहायीति संज्ञकः।
आगतः श्रीगुरोः पार्श्वे सुतोद्वाहप्रसङ्गतः ॥५॥

एक दिन श्रीगुरु रामदास का भाई "सहाई" नाम का, वहां आया और अपने बेटे की शादी का शुभसंवाद कहने लगा ॥५॥

गम्यतां भोः कृपासिन्धो मङ्गलाय निजस्थले।
कृतकृत्यो भविष्यामि प्राह देवमिदं वचः ॥६॥

उसने निवेदन किया, कि हे दयालु, आप इस मङ्गलोत्सव में शामिल होने के लिये अपने घर पधारें। मैं आपका कृतज्ञ होऊंगा ॥६॥

प्राह ज्येष्ठसुतं देवो गम्यतां प्रियदर्शन।
इति श्रुत्वा गतो मोनं नो गतो गुरुवाक्यतः ॥७॥

श्रीगुरु ने अपने भाई की प्रार्थना सुनकर, अपने बड़े पुत्र (पृथ्वीचन्द्र) को वहां जाने को कहा। परन्तु वह चुप रहा और परिणामतः जाने से अस्वीकार कर बैठा ॥७॥

मध्यमस्तु स्वतो मौनी प्राह देवस्तदार्जुनम् ।
गम्यतां भोस्त्वया साधो गतःश्रुत्वा गुरोर्गिरम् ॥८॥

मंझला पुत्र (महादेव) तो स्वयं मौनी ही था। वह भी नहीं माना। तब श्रीगुरु ने छोटे लड़के (अर्जुनदेव) को कहा। उसने उनकी आज्ञा से जाना स्वीकार कर लिया ॥८॥

तत्र कार्ये व्यतीतेऽपि वासरा बहवो गताः ।
नागता श्रीगुरोराज्ञा प्रेषितातश्च पत्रिका ॥९॥

वहां विवाह के हो जाने के बाद भी, उसे रहते २ कई दिन गुजर गये। श्रीगुरु की आज्ञा, वापिस आने की नहीं मिली। तब उसने (अर्जुनदेव ने) स्वयं एक चिट्ठी लिख भेजी ॥९॥

मन्मनस्युत्सवो नित्यं दर्शने गुरुपादयोः ।
पयः स्वात्या महामेघादीहते चातको यथा ॥१०॥

उसने लिखा, कि हे गुरुदेव ? मेरे मन को, सदा आप के पाद-दर्शन का उत्सव ही भला लगता है, जैसे कि चातक, मेघ से स्वाती-बूंद को ही चाहता है ॥१०॥

इत्यादिवाक्यसम्बद्धा पत्रिका गुरुसम्मुखम् ।
गता ज्येष्ठेन सो दत्ता पुनः प्रेषितवानसौ ॥११॥

इत्यादि अनेक विनत-भावों की वह चिट्ठी, उसने श्रीगुरु के सम्मुख दे दी थी। परन्तु वह बड़े लड़के (पृथ्वीचन्द्र) के हाथ में आगई, जो उसने पिता को नहीं दिखलाई। थोड़े दिनों के बाद अर्जुनदेव ने एक और पत्र लिखा ॥११॥

त्वन्मुखं शोभते यत्र ध्वनिःस्वाभाविको गिरः।
इत्यादिवाक्यसम्पन्ना सापि दत्ता न तेन वै ॥१२॥

उसमें लिखा था, कि हे पूज्यवर ? आपकाप्रिय दर्शनमुख, जहां शोभायमान हो, वहीं पर सत्य-अमर-वाणी का रस बरसता है इत्यादि गुण-गौरव के शब्दों से भरी वह चिट्ठी भी, बड़े बेटे ने पिता को नहीं दी और अपने पास ही छिपा रक्खी ॥१२॥

घटीमात्रं वियोगेऽपि तिष्य एवाप्रतीयत।
दयासिन्धो कदा शीघ्रं दर्शनं मे भविष्यति ॥१३॥

अर्जुनदेव ने फिर पत्र लिखा कि हे देव ? क्षणभर का वियोग भी मेरे मन को अतिक्लेश दे रहा है। आपकी कृपा से, शुभ दर्शन कब होगा ॥१३॥

निशावृद्धिं गता श्रीमन्निद्रापि नैव जायते।
ईदृशीमद्गतिर्जाता भवतां दर्शनं विना ॥१४॥

हे गुरुवर ? रात्रिकाल दीर्घता प्राप्त कर गया है। मेरी आंखों से नींद गायब हो गई है। आपको देखेबिना मेरी बड़ी बुरी दशा होती जारही है ॥१४॥

इत्यादिवाक्यसम्पन्ना पत्रिका गुरुसन्निधौ।
प्रेषिता चारमाहैवं गुरुहस्ते समर्प्यताम् ॥१५॥

इत्यादि असह्य-दुखभरी, तीसरी चिट्ठी को एक सेवक द्वारा पुनः भेज कर, अर्जुनदेव ने दूत को समझाया, कि अबकी बार यह पत्र श्रीगुरु (पिता) के करकमलों में ही देना। अन्य किसी को नहीं। ॥१५॥

गतो लवपुरं त्यक्त्वा रामदासं पुरं शुभम्।
पत्रिकां भद्रसम्पन्नां ददौ देवाय चारकः ॥१६॥

वह पत्र लेकर, पत्रवाहक लाहौर से सीधा रामदासपुर को रवाना हुआ। उसने वहां जाकर श्रीगुरु के करकमलों में ही वह पत्र समर्पित कर दिया ॥१६॥

पठित्वा च स्वयं श्रीमान् प्राह ज्येष्ठसुतं प्रति।
अर्जुनस्य समायातं पुत्र पत्रद्वयं पुरा ॥१७॥

श्रीगुरु ने उस तीसरे पत्र को पढ़ कर, अपने बड़े लड़के से पूछा, कि बेटा ? अर्जुन के पहले दो पत्र भी आये हैं ॥१७॥

तच्च क्वेति वचः श्रुत्वा प्राह देवं न वेद्म्यहम्।
चरो वक्ति मृषा वाक्यं हुण्डिका न च पत्रिका ॥१८॥

वे दोनों पत्र कहां है ? इस पर पृथ्वीचन्द्र ने साफ २ इन्कार कर दिया कि मुझे कोई खबर नहीं। तो क्या यह पत्र हारा झूठ बोल रहा है? इस पर वह बोला कि हां, यह गलत बात कह रहा है। वे दोनों हुण्डियां थीं। पत्र कोई नहीं था ॥१८॥

अन्वेषणे कृते सिद्धमागतं पत्रिकाद्वयम् ।
प्राह देवोऽथ मीणोऽसि गच्छ दूरे मदन्तिकात् ॥१६॥

जांच-पड़ताल करने पर प्रकट होगया, कि वस्तुतः अर्जुनदेव के दो पत्र पहले भी आये, जो पृथ्वीचन्द्र ने छिपा रक्खे थे। तब श्रीगुरु ने उसे स्पष्ट आज्ञा दी कि जाओ, मेरी आंखों से दूर हो जाओ। तुम अतिलोभी हो ...॥१६॥

प्रेषिता पत्रिका शीघ्रं तां च दृष्ट्वा समागतः ।
अर्जुनो भक्तिसम्पन्नो ततः श्रीगुरुपादयोः ॥१६॥

फिर उन्होंने अपनी चिट्ठी अर्जुनदेव को लिख भेजी। उसे पाते ही वह जल्दी से दौड़ा आया और श्रीगुरु के चरणों में गिर पड़ा॥२०॥

प्राह देवमहोभाग्यं कारितं येन मेलनम् ।
सता येन गृहे प्राप्तो हरिर्नाशविवर्जितः ॥२१॥

उसने विनम्र-प्रार्थना की, कि हे देव ? आज मेरा अहोभाग्य है, जिससे आप के श्रीचरणों का मेल हो पाया है। अब मैं आपकी सेवा में आकर पुनर्जीवन पा गया हूं ॥२१॥

सदा सेवामहं कुर्यां नो वियोगोभवेत्कदा ।
नानकोस्यस्मि दासोऽहं देहि मे वरमुत्तमम् ॥२२॥

मैं आपकी निरन्तर सेवा ही करता रहूं, अब कभी आप से दूर न हो सकूं, ऐसा वरदान दीजिये। आप साक्षात् आदिगुरु श्रीनानकदेव के स्वरूप हैं और मैं आपका चरण-सेवक हूं ॥२२॥

प्राह देवो भवेदेवं कृतकृत्योऽसि सर्वदा ।
किमस्ति दुर्लभं लोके यस्य ते मतिरीदृशी ॥२३॥

श्रीगुरु ने उसकी चतुराई पर प्रसन्न होकर कहा, कि ऐसा ही होगा तुम कृतकर्मा हो । तुम्हारी बुद्धि, श्रद्धा और विश्वास की आधारशिला है । अतः तुम्हें कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं हो सकता ॥२३॥

सतां भक्तिप्रभावेन याति तत्परमं पदम् ।
यत्र सन्तोऽभिगच्छन्ति यथा राजा चतुर्भुजः ॥२४॥

सन्तों की सेवा से मनुष्य उत्तम-गति को प्राप्त कर लेता है । क्योंकि सन्त-पुरुष सदा ऊर्ध्वगामी होते हैं । इस में राजा चतुर्भुज का दृष्टान्त अनुकरणीय है ॥२४॥

रामनामोपदेशोऽयं क्रियतां सकलान्प्रति ।
येन केन प्रकारेण सौम्य केवलरामवत् ॥२५॥

हे प्रिय ? तुम सब प्राणियों को श्रीराम-नाम का सदुपदेश करो । जैसे कैसे संभव हो, इस पुण्य-कार्य में सदा तत्पर रहो । परिणाम में तुम स्वयं राम-स्वरूप हो जाओगे ॥२५॥

साधुसेवा सदा कार्या नैव दूषणसंग्रहः ।
स्यात्तथात्वे गुरोः प्रेमा मान मत्र सदाव्रती ॥२६॥

सदा सन्तों की सेवा करनी चाहिये । दोषों का कभी संग्रह न हो । तब श्रीगुरु का प्रेम प्राप्त होता है । इस में सदाव्रती-भक्त का चरित उपदेय है ॥२६॥

साधुसेवापरो यःस्यात्तस्य दुर्गादिदेवताः ।
स्वयं सेवां तु कुर्वन्ति नरहर्यादिको यथा ॥२६॥

जो मनुष्य (सेवक) साधु सन्तों की सेवा में लगा रहता है, उसकी सहायता, दुर्गा आदि देवता भी स्वयं करते हैं। इसमें भक्त नरहरि आदि की कथा अनुकरणीय है ॥२७॥

परकार्यस्य सिध्द्यर्थं मृषावादोऽपि शोभते ।
विप्रकन्योपकाराय यथा पीपश्चकार तम् ॥२८॥

परोपकार के लिये अगर कहीं झूठ भी बोलना पड़े, तो वह बुरा नहीं है। देखो, पीपा भक्त ने एक ब्राह्मण-लड़की के लिए झूठ का आश्रय लिया था ॥२८॥

हरिभक्तस्य सेवार्थं देहवस्त्रादिविक्रयः ।
अपि कार्योऽत्र मानं स्यात्कथा चीधडपीपयोः ॥२६॥

श्रीप्रभु के प्रेमी भक्त की सेवा के लिये, यदि अपना सर्वस्व भी देना पड़े, तो कोई हानि नहीं है। उसका परिणाम अतिभला है। इसमें भक्त चीघड़ और पीपा की कथा प्रसिद्ध है ॥२६॥

सत्यवादोऽपरित्याज्यो देहगेहादिविक्रये ।
अपि साधो त्वया नित्यं हरिश्चन्द्रनरेशवत् ॥३०॥

हे प्रिय ? सर्वस्व देने पर भी, तुम सत्य को मत त्यागना। बस, सदा राजा हरिश्चन्द्र की तरह सत्य पर डटे रहना ॥३०॥

इत्यादिवाक्यसन्दर्भं श्रावयित्वा तदार्जुनम् ।
कृता पूजा सवृद्धेन स्थापयित्वा निजासने ॥३१॥

इस प्रकार नाना युक्तियों से सत्योपदेश सुनाकर, उन्होंने अर्जुनदेव को पवित्रआसन पर बिठाया और पूर्वोक्त वृद्ध-साथी (दीर्घजीवी) के साथ मिलकर, उसकी पूजा की ॥३१॥

इदं सर्वं कृतंकृत्यं गोन्दवालपुरीं तदा ।
सुप्रसन्नो गतो देवः शिष्यसङ्घसमावृतः ॥३२॥

अर्जुनदेव को गुरुपद पर प्रस्थापित कर, श्रीगुरु रामदास, सहर्ष अपने शिष्यों सहित गोन्दवालपुर में चले गये ॥३२॥

वापीस्नानं तदा कृत्वा नदीस्नानं च सद्गुरुः ।
तनुं त्यक्त्वा गतः श्रीमान् ब्रह्मरूपं निजात्मकम् ॥३३॥

वहां उन्होंने बावली पर स्नान किया और नदी में भी । तदनन्तर इस नश्वर-देह को त्यागा और अमरधाम में चले गये ॥३३॥

अन्तेवासिसमायुक्तो गुरोः कृत्यं समन्ततः ।
अर्जुनः सद्गुरुःकृत्वा रामदासपुरं गतः ॥३४॥

तब श्रीगुरु अर्जुनदेव ने, दिवङ्गत सद्गुरु की, देहोपरान्त सारी क्रिया सम्पन्न की । अनेक शिष्यों ने उसमें हाथ बंटाया । फिर वे (अर्जुनदेव) रामदासपुर में चले गये ॥३४॥

॥ नवमां विश्राम समाप्त ॥



अथ दशमो विश्रामः

हरिस्वरूपलीनता यदीयचेतसः सदा
अनन्यभक्तिराश्रिता गुरोः पदारविन्दयोः ।
यशश्चकार यो गुरोःसुधासरोवरादिना
तथैव शब्दमेलनं नमामि देवमर्जुनम् ॥१॥

दसवां विश्राम प्रारम्भ

सदा श्रीहरि के ध्यान में मग्न, श्रीसद्गुरु के अनन्य-भक्त, अमृत-सरनिर्माण आदि सत्कार्यों से गुरु-जनों के मान-वर्धक, गुरुवाणी के नवीन मिलापक, श्रीगुरु अर्जुनदेव को अनन्त प्रणाम ॥१॥

अर्जुनस्य गुरोर्वृत्तं श्रूयतामतिपावनम् ।
श्रूयमाणं तदेव स्याज्जीवकल्याणकारणम् ॥२॥

अब श्रीगुरु अर्जुनदेव का पवित्र-चरित्र सुनिये । उसके सुनने से ही प्राणियों का सर्व-कल्याण हो जाता है ॥२॥

शिष्यसङ्घाः समागच्छन्मनोवांछितसिद्धये ।
स्वात्मयोगप्रभावेन गुरुर्वांछामपूरयत् ॥३॥

अनेक शिष्य लोग, अपनी २ कामनापूर्ति के लिये, उनकी सेवा में आने लगे । श्रीगुरु (अर्जुनदेव) भी अपने योग-बल से उन सब की अभिलाषाओं को पूरा कर देते थे ॥३॥

तीर्थशून्यं स्थलं ज्ञात्वा कृता चैषा विचारणा ।
तीर्थमत्रैव कर्तव्यं श्रीगुरोः पुरसन्निधौ ॥४॥

एक दिन उन्होंने विचार किया, कि यहां कोई तीर्थ नहीं है । अतः किसी तीर्थ की अवश्य ही इस जगह पर सुप्रतिष्ठा होनी चाहिये ॥४॥

चिन्ताकाले समायातौ दम्पती गुरुसन्निधौ ।
प्राह देवं तयो र्नारी नतिं कृत्वातिशीलतः ॥५॥

वे इस सोच में पड़े थे । तभी वहां कोई नर-नारी (युगल) आगये उनमें से स्त्री ने बड़े विनीतभाव से, श्रीगुरु को प्रणाम कर, प्रार्थना की...॥५॥

पट्टीराजस्य कन्याहं भिक्षुकी शरणं गता ।
अवलम्बेन हीनत्वात्पाहि मां जगतां गुरो ॥६॥

हे जगद्गुरु ? मैं पट्टीराज की पुत्री हूं । परन्तु काल-क्रम से अब अनाश्रित होकर आपकी शरण में पड़ी हूं कृपा कर मुझ भिखारिन का उद्धार करो ॥६॥

श्रीगुरुरुवाच—: राजकन्या सुशीलासि कथं जाता तु भिक्षुकी ।
नरोऽयं दिव्यरूप: क: किं निमित्ता च वेदना ॥७॥

श्रीगुरु ने कहा—: अरी, तुम शीलवती राजकुमारी हो। भिक्षुकी कैसे बन रही हो। तुम्हारे साथ, यह रूप-यौवन-सम्पन्न पुरुष कौन है। ठीक २ कहो, कि तुम्हें क्या कष्ट-विशेष है ? ॥७॥

अबलोवाच—: पितुर्गेहे वयं जाताश्चतस्र: कन्यका विभो ।
तासु जातो विवादोऽयं कोऽस्ति सर्वप्रपालक: ॥८॥

उस स्त्री ने कहा—:, हे देव ? अपने पिता की हम चार कन्याएं थीं। हम में परस्पर बहस छिड़ पड़ी, कि ऐसा कौन है, जो सारे संसार का पालन-पोषण करने वाला है। ॥८॥

पितैतादृङ् मदन्याभिर्हरिस्तादृङ् मयोदितम् ।
इदं श्रुत्वा च पित्राहं पंगुनैव विवाहिता ॥९॥

तब मेरी अन्य तीन बहिनों ने एक मत से कहा, कि हमारा पिता ही सब का स्वामी है। परन्तु मैंने उसमें आपत्ति की और कहा, कि ऐसा नहीं है। सारे संसार का प्रतिपालक तो एक ईश्वर ही है। बस, इसीसे नाराज होकर मेरे पिता (राजा) ने मेरी शादी, एक पंगु (लङ्गड़ा) से कर दी ॥९॥

उत्तमाङ्गे प्रभो धृत्वा स्वं मिनं पंगुकं निजम् ।
भिक्षाटनं कृतं यस्मादतोऽहं भिक्षुकी गुरो ॥१०॥

हे गुरुदेव, मैं अपने विकलाङ्ग-पति को सिर पर उठाकर, जहां तहां भीख मांगती फिरती हूं। इसी से भिखारिन बनी हूं ॥१०॥

नीरतीरेऽथ धृत्वा तं वदरीवृक्षसन्निधौ ।
गता ग्रामं च भिक्षार्थं शीघ्रं चाहं समागता ॥११॥

आज ऐसा संयोग हुआ, कि मैं एक जगह पानी वाले स्थान पर एक बेरी के वृक्ष के पास ही, अपने पति (पंगु) को बिठा कर, पास के गांव में भिक्षा लेने गई और जल्दी ही लौट आई ॥११॥

अयं दृष्टो नरस्तत्र निजस्वामी न कुत्रचित् ।
अयं वक्ति तव स्वामी नैव मत्तो विभिद्यते ॥१२॥

लौटने पर वहां देखा तो यह (साथ वाला) पुरुष खड़ा है । परन्तु मेरा पति कहीं नजर नहीं आया । अब यह मनुष्य कहता है, कि पगली, तेरा पति मैं ही हूं, और कोई नहीं ॥१२॥

महामोहे विलीनाऽहं वेद नैतन्निमित्तिका ।
वारणीया कृपासिन्धो नो विमुंचति मामयम् ॥१३॥

सो, अब मैं बड़े असमञ्जस में पड़ गई हूं । यही मेरी दुःखभरी कहानी है । हे दयालु, आप मुझे बचाईये । यह नर मेरा पीछा नहीं छोड़ता ॥१३॥

इदं श्रुत्वा वलावाक्यं प्राह देवोऽथ तं नरम् ।
स्वस्य वृत्तं त्वया वाच्यं यथा जातं समन्ततः ॥१४॥

उस नारी (राजकुमारी) की सारी बात सुन कर, श्रीगुरु (अर्जुनदेव) ने उस पुरुष को पूछा, कि भाई ? तुम भी अपनी आपबीती सुनाओ, जो भी तुम से हुई बीती है ॥१४॥

पुरुष उवाच—: बदरीवृक्षसानिध्ये नीरतीरेतिशीतले ।
स्थापयित्वा गता साध्वी मच्छरीरं यदा पुरम् ॥१५॥

वह आदमी बोला,—: महाभाग ? मुझे उस बेरी के पेड़ के पास, पानीवाले शीतल स्थान पर बिठा कर, यह सती-नारी, जब पास के गांव में चली गई, ... ॥१५॥

तदा दृष्टं मयाश्चर्यं श्रूयतां करुणानिधे ।
ध्वांक्षपक्षी जलं गत्वा निःसृतःश्वेतरूपधृक् ॥१६॥

हे दयामय ? मैंने एक महान् आश्चर्य देखा, कि एक काला पंछी उड़ता २ कहीं से आया और उस जल में घुस गया। फिर थोड़ी ही देर में वह बाहिर निकला तो एक दम सफेद हो गया था ॥१६॥

मया ज्ञातं तदा श्रीमन्शक्तिरत्र विलक्षणा ।
येन केन प्रकारेण गतो गर्तेऽप्यहं प्रभो ॥१७॥

श्रीमन् ? यह घटना देख कर मैंने सोचा, कि यहां अवश्य कोई दैविक शक्ति का वास है, जिससे ऐसा चमत्कार हुआ है। बस, फिर मैंने भी जैसे कैसे लुढ़कते २ उस जलवाले गड्ढे में आत्मसमर्पण कर दिया ॥१७॥

साङ्गोपाङ्गस्तदा भूत्वा निःसृतोऽहं सुलक्षणः ।
इयं साध्वी न जानाति प्रभो वृत्तं मदीयकम् ॥१८॥

हे गुरुदेव ? उस जल के स्पर्श-मात्र से ही मेरा शरीर नीरोग एवं सकलांग-पूर्ण होगया। मैंने बाहिर निकल कर, अपने को भला-चंगा पाया। परन्तु यह बेचारी मेरी परिवर्तित-दशा को नहीं जानती है ॥१८॥

वृत्तमेतत्स्वयं ज्ञात्वा प्राह नारीं नरोत्तमः ।
अयं स्वीयस्त्वया ज्ञेयः पतिः साध्वि न संशयः ॥१६॥

उसकी बात सुनकर, श्रीगुरु ने स्वयं उस दिव्य जल के प्रभाव को अनुभव में लाया और फिर उस नारी को समझाया, कि हे राजपुत्री, यह पुरुष सत्य ही तेरा पति है । तुम सहर्ष इसे अपनाओ ॥१६॥

सिद्धपीठमिदं ज्ञेयं गुरुस्थानं सनातनम् ।
पावनं सर्वलोकानामत्र तीर्थं भविष्यति ॥२०॥

यह हमारा गुरुस्थान एक प्रसिद्ध सिद्ध-पीठ हैं । इसकी महिमा न्यारी है । अब तो यहां और एक पवित्र-तीर्थं बन जावेगा ॥२०॥

तत्र स्नानं त्वया कार्यं पट्टराज्ञी भविष्यसि ।
तथा कृत्वा तथा जाता यथा श्रीगुरुणोदितम् ॥२१॥

'तुम उस तीर्थं-जल में स्नान करोगी, तो अतिशीघ्र पटरानी बन जाओगी ।' इस प्रकार श्रीगुरु की आज्ञा से उस राजकुमारी ने वैसा ही किया और ठीक वैसा ही फल पाया ॥२१॥

कृतमेतत्प्रकारेण रामदाससरोवरम् ।
श्रीमुखाच्च निजे ग्रन्थे तन्महत्वं निरूपितम् ॥२२॥

इस तरह श्रीगुरु (अर्जुनदेव) ने अपने दिवङ्गत गुरु श्रीरामदास के नाम से ही वहां एक दिव्य सरोवर बनवाया, जिसका वर्णन उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ में भी किया है ॥२२॥

एवं च गुरुवाक्यानां कृतो देवेन संग्रहः ।
भक्तसंवादसिध्द्यर्थं तद्गिरोऽत्र निवेशिताः ॥२३॥

इस प्रकार उन्होंने अपने ग्रंथ में गुरुवाक्यों का पूरा संग्रह कर दिया और साथ २ भक्तों के संवाद-कथानकों को भी उन्हीं की वाणी में जोड़ दिया ॥२३॥

तत्र केनापि दोषेण कान्हवागनिवेशिता ।
तेन दत्तस्ततःशापः स्वीकृतो गुरुभिर्मुदा ॥२४॥

परन्तु किन्हीं दूषणों के कारण, उन्होंने कान्ह-भक्त के शब्दों को उस संग्रह में नहीं जोड़ा। इस पर नाराज होकर उसने (कान्ह ने) श्रीगुरु को शाप दे दिया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया ॥२४॥

तस्मै दत्तस्तदा शापो वृद्धेन गुरुसङ्गिना ।
नैव सोभिमतो जातः क्षमाशीलस्य सद्गुरोः ॥२५॥

तब उससे बिगड़ कर, श्रीगुरु के साथी वृद्ध-पुरुष (जिसे दीर्घ आयु प्राप्त थी) ने भी कान्हभक्त को शाप दे दिया किन्तु श्रीगुरु ने उसे समर्थित नहीं किया। क्यों कि वे क्षमाशील थे ॥२५॥

कदाचित्तु निजा नारी प्राह देवं सुशीलतः ।
प्रभो पुत्रो ममापि स्याद भिलाषो न शाम्यति ॥२६॥

एक दिन गुरु-पत्नी (गङ्गादेवी) ने उनसे (पति से) प्रार्थना की, कि हे पतिदेव ? मुझे भी पुत्र-मुख देखने की सदिच्छा है। सो, कृपाकर आप इसकी पूर्ति का सुप्रयत्न करें ॥२६॥

मद्भ्रातृसूनुरेवायं ज्ञेयः सूनुर्निजस्त्वया ।
सोऽपि योग्यः सदंशत्वाद् भ्रातृकोपश्च नंक्ष्यति ॥२७॥

श्रीगुरु ने कहा, हे कल्याणि ? मेरे भाई (पृथ्वीचन्द्र) का पुत्र (मिहिरवान्) भी श्रेष्ठ अंश से उत्पन्न हुआ है । तुम उसे ही अपना पुत्र मान लो । इससे भाई का क्रोध भी शान्त हो जायेगा ॥२७॥

इदं श्रुत्वा गता मौनं प्राह देवं दिनान्तरे ।
प्रभो रात्रौ श्रुतो वादो भ्रातुस्तव सह स्त्रिया ॥२८॥

अपने पतिदेव की शान्त-वार्ता को सुन कर, वह उस समय तो चुप रही । परन्तु दूसरे दिन उसने पुनःनिवेदन किया, कि हे देव ? रात को मैंने आपके भाई और भावी की, परस्पर की, वाद-चर्चा सुनी है ॥२८॥

प्राह नारी स्वभर्तारमभविष्यो यदा गुरुः ।
अभविष्यत्तदास्माकं स्वामिन्नेतादृशी प्रथा ॥२९॥

आपकी भावी अपने पति से कह रही थी कि, जब आप गुरु बनोगे तब ही हमारे वंश में यह प्रथा चलेगी कि आपके पश्चात् आपका पुत्र और उसके बाद उसका पुत्र, क्रमशः गुरु-पद का अधिकारी होगा ॥२९॥

प्राह भर्ता तदा नारीं सन्ततिर्नच वर्तते ।
तस्य साध्वि गुरुस्तस्मात्त्वपुत्रो भविष्यति ॥३०॥

तब आपके भाई ने अपनी पत्नी से कहा, कि अरी, तू चिन्ता मत कर । अर्जुनदेव की कोई सन्तान नहीं है । अतः तुम्हारा लड़का ही गुरुपद संभालेगा ॥३०॥

अतः पुत्रो भवेच्छ्रीमन्मामकोऽस्त्यतिवल्लभः ।
अन्यथा तु कृपासिन्धो परितापो भविष्यति ॥३१॥

इस लिये मैं आप से पुनः विनय करती हूं कि मुझे भी प्राण-प्रिय पुत्र के सुख का लाभ अवश्य होना चाहिये । नहीं तो सच मानिये, आजीवन हमें महाक्लेश बना रहेगा ॥३१॥

श्रीगुरु :—: मया रेखा कृता साध्वि तन्निवृत्तिर्न युज्यते ।
अत एतस्य सिद्ध्यर्थं सतां सेवा विधीयताम् ॥३२॥

श्रीगुरु ने कहा, भद्रे ? मैंने एक मर्यादा बांध रक्खी है । अतः उसका उल्लंघन करना मेरे लिये असम्भव है । हां, यदि तुम मेरे द्वारा ही सन्तान-सुख की कामना रखती हो, तो एतदर्थ कठिन-तपस्या करो और साधु-महात्माओं की सेवा में तत्पर रहो ॥३२॥

गंगादेव्युवाच—: भवेदेवं प्रभो वाच्यं सन्ति सन्तश्च कीदृशाः ।
सफलं सेवनं येषां कल्पवृक्षसमं विभो ॥३३॥

गंगादेवी बोली,—: हे स्वामी ? आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । कृपा कर अब मुझे सन्तों का लक्षण समझाईये, कि उनकी क्या पहिचान है । तब मैं साधु-पुरुषों की सेवा में तल्लीन रहूंगी, जिससे सफल वरदान पा सकूं ॥३३॥

श्रीगुरुरुवाच—: ईश्वराराधनं मुख्यं कामलोभादिवर्जनम् ।
यथायोग्येषु पात्रेषु करुणादिचतुष्टयम् ॥३४॥

श्रीगुरु ने कहा, —: जो परमात्मा के परमभक्त, काम, लोभ आदि से दूर, अधिकारी-जनों में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा प्रभृति वृत्तियों के प्राधायक...॥३४॥

यथालाभेन सन्तुष्टिः सत्यवादो निरन्तरम् ।
सति द्रव्ये सदादानं वृथालापादिवर्जनम् ॥३५॥

ईश्वरेच्छा से संप्राप्त-पदार्थों से संतृप्त, सदा सत्यवक्ता, धन होने पर सर्वदानी, व्यर्थ के वाद-विवाद से हीन ... ॥३५॥

ज्ञानदानं च पात्रेषु नत्वपात्रेषु कर्हिचित् ।
मिताहारादिसम्पत्तिः कूटहासविहीनता ॥३६॥

योग्य शिष्यों को ज्ञानोपदेष्टा, अनधिकारी-जनों से ज्ञानवार्ता न करने वाले, आहार-व्यवहार में मर्यादानुसारी, चाटु, पैशुन्य, वृथा हास-परिहास से शून्य... ॥३६॥

मनोवाचाक्रियामध्ये ऽवैषम्यमति सौम्यता ।
वेदतत्वस्य विज्ञानं लोकवाचासु मूकता ॥३७॥

मन, वाणी और कर्म में एक-समान, सदा सौम्याचार-संपन्न, वेद-सिद्धान्त के जानने वाले, लोक-वाद में मौनी, ... ॥३७॥

शमादेश्चापि सम्पत्तिर्दुष्टदूरनिवासिता ।
क्षमाशीलादि येष्वस्ति सन्ति सन्तस्तु तादृशाः ॥३८॥

शम, दम के अभ्यासी, दुष्ट-संग से अतिदूर, क्षमा, शीलता,

उदारता, गम्भीरता आदि उदात्तभावनावाले हैं। उन्हें ही सन्त समझना चाहिये ॥३८॥

देवी—: लक्षणानीति सर्वाणि सन्ति श्रीमति मत्प्रभो।
अन्यव्यक्ति न जानेहं कृपागारभवादृशीम् ॥३९॥

गंगादेवी ने कहा, हे देव ! ये सभी सन्त-लक्षण आप में प्रत्यक्ष वर्तमान हैं। अतः मैं आप से अतिरिक्त अन्य किसी भी दयालु-व्यक्ति को नहीं जानती-पहचानती ॥३९॥

श्रीगुरुः - : अस्ति वृद्धो महाभाग्यो गच्छ साध्वि तदन्तिके।
सेव्यमानस्त्वया श्रीमान्पुत्रदाता भविष्यति ॥४०॥

श्रीगुरु ने कहा,—: हे देवी ? वह वृद्ध-पुरुष (दीर्घायु-प्राप्त सन्त) महाप्रताप एवं क्षमायुक्त सन्त है। तुम उसकी सेवा करो। उसकी प्रसन्नता से अवश्य तेरी कामना सिद्ध होगी ॥४०॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं परिवारेण वेष्टिता।
वाहनादिप्रकारैश्च गता वृद्धसमीपताम् ॥४१॥

श्रीगुरु (पति) की आज्ञा से गुरुपत्नी, अपने परिवार के कर्मचारि-जनों के साथ, सवारी पर चली और उस वृद्ध-सिद्ध के पास जा पहुंची ॥४१॥

श्रुत्वा कलकलं शब्दं धूलिकापटलं तथा।
प्राह दृष्ट्वा किमायाति सिद्धवृद्धोऽथ लौकिकान् ॥४२॥

दूर से कोलाहल और उड़ती धूल को लक्ष्य में रखकर, उस वृद्ध-सिद्ध ने पास बैठे लोगों से पूछा, कि देखो तो भला, वह कौन आ रहा है, कैसे आ रहा है ? ॥४२॥

महिलेति गुरोःश्रुत्वा कुतो जातं पलायनम् ।
वृद्धवाक्यमिदं श्रुत्वा दूरतो गृहमागतः ॥४३॥

तब सेवकों ने उसे सुनाया, कि 'महाभाग ? यह तो श्रीगुरु की धर्मपत्नी आरही है ।" यह सुनते ही वह बोला, "अरे, यह क्यों कहां, और किस लिये भागी जा रही है ?" वृद्ध के ये शब्द, कुछ दूर से ही सुनकर, गुरुपत्नी वहीं से वापिस लौट आई ॥४३॥

प्राह देवं गृहं गत्वा स्वेष्टलाभस्य हेतवे ।
गतानिष्टं कथं जातं ब्रूहि मे करुणानिधे ॥४४॥

उसने अपने पतिदेव से पुनःप्रश्न किया, कि हे स्वामी ? यह क्या बात है ? मैं तो अपनी इच्छापूर्ति के लिये गई थी । परन्तु वहां कुछ और ही सन्देह बना है ॥४४॥

श्रीगुरु :—: तरुणं सार्षपं शाकं मधुरं पिच्छिलं दधि ।
तक्रं च नवनीताढ्यं पुरोडाशं स्यविष्टकम् ॥४५॥

श्रीगुरु बोले —: हे देवी ? ताजा सरसों का साग, मीठा-चिकना दही, मक्खन मिली छाछ, स्वादिष्ट पुरोड़ाश (खीर-भोजन)...॥४५॥

एतत्सर्वं करे धृत्वा गच्छ साध्वि यदीच्छसि ।
तेनस्विनं शुभं पुत्रं यथा देवस्तथा बलिः ॥४६॥

इत्यादि भोग-द्रव्य लेकर वहां जाओ। तब तुम्हें यथाकाम तेजोवान् पुत्र-रत्न प्राप्त होगा। क्योंकि जैसा देव हो, वैसी ही उसकी पूजा-सामग्री भी जुटानी पड़ती है ॥४६॥

तथा कृत्वा गता देवी यथा श्रीगुरुणोदितम् ।
क्षेत्रप्रान्तस्थितं वृद्धं नत्वा सर्वं समर्पितम् ॥४७॥

तब गुरुपत्नी, पतिदेव की बतलाई-विधि से ही सब समुपयुक्त भोग-पदार्थ लेकर वहां गई। वह वृद्ध-सिद्ध एक खेत के किनारे मौज से खड़ा था। गुरुपत्नी ने जाते ही उसे नम्र-नमस्कार कर, वह प्रसाद-द्रव्य भेंट कर दिया ॥४७॥

पादधूलिश्च हस्ताभ्यामुत्तमाङ्गे समर्पिता ।
ततः प्रक्षाल्य सा पादौ प्राह वृद्धमिदं वचः ॥४८॥

फिर उसके चरणों की धूल, अपने हाथों से उठाकर माथे पर लगाई। तब उसके चरण धोये और अपनी मनोनीत बात कही ॥४८॥

मयानीतमिदं श्रीमन् क्रियतां भोजनं शुभम् ।
राघवेण यथा भुक्तं कानने शबरीफलम् ॥४९॥

गुरुपत्नी ने विनीत-प्रार्थना की, कि हे दयालु, जिस तरह श्रीराम-चन्द्र जी ने वनवास के समय भक्त-शबरी के बेर खाये थे, उसी तरह आप भी मेरे इस श्रद्धान्वित भोग-द्रव्य को भक्षण कीजिये ॥४९॥

भक्तियुक्तं वचःश्रुत्वा यत्तदीयं च वांछितम् ।
योगदृष्ट्या स्वयं ज्ञात्वा भोजनं कृतवानसौ ॥५०॥

इस प्रकार भक्ति-भाव की वाणी सुनकर और योगशक्ति से गुरुपत्नी के आन्तरिक-भाव को समझ कर, उस सिद्ध-वृद्ध ने वह भोजन खा लिया ॥५०॥

कृत्वा गण्डूशमुद्‌गारं सुप्रसन्नो बभूव सः ।
बलिपुत्रस्य सिध्द्यर्थं गुरोर्वाक्यमुवाच सः ॥५१॥

खा-पीकर उसने कुल्ला किया और डकार मार कर खाद्य-पदार्थ से प्राप्त प्रसन्नता को प्रकट किया। फिर उसने बलवान् पुत्र की उत्पत्ति के विषय की गुरुवाणी पढ़ी ॥५१॥

राजपक्षे स राजापि योगपक्षे स योगवित् ।
तपःपक्षे तपस्वी स्याद् गार्हस्थ्ये स च भोगभुक् ॥५२॥

"राज्यभाग में उत्तम राजा, योग-साधना में श्रेष्ठ-योगी, तापसों में सफल-तपस्वी, गृहस्थों में आदर्श-गृहवान् ...॥५२॥

ध्यात्वा ध्यात्वा जनैर्भवतःसुखं लब्धं यमेव सः ।
नानकस्तस्य देवस्य नान्तो लब्धस्तु केनचित ॥५३॥

ध्यान करने पर प्रत्येक-प्राणी को यथेष्ट-सुखदायक, देव-तुल्य श्रीगुरु नानक की महिमा अपरम्पार है ॥५३॥

वाक्यमुच्चारयित्वेदं प्राह वृद्धोऽथ सादरम् ।
गच्छ गङ्गे गृहं देवी बली पुत्रो भविष्यति ॥५४॥

इस प्रकार श्रीगुरु नानक का स्मरण कर, वह वृद्ध-सिद्ध बोला हे गंगादेवी ? तुम प्रसन्नता से घर जाओ, तुम्हारे यहां वीर-पुत्र ही जन्मेगा ।।५४।।

यशोदत्तं निजं देवैर्मह्यं तु भक्तवत्सलैः ।
अस्य सिंहासनस्यैव किङ्करः किङ्करिष्यति ।।५५।।

यह शुभ-संवाद (वरदान) सुनाने का मुझे जो यश मिला है, सो सब दयालु-देवताओं की ही कृपा है । मैं तो स्वयं इस सिंहासन (खालसा दरबार) का एक सेवक हूं। सेवा के अतिरिक्त और क्या कर सकता हूं ।।५५।।

इयं श्रुत्वा नतिं कृत्वा कृतास्तस्य परिक्रमाः ।
पुनर्नत्वागता गेहं नता श्रीगुरुपादयोः ।।५६।।

वृद्ध-सन्त की निरहङ्कार वर-वाणी सुनकर, गुरुपत्नी ने उसे सादर नमस्कार किया और प्रदक्षिणा करने के बाद फिर एक बार वन्दना की। तब वह अपने आवास में आई और पतिदेव के चरणों पर झुक गई ।।५६।।

गते काले सुतो जातो हरिगोविन्दनामकः ।
सिंहनार्यां यथा लोके भवेत् सिंहो निजात्मजः ।।५७।।

कुच्छ समय के बाद उनके यहां एक वीर-पुत्र जन्मा, जिसका नाम हरिगोविन्द रक्खा गया । वह ठीक वैसा ही बहादुर था, कि जैसे शेरनी का बच्चा, सिंह-स्वभाव का ही होता है ।।५७।।

इन्द्रप्रस्थपते मंत्री चन्दुलालेति नामकः ।
तस्य कन्याविवाहार्थं द्विजःकश्चित्समागतः ॥५८॥

कुछ समय के पश्चात् दिल्लीपति (जहांगीर) के एक मन्त्री चन्दूलाल की बेटी के लिए वर की खोज करता २, उसका पुरोहित-विप्र, श्रीगुरु अर्जुनदेव के यहां आ पहूंचा ॥५८॥

तिलकं स चकाराशु हरिगोविन्दमस्तके ।
इन्द्रप्रस्थं गतो विप्रः प्राह चन्दुमिदं वचः ॥५९॥

ब्राह्मण-देवता ने, गुरु-पुत्र हरिगोबिन्द के माथे पर वर-तिलक लगा दिया और दिल्ली में जाकर, यह शुभ-संवाद चन्दूलाल को सुनाया ॥५९॥

मद्रदेशे गुरोर्गेहे राजयोगसमन्वितः ।
अस्ति पुत्रो महातेजा रूपशीलादिसंयुतः ॥६०॥

कि, पंजाब में श्रीगुरु अर्जुनदेव का वीर-पुत्र, राजा के लक्षणों वाला, तेजोवान्, सुन्दर और सदाचार-सम्पन्न देखा है ॥६०॥

सकलैश्वर्यसम्पत्ति तत्र दृष्ट्वा निरंकुशाम् ।
पूर्वापर्यं समालोच्य तत्र कन्यासमर्पिता ॥६२॥

उनके यहां हर प्रकार की सुख-सम्पत्ति अक्षुण्ण है । मैंने सब कुछ देख भाल कर ही, वहां आपकी बेटी का सम्बन्ध जोड़ा है ॥६१॥

चन्दुरुवाच :— नेदं युक्तं कृतं कन्या भिक्षुकाय समर्पिता ।
नीचस्थाने त्वया न्यस्ता मण्डपाहेंष्टिका द्विज ॥६२॥

चन्दूलाल बोला —: हे ब्राह्मण ? यह क्या कर आये हो। मेरी बेटी को एक भिखारी के साथ विवाह करना ठीक नहीं है। यह तो तुम ने वैसा ही विपरीत कार्य किया है, कि जैसे यज्ञ-वेदी की पवित्र-शिला को गन्दी-जगह पर लगा दिया जाये ॥६२॥

यथा जातं भवेदेवं शिष्यमाता भविष्यति ।
अस्मदीया सुता साधो पुनः प्राह द्विजोत्तमम् ॥६३॥

उसने कुछ सोच कर फिर कहा, हे ब्राह्मण ? चलो, जो हुआ, सो होने दो। हमारी लड़की अब शिष्य-माता तो कहलायेगी ॥६३॥

श्रुत्वा चेयं कथा शिष्यैरिन्द्रप्रस्थनिवासिभिः ।
प्रेषिता तैर्यथावृत्तं गुरुस्थानेऽथ पत्रिका ॥६४॥

पुरोहित और चन्दूलाल की यह सारी बातचीत, दिल्ली में रहने-वाले गुरु-शिष्यों ने सुन ली। तब उन्होंने एक पत्र लिखकर सारा वृत्तान्त श्रीगुरु के पास भिजवा दिया ॥६४॥

चन्दुनापि शुभे लग्ने प्रेषिता लग्नपत्रिका ।
स्वीकृता न च देवेन चन्दुःश्रुत्वाऽथ मूच्छितः ॥६५॥

चन्दूलाल ने भी शुभ-मुहूर्त पर लग्न-पत्र, वहां भिजवा दिया। परन्तु श्रीगुरु (अर्जुनदेव) ने उसे स्वीकार नहीं किया। तब अपनी मानहानि के दुःख से चन्दूलाल मूच्छित-सा हो गया ॥६५॥

तद्दिनाद् गुरुदेवेन कृतं वैरमवैरिणा ।
गुणेषु दोषसम्पत्तिर्दुष्टानां लक्षणं सदा ॥६६॥

उसीदिन से वह, निर्दोष-श्रीगुरु से वैरभाव रखने लगा। प्रायः दुष्टों का ऐसा स्वभाव होता है, कि वे गुणों में भी दोष-दृष्टि ही रखते हैं ॥६६॥

इन्द्रप्रस्थपतिं प्राह कदाचित्त्वयमूढधीः ।
अर्जुनो गुरुरार्याणां दस्युसंगी निरन्तरम् ॥६७॥

समय पाकर चन्दूलाल ने दिल्लीश्वर (जहांगीर) के पास जाकर उसे भड़काया और बहकाया, कि अर्जुनदेव आर्यों (हिन्दुओं) का गुरु बन कर, चोर-डाकुओं का अगुआ भी बन रहा है ॥६७॥

श्रुत्वापीदं नृपो धीरो नोऽब्रवीदुत्तरं तदा ।
म्लेच्छ एको गुरोःशिष्यस्तन्निषेधं चकार च ॥६८॥

उसकी सब अनाप-शनाप बातों को सुन कर भी बादशाह ने कोई उत्तर नहीं दिया। साथ ही एक मुसलमान, जो श्रीगुरु का शिष्य भी था, ने धीरमति बादशाह को सत्य-बात कह दी, कि चन्दूलाल ने जो कुछ भी आपको सुनाया, सो सब गलत है ॥६८॥

पृथ्वीचन्द्रो गतस्तत्र कदाचित्तु नृपं प्रति ।
प्राहार्जुनो बलादेव ममभाग्यं नृपाच्छिनत् ॥६९॥

तदनन्तर पृथ्वीचन्द्र (श्रीअर्जुनदेव का बड़ा भाई) भी एक दिन दिल्ली में जाकर, सम्राट् से मिला और शिकायत कर बैठा, कि अर्जुनदेव ने जबर्दस्ती से मेरा सब अधिकार छीन लिया है ॥६९॥

दत्तं ग्रामद्वयं राज्ञा गतो लब्ध्वा प्रसन्नधीः ।
सम्भाषणं तदा कृत्वा चन्दुना गुरुवैरिणा ॥७०॥

बादशाह ने उसे दो गांव भर देकर खुश कर दिया। वह भी प्रसन्न-मन वहां से विदा हुआ और आते २ श्रीगुरु के वैरी, चन्दू से भी कुछ फूट-कूट की बात कर आया ॥७०॥

येन केन प्रकारेण पुनः पृष्ट्वा नृपं प्रति ।
प्रेषितं च निजं मित्रं चन्दुना गुरुसन्निधौ ॥७१॥

एक दिन फिर, जैसे कैसे उपाय से बादशाह को पूछ कर, चन्दू ने अपना एक खास-मित्र, श्री अर्जुनदेव के पास भेजा ॥७१॥

पृथ्वीचन्द्रस्य सान्निध्ये यदा सुलही जगाम ह ।
पक्षिशब्दाश्वसंत्रस्तो वामपाके गतो मृतः ॥७२॥

वह (चन्दू का दूत), जिसका नाम "सुलही" था, जब पृथ्वीचन्द्र के साथ २ जा रहा था, तो रास्ते में उसका घोड़ा, विचित्र-पक्षियों के शब्द सुन कर डर गया और इधर-उधर भागने लगा जिससे बेचारा 'सुलही' गिर पड़ा और मुफ्त में मारा गया ॥७२॥

मतः शोकमिति श्रुत्वा चन्दुर्मन्दमतिस्तदा ।
प्रेषितश्चातिकोपेन सुलवीसंज्ञकः सखा ॥७३॥

उसकी दुर्दशा को सुनकर, चन्दू मूर्खतावश शोकाग्नि से जल गया। उसने पुनःक्रोधित होकर, दूसरा एक विशेष-मित्र वहां (श्रीअर्जुनदेव के पास) भेजा, जिसका नाम था 'सुलवी' ॥७३॥

सोऽपिमार्गे मृतो मूढ़ो गुरोः शक्त्या न चान्यथा ।
चन्दुस्तस्य दशां श्रुत्वा गतश्चिन्तामहार्णवे ॥७४॥

वह भी मार्ग में ही समाप्त हो गया । यह सब श्रीगुरु अर्जुनदेव का ही तेजोबल था, कि उनके शत्रु स्वयं नष्ट हो रहे थे । जब चन्दू ने उसकी (दूत की) समाप्ति की सूचना पाई, तो वह शोक-सागर में डूबने लगा ॥७४॥

गतो लवपुरं राजा क्वापि कार्ये स्वभावतः ।
सङ्गमाय गतो पृथ्वी तस्य मार्गे ममार सः ॥७५॥

एक बार बादशाह, कार्यवश लाहौर में पहुंचा । तब पृथ्वीचन्द्र पुनः उससे भेंट करने को उधर चला । परन्तु वह भी रास्ते में ही समाप्त हो गया ॥७५॥

चकाराथ शुभे लग्ने सुतोद्वाहं गुरूत्तमः ।
भक्तिमार्गोपदेशोपि कृतस्तस्मिन्निजात्मने । ७६ ।

तब श्रीगुरु ने शुभ समय पर अपने सुपुत्र हरिगोविन्द का विवाह करवाया । साथ ही उसे भक्तिमार्ग का सदुपदेश भी सुनाया ॥७६॥

श्रीगुरुरुवाच—: भक्तिरेषा त्वया कार्या निर्गुणे गुणसंयुते ।
हरौ साधो कृता देवी जन्ममृत्युभयापहा ॥७७॥

श्रीगुरु ने कहा—: हे प्रिय ? तुम निर्गुण एवं सगुण श्रीहरि की भक्ति का सदा आश्रय-ग्रहण किये रहना । श्रीप्रभु की भक्ति ही जन्म-मृत्यु के भय को मिटाने वाली है ॥७७॥

ततो योगस्ततो ज्ञानं नान्यतो जनिरेतयोः ।
एवमाहुर्जनाः शिष्टा वेदवेदाङ्गपारगाः ॥७८॥

भक्ति-साधना से ही क्रमशः योग और ज्ञान का मार्ग खुलता है। इसके बिना उन दोनों की संगति का अन्य कोई उपाय नहीं है। वेदविज्ञ, महामनीषियों का यही सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सिद्धांत है ॥७८॥

सर्वत्यागं विनाऽप्यापि परां काष्ठां न गच्छति ।
सार्वभौमपदत्यागो दृष्टान्तं ध्रुवबालके ॥७९॥

परन्तु सर्वस्व-त्याग के बिना पराभक्ति की प्राप्ति होना कठिन है। सार्वभौम-पद का त्याग करने में राजकुमार ध्रुव का उदाहरण सर्वोपरि प्रसिद्ध है ॥७९॥

स्वल्पापि सद्गतेर्हेतु नीत्र चिन्ता समुत्थिका ।
अजामिलो गजो वेश्या सन्ति मानान्यनेकशः ॥८०॥

भक्ति का थोड़ा-सा सेवन भी कल्याणकारी बन सकता है। इसमें हिचकिचाने की कोई बात नहीं है। देखो, अजामिल, गजराज, वेश्या (पिङ्गला) प्रभृति यत् किंचित् भक्ति-भाव से ही तर गये ॥८०॥

हार्दप्रीतिं विना साधो कण्ठमालादिकं वृथा ।
ज्ञानचर्चा विना ज्ञानं शोभते न यथा मृषा ॥८१॥

परमेश्वर में आन्तरिक-प्रीति के बिना, केवल बाहिर के तिलक-माला आदि सब कुछ व्यर्थ-क्रिया है। क्योंकि ज्ञान हुये बिना, कोरी ज्ञान की कहानियां कहना-सुनना बेकार का श्रम है ॥८१॥

अतो भक्तिस्त्वया कार्या चेतसाऽनन्यगामिना ।
हरौ सौम्य च सर्वस्मै सैव देयाधिकारिणे ॥८२॥

इसलिये हे साधु, तुम सदा एकान्त-मन से श्रीहरि की भक्ति करना, श्रेष्ठ समझो । स्वयं ऐसा करो और अन्य अधिकारियों को भी इसी रीति का सदुपदेश किया करो ॥८२॥

व्रजामीरावतीतीरे तनुत्यागस्य हेतवे ।
यदर्थं मारिता दुष्टाःकृपादृष्ट्या दयालुना ॥८३॥

मैं अब इरावती (रावी) के तट पर जाकर, अपना शरीर-त्याग करूंगा । दयालु भगवान् ने भी दुष्टों का संहार करने के उपरान्त ... ॥८३॥

दुर्वासोवाक्यसाफल्यं यथा कृष्णश्चकार ह ।
कान्हवाक्यस्य साफल्यं चैवमेव भविष्यति ॥८४॥

महर्षि दुर्वासा के शाप-वचन को सत्य करने के लिये, जिस तरह देहोत्सर्ग किया था । ठीक उसी तरह मैं भी कान्हू-भक्त के शाप-वाक्य को सफल करने के लिये, वैसी रीति अपनाऊंगा ॥८४॥

निजा निष्ठाऽपरित्याज्या देहनाशस्य सम्मुखे ।
अप्यभीतस्तथात्वे स्याद्राजा नारवरो यथा ॥८५॥

प्राणत्याग के आगे, अपनी स्वाभाविक-मर्यादा को कभी नहीं त्यागना चाहिये । मृत्यु के सम्मुख भी अभय होकर खड़े रहना, वीरता का लक्षण है । राजा नारवर, इसका सत्य-दृष्टान्त है ॥८५॥

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखै र्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥८६॥

जो होना है, सो होकर रहेगा । अतः उसका कोई प्रतीकार नहीं है। यदि होनहार का कोई प्रत्युपाय सम्भव होता, तो राजा नल, श्रीराम और युधिष्ठिर जैसे महाप्रतापवान् व्यक्ति कभी दुःख में न पड़ते ॥८६॥

ईदृशं चोपदेशं तं कृत्वा सूनुं महाशयः ।
कृता पूजा सवृद्धेन स्थापयित्वा निजासने ॥८७॥

इस प्रकार भलीभान्ति सदुपदेश देकर, श्रीगुरु ने अपने प्रियपुत्र हरिगोविन्द को गुरु-आसन पर बिठाया और वृद्ध-सिद्ध के साथ २ उसकी विशेष-पूजा की ॥८७॥

किंचित् काले गते पश्चान्नृपश्रद्धानुसारतः ।
गतो लवपुरं देवः स्वयं राजागतोऽग्रतः ॥८८।

इसके थोड़े दिनों के बाद, बादशाह की सदभिलाषा एवं श्रद्धा के कारण, श्रीगुरु (अर्जुनदेव) लाहौर में गये । तब बादशाह ने स्वयं आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया ॥८८॥

सम्मानं चेदृशं दृष्ट्वा चन्दुदंग्धो विनानलम्,
सूचितातीव सेवापि द्वेषिणा नृपसम्मुखे ॥८९॥

उनका यह राज-सम्मान देख कर, चन्दू तो बस, बिना आग के ही जल-भुन गया । परन्तु उस कपट-पटु ने बादशाह के सामने, श्रीगुरु की महासेवा का अभिनय किया ॥८९॥

प्राह सेवां करिष्यामि नृपं श्रीगुरुपादयोः ।
अस्तु चैवं नृपेणोक्तं तच्च श्रुत्वा प्रफुल्लितः ॥६०॥

उसने बादशाह को विश्वास दिलाया, कि मैं इनकी यथेष्ट सेवा करूंगा । जब बादशाह ने उसे आज्ञा दी, तो वह सुनकर अति प्रसन्न हुआ ॥६०॥

गुरुं नीत्वा निजे गेहे तापयित्वा च बालुकाम् ।
अयश्चाह कुतस्त्यक्ता गुरो कन्या मदीयका ॥६१॥

वह श्रीगुरु को अपने स्थान पर ले गया । वहां उसने रेत गर्म करवाई और साथ ही लोहे के तवे भी गर्म करवाये । फिर वह उनके सामने खड़ा होकर पूछने लगा, कि कहो, गुरु, मेरी बेटी का रिश्ता क्यों ठुकराया ॥६१॥

गृह्यतां मत्सुता वापि स्थीयतां वायसि त्वया ।
प्राह देवो वचःश्रुत्वा पराकोटिर्मदीयका ॥६२॥

"अब साफ २ निर्णय करो । मेरी लड़की को पुत्र-वधू बनाओ, नहीं तो उन गर्म लोहे के तवों पर बैठने को तय्यार हो जाओ ।" उसकी निर्दय-उक्ति को सुनकर, श्रीगुरु ने निडर-उत्तर दिया, कि मुझे दूसरी शर्त स्वीकार है ॥६२॥

गच्छ वन्हिमिति श्रुत्वा गतःशैत्यं जगाम सः ।
इमां शक्तिं गुरो र्ज्ञात्वा भ्रष्टतेजा बभूव सः ॥६३॥

'तब चन्दू ने कहा, कि चलो, आग में प्रवेश करो।" श्रीगुरु ने धैर्य-पूर्वक आग का आलिङ्गन किया। उनके अमोघ-स्पर्श से वह आग एक दम ठण्डी हो गई। श्रीगुरु की ऐसी अलौकिक-शक्ति को प्रत्यक्ष देखकर, चन्दू का सारा बल गायब हो गया ॥६३॥

प्रातःकाले गतो देवो नदीतीरेऽतिपावने।
शिष्यान्प्राहात्र भो धीरास्तनूत्यागो भविष्यति ॥६४॥

दूसरे दिन सवेरे ही श्रीगुरु, नदी (रावी) के तीर पर गये। अपने शिष्यों को उन्होंने स्पष्ट-निर्देश कर दिया, कि अब यहाँ पर हम देहत्याग करेंगे ॥६४॥

इदं श्रुत्वा कृतं शिष्यैश्चैलाजिनकुशोत्तरम्।
आसनं तत्र चासीनो गुरुदेवः सुखासनः ॥६५॥

उनकी सुदृढ़-धारणा को जान कर, शिष्यों ने वस्त्र, मृगचर्म, और दर्भ-तृणों को यथाक्रम बिछा कर, आसन बना दिया। श्रीगुरु, उस पर पद्मासन लगा कर, सुख-पूर्वक बैठ गये ॥६५॥

ब्रह्मरन्ध्रे कृतो वायुः सर्वचक्रविभेदकः।
विनायासं गतः शीघ्रं ब्रह्मस्थानमतः परम् ॥६६॥

फिर उन्होंने देहस्थ चक्रों से भेदन-पूर्वक, अपने प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित किया। पूर्वाभ्यासवश, वह प्राणतत्त्व (वायु), अनायास ही ब्रह्मस्थान पर आ टिका ॥६६॥

ततो भित्वा त्रिसीमानं गतोऽसौ महदात्मताम् ।
एतद्रीत्या गुरोर्ज्योतिर्गतं ब्रह्मात्मतेजसि ॥९७॥

तदनन्तर तीन-सीमाओं (नाड़ी-विशेष) का भेदन कर, वह प्राणतत्व महान्-आत्मा में समा गया। इस प्रकार यौगिक-पद्धति से श्रीगुरु की जीवन-ज्योति परब्रह्मतेज में विलीन हो गई ॥९७॥

इदं वृत्तं न जानन्ति ये विमूढा वदन्ति ते ।
महादुःखैस्तनू त्यक्ता गुरुदेवेन चन्दुतः ॥९८॥

इस सत्य-रहस्य को बिना जाने ही कुछ मूर्ख लोगों ने वृथा कथा बना रक्खी है, कि श्रीगुरु ने, चन्दू द्वारा सताये जाने पर बड़े क्लेश-पूर्वक शरीर छोड़ा था ॥९८॥

सर्वदेवा यदाज्ञायां वर्तन्ते च समानवाः ।
कथं तेभ्यो गुरोर्दुःखं भवेदेतद्विचार्यताम् ॥९९॥

बुद्धिमान् लोग विचार करें, कि सारे देवता और मनुष्य, जिसकी आज्ञा मानते हैं, उस गुरु को भला, उन लोगों से दुःख कैसे प्राप्त हो सकता है ॥९९॥

वर्तमाने क्रिया सर्वा वर्तते यापि सद्गुरौ ।
मृषा सापि च विज्ञेया नटे नाट्यक्रिया यथा ॥१००॥

वे (श्रीगुरु) स्वयं परतत्व में समा गये। परन्तु जब वे भौतिक-देहसे जीवन-यापन करते थे, तो भी उनकी सब क्रियाएं एक खेल-क्रम

की थीं। जैसे कि नाटक में नट लोग पृथक् २ स्वांग बन कर क्रीड़ा करते हैं ॥१००॥

गुरुस्थानं गताः शिष्याः क्रियां कृत्वा यथोचिताम् ।
तत्रापि गुरुदेवेन कृतं कर्म समन्ततः ॥१०१॥

उनकी देहोपरान्त सारी क्रिया समाप्त कर, शिष्य लोग, गुरुस्थान पर गये। वहां भी श्रीगुरु हरिगोविन्द ने यथारीति सारी क्रिया संपन्न की ॥१०१॥

॥ दसवां विश्राम समाप्त ॥



अथैकादशो विश्रामः

यो यं दारुणशत्रुतूलदहनो नम्रेषु शीलावहो-
बाह्याभ्यन्तरखड्गचारुसरिता चक्रे जगत्पावनम् ।
योगाभ्यासनिरस्तसर्ववृजिनो ज्ञानेन मोहापहो-
वन्दे विघ्नविनाशनाय हरिगोविन्दं सदा सद्‌गुरुम् ॥१॥

ग्यारहवां विश्राम प्रारम्भ

दुष्ट-दुश्मनों को, कपास के ढ़ेरों की तरह जलाने वाले अग्नि-तुल्य, विनीत-प्रेमियों के शीलवान्-मित्र, बाहिर धारण किये खड्ग (तलवार) और अन्दर से धारण किये क्षमा, दम, शम आदि स्वरूपा-नदी से संसार-भर को शुद्ध पवित्र करने वाले, योग-युक्ति से सब आधि-व्याधि-उपाधियों को दूर करने वाले, ज्ञान-बल से मोहान्धकार को नष्ट करने वाले, सेवक-जनों के सारे विघ्नों को हटाने वाले, सद्‌गुरु श्री हरिगोविन्द को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥१॥

दुष्टवृत्तमिदं श्रुत्वा गुरो प्राह गुरुस्तदा ।
तपानलसम्प्रहारैश्च चन्दुमृत्युर्भविष्यति ॥२॥

सब कुछ उचित-क्रिया कर-कराने के बाद, दिवङ्गत सद्गुरु श्रीअर्जुनदेव के प्रति, दुष्ट-चन्दू द्वारा किये गये दुर्व्यवहार पर विचार कर, श्रीगुरु हरिगोविन्द ने प्रतिज्ञा की, कि उस दुष्ट (चन्दू) की मृत्यु, जूतों की मार से होगी ॥२॥

म्लेच्छराज्यं परन्त्वस्ति चन्दुश्च राजसंश्रितः ।
म्लेच्छमार्गस्य सान्निध्ये वर्तते सद्गुरोः पुरम् ॥३॥

परन्तु इस समय देश में म्लेच्छों (यवनों) का राज्य है। चन्दू को राजा का आश्रय-प्राप्त है। हमारा यह गुरु स्थान भी, यवनों के आने-जाने के रास्ते में ही विद्यमान है ॥३॥

अतः शस्त्राणि संगृह्य स्थातव्यं भुवि सर्वदा ।
विना क्रौर्यं कथं गच्छेज्जनो दुष्टस्तु मित्रताम् ॥४॥

इसलिये अब यहां अस्त्र-शस्त्रों को संधारण कर, हमेशा सावधान रहना चाहिये। क्योंकि दुष्ट को उग्रता दिखलाये बिना, सीधी राह पर लाना कठिन है ॥४॥

ज्ञात्वैवं बाह्यचिन्हं तु परित्यज्याथ निर्गुणम् ।
वीरचिन्हैः समायुक्तः शोभितस्तत्र सद्गुरुः ॥५॥

इस प्रकार भली भान्ति सोच विचार कर, श्रीगुरु हरिगोविन्द ने निर्मल-पन्थ के बाह्यचिन्हों को समयानुसार, परित्याग कर, वीरोचित चिन्हों को अपनाया और और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर वीर-वेश की शोभा बढ़ाई ॥५॥

सुधाकुण्डाभिमुख्येन कृत्वा च स्थलमुत्तमम् ।
उपदेशं चकारासौ यथा देवान् बृहस्पतिः ॥६॥

'अमृतसर' के सामने एक विशाल-स्थल का निर्माण कर, उन्होंने अपने अनुयायी-वर्ग को कर्तव्य-कर्म का उपदेश दिया। उस समय उनकी वैसी ही शोभा थी, कि जैसे बृहस्पति, देवताओं को उचित-कर्म समझा रहे हों ॥६॥

शिष्या ऊचुः कथं शिष्यैर्गुरो स्थेयं व्यवहारेषु सर्वदा ।
मुक्त्यर्थश्च गृहस्थानां कथं सिध्येद्दयानिधे ॥७॥

शिष्यों ने पूछा, हे गुरुदेव, व्यवहार - दशा में शिष्यों को कैसा आचरण करना चाहिये और गृहस्थी-लोगों को मुक्ति-मार्ग, किस प्रकार सेवनीय हो, यह सब कुछ हमें समझाईये ॥७॥

श्रीगुरुरुवाच—: मित्रे मित्रत्वसम्पत्तिर्नीतिः पादचतुष्टयम् ।
शत्रौ कार्यं सदाचैषा व्यवहारे व्यवस्थितिः ॥८॥

श्रीगुरु ने कहा, हे शिष्यो ? अपने मित्र-जनों में सुखाचार और शत्रु-वर्ग में नीति के चार उपायों (साम-दान-भेद-दण्ड) को काम में लाना चाहिये। व्यवहार-काल की यही सत्य-शिक्षा है ॥८॥

कृत्यं कृत्वा सतां सेवा दया दीनजनेषु च ।
सत्यवादिद्विजे दानं वेदवादिकुटुम्बिनि ॥९॥

अपना नित्य-कर्म करने के बाद, सन्तों की सेवा, दीन-हीन-जनों

पर दया, सत्यवादी, वेदपाठी गृहस्थ-ब्राह्मणों को दान-देना ॥९॥

बालवृद्धस्वकीयानां पोषणं भृत्यपालनम् ।
सति राज्ये निजांशस्य ग्रहणमेव निरन्तरम् ॥१०॥

अपने स्वजन, बालक, बूढ़ों का पालन-पोषण, सेवकों को आश्रय-दान, यदि अपना राज्य हो, तो प्रजा से यथानियम अपना भाग लेना, ... ॥१०॥

क्षमाहिंसानृशंसाद्या हरौ प्रीतिरमानिता ।
मनोवाचाधनैर्धीराः कर्मणा गुरुसेवनम् ॥११॥

यथास्थान दया, अहिंसा, अक्रूरता प्रभृति का वर्ताव, श्रीप्रभु की भक्ति, मानाभाव, मन, वाणी, धन और कर्म से गुरु-सेवा, ...॥११॥

मृषासक्ति र्न कर्तव्या पुत्रदारगृहादिषु ।
कृते चैवं सदा मुक्तिर्जायते गृहमेधिनाम् ॥१२॥

पुत्र, स्त्री, घर आदि में वृथा-आसक्त न होना, इत्यादि उदात्त-भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करने से गृहस्थों को भी मुक्ति-लाभ हो सकता है ॥१२॥

शिष्या ऊचुः —: इदं सर्वं प्रभो पथ्यं श्रीमुखेन यदुच्यते ।
अथ शिष्यैश्च कर्तव्यं ब्रूहि सत्यनिधे गुरो ॥१३॥

शिष्य बोले —: हे दयालु गुरुदेव, आपके श्रीमुख से परम-पथ्यरूप वचनों का श्रवण किया है । अब कृपाकर सामयिक-कर्तव्य की शिक्षा देकर हमें कृतार्थ कीजिये ॥१३॥

श्रीगुरुरुवाच—: अस्त्रशस्त्रादिसंपन्नाः शूरबीरा भवन्तु ते ।
क्षत्रजातौ य उत्पन्ना म्लेच्छसंहारहेतवे ॥१४॥

श्रीगुरु ने कहा —:यवनों के सर्वनाश के लिये ही जिन्होंने क्षत्रिय-जाति में जन्म पाया है, वे सभी वीर-पुरुष अब अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो जाएं ॥१४॥

धर्मयुद्धं च शूराणां परोधर्मोऽभिधीयते ।
विना योगं तदेव स्यात्सूर्यमण्डलभेदकम् ॥१५॥

शूरवीरों को धर्मयुद्ध करना ही श्रेष्ठ-कर्म है । धर्मवीरों को, यही धर्म-संग्राम, योग के बिना ही, सूर्य-मण्डल से पार, अमरधाम में पहुंचा देता है ॥१५॥

पाण्डुपुत्रैः कृतं युद्धं पूज्यब्राह्मणबान्धवैः ।
रणं चैतन्महापुण्यं म्लेच्छसंहारकारणम् ॥१६॥

आवश्यक धर्म-कर्म मान कर ही पाण्डवों ने, अपने पूज्य गुरु, ब्राह्मण एवं भाईयों से भी धर्म-युद्ध किया था । इसलिये अब यह संग्राम भी महापुण्यकारी होगा, कि जिसमें म्लेच्छों का संहार करने का महाव्रत है ॥१६॥

नैव सर्वे विनंक्ष्यन्ति यद्यपीदं प्रतीयते ।
गुरो र्वचयात्तथाप्येषां शनै र्नाशो भविष्यति ॥१७॥

पूर्व-गुरुओं के आशीर्वादों के कारण, यद्यपि यवनों का पूर्णतया नाश होना कठिन है, परन्तु उन्हीं गुरुओं के सत्य-वचनों के अनुसार, धीरे २ अवश्य ही इनका विनाश हो जाएगा ॥१७॥

वयं नाशं करिष्यामस्तथा पौत्रोमदीयकः ।
अवशिष्टाश्च नंक्ष्यन्ति गते वाक्ये विरोधिनि ॥१८॥

कुछ-दुष्टों को हम मारेंगे । कईयों को हमारा पौत्र (गुरु गोविन्द-सिंह) संहारेगा । बचे-खुचे स्वयं ही विरोध से मारे जायेंगे ॥१८॥

चन्दुनाशस्तु मुख्योऽस्ति सोऽपि युक्त्या भविष्यति ।
अतः शस्त्रादिसंयुक्ता वीरशिष्या भवन्तु मे ॥१९॥

सब से पहले चन्दू का वध मुख्यकर्तव्य है । वह भी युक्ति से किया जाएगा । इसलिये मेरे वीर-शिष्य, अब अस्त्र-शस्त्रों से अलंकृत होकर तैयार रहें ॥१९॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं क्षत्रियाश्च रसाश्रिताः ।
गर्जिताश्च ततः प्राहु मंद्रदेशनिवासिनः ॥२०॥

श्रीगुरु के वीर-सन्देश को पाकर, वीर-शिष्य वीर-रस से ओत-प्रोत हो गये । तब गम्भीर-गर्जना कर, पंजाबी-वीरों ने कहा ॥२०॥

वयं युद्धं करिष्यामः श्रीगुरो करुणानिधे ।
मारयित्वा मरिष्यामः प्रभोराज्ञानुरोधतः ॥२१॥

हे दयालु गुरुदेव, हम जङ्ग के लिए तैयार हैं । आपकी आज्ञा की देर है । हम दुश्मनों को मार कर ही मरेंगे, यह हमारी दृढ़-प्रतिज्ञा है ॥२१॥

यष्टिकादिप्रहारेण मस्तकानि च वैरिणाम् ।
चूर्णमेव करिष्यामः संशयो नात्र युज्यते ॥२२॥

आप कोई चिन्ता न करें। हम लाठी आदि के प्रहारों से वैरियों के सिर फोड़ कर चूर २ कर देंगे। इस में कोई सन्देह नहीं है ॥२२॥

इदं श्रुत्वा वचस्तेषां वरं प्राह गुरूत्तमः।
राज्यभाजो भविष्यन्ति मोक्षभाज इमे जनाः ॥२३॥

अपने शिष्यों की सिंह-गर्जना सुन कर, श्रीगुरु ने उन्हें संप्रोत्साहित करते हुए वरदान दिया, कि इस प्रकार के वीर-पुरुष राज्यभोग कर, अन्त में मोक्ष के अधिकारी बनेंगे ॥२३॥

इति श्रुत्वा वचो वृद्धः प्राह साधुरयं वरः।
अहोभाग्यं भवत्येषां मद्रदेशनिवासिनाम् ॥२४॥

श्रीगुरु के वर-वचनों को सुन कर, वृद्ध-सन्त ने समर्थन करते हुए कहा, [कि यह वरदान सत्य-सिद्ध होगा। इसके अनुरूप वीरकर्म करने वाले, पंजाब के निवासियों का भाग्योदय होगा ॥२४॥

ततः शस्त्राणि सर्वेभ्यो दत्तवांश्च गुरूत्तमः।
ते गृहीत्वा गता हर्षं बोधयन्तः परस्परम् ॥२५॥

तब श्रीगुरु ने उन सब वीर-पुरुषों को हथियार भेंट किये। उन्हें पाकर वे योद्धा अति-प्रसन्न हुए और परस्पर उचित-कर्म की चर्चा करने लगे ॥२५॥

उत्तमाङ्गं निजं दत्वा जनाः शिष्या भवन्ति हि।
श्रद्धया यत्स्वयं दत्तं तत्र रागो न युज्यते ॥२६॥

कि, लोग अपना सिर देकर शिष्य बनते हैं। फिर जो अपनी श्रद्धा से गुरु के अर्पण कर दिया हो, उसका मोह करना ठीक नहीं है ॥२६॥

धनं देहो मनश्चैतद्गुरो र्ज्ञात्वा सुनेवनम् ।
तस्य कार्यं सदा धीरा वेदसम्मतमेव तत् ।

तन, मन और, धन को, श्रीगुरु का उपहार करने पर, फिर उसमें उन्हीं का स्वत्व समझ कर, व्यवहार करना चहिये। ममता-वश, अपना अलग बर्ताव करना उचित नहीं है। ऐसा ही सिद्धान्त, वेदों ने भी बतलाया है ॥२७॥

ईदृशं वाक्यसन्दर्भं जनाः श्रुत्वा परस्परम् ।
गता वीररसं धीरा गुरोराज्ञानुसारिणः ॥२८॥

इस प्रकार परस्पर उदार-व्यवहार की चर्चा करते हुए वे लोग (शिष्य) वीर-रस से तृप्त होकर, श्रीगुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे ॥२८॥

सता ज्ञात्वा मतिं तेषां भक्तिकोपसमन्विताम् ।
जीविकामानदानेन रक्षितास्तत्सहायकाः ॥२९॥

उनकी वीरभावना, गुरुभक्ति, शत्रुओं पर क्रोध-वृत्ति आदि की परीक्षा कर, श्रीगुरु ने भोजन, वस्त्र, सम्मान, आश्रयदान आदि से उन्हें सन्तुष्ट किया ॥२९॥

गुरोर्वीररसं श्रुत्वा दूरदेशनिवासिभिः ।
प्रेषितानि तदा शिष्यैरश्वशस्त्राण्यनेकशः ॥३०॥

श्रीगुरु की वीर-रस पूर्ण आज्ञा को सुन कर, दूर के रहने वाले शिष्यों ने, अनन्त अस्त्र-शस्त्र और घोड़े आदि वाहन, उनकी सेवा में भेंट किये ॥३०॥

शस्त्रविद्यापरिष्कारं सदा चक्रुःपरस्परम् ।
अथोऽश्रृण्वन् महाशूरा रागं वीररसानुगम् ॥३१॥

अब वे वीर-शिष्य प्रतिदिन शस्त्र-चालन का अभ्यास करने लगे और वीर गाथाओं के अनुसार वीरता-प्रवर्धक गीत भी सुनने लगे ॥३१।

सर्वदाखेटलीलाद्यं गुरुश्चक्रे स्वभावतः ।
अश्वविद्यापरिष्कारं पूर्वराजर्षयो यथा ॥३२॥

श्रीगुरु भी, प्राचीन-राजर्षियों की भान्ति वीरतापूर्वक शिकार आदि क्रिया करते थे । साथ ही घोड़ों की सिखलाई में भी विशेष रुचि रखते थे ॥३२॥

चन्दुरेतां कथां श्रुत्वा गतः शोकमहोदधौ ।
ज्ञातवांश्च समेदानीं ध्रुवं ध्वंसो भविष्यति ॥३३॥

उधर दुष्ट चन्दू ने यह सब तैयारी होती देखी-सुनी, तो वह चिन्ता-सागर में डूबने लगा । उसने जान लिया, कि बस, अब मेरा अन्त होने वाला है ॥३३॥

ततश्चाह नृपं मूढ़ो हरिगोविन्दनामकः ।
गुरुः स्वामिन् समुत्पन्नो राज्यमेको हरिष्यति ॥३४॥

तब उसने पुनः बादशाह से कहा, कि स्वामी, हरिगोविन्द नाम का नया गुरु, पैदा हो गया है, जो आप के राज्य को छीनना चाहता है ॥३४॥

आर्यवर्गगुरुश्चासौ शूरवर्गशिरोमणिः ।
चन्द्रसूर्यसमं तेजस्तस्य राजन् विराजते ॥३५॥

वह आर्यों (हिन्दुओं) का गुरु और शूरवीरों का नेता है। उसका तेज चांद और सूर्य के समान प्रभावकारी है ॥३५॥

पार्श्वे तस्य महासेना श्रूयते चतुरङ्गिणी ।
अतो जाने महाशत्रुः स भविष्यति तावकः ॥३६॥

उसके पास बहुत-सी वीर-सेना है, जिसमें हाथी, घोड़ा, रथ, और पदाति-बल शामिल है। इससे मैं समझता हूं कि वह अवश्य ही आपका महाशत्रु सिद्ध होगा ॥३६॥

जहांगीर उवाच—: आद्यसद्गुरुदेवेन दत्तं राज्यं हरिष्यति ।
अयं भोः श्रीगुरुर्धीरस्त्वया ज्ञातमिदं कथम् ॥३७॥

बादशाह जहांगीर बोला—: अरे, आदि गुरु श्रीनानक के शुभ वरदान से संप्राप्त, हमारे राज्य को, उन्हीं का अनुयायी शिष्य, वर्तमान गुरु (हरिगोविन्द) हमसे छीन लेगा, यह बात तुमने कैसे जान ली है ॥३७॥

चन्दुरुवाच—: दत्तं राज्यं पुनः पित्रा कौरवैश्च हृतं यथा ।
पाण्डवेभ्यस्तथा ज्ञेयं लोमलीला विलक्षणा ॥३८॥

चन्दू ने कहा—: स्वामी, हमारा इतिहास बतलाता है कि पिता द्वारा पाण्डवों को दिये गये राज्य को, कौरवों ने: पुनः छीन लिया। वैसे ही यह (हरिगोविन्द) भी लोभी बन कर आपके तख्त को हड़पना चाहता है। क्योंकि लोभ की करामात बड़ी न्यारी होती है ॥३८॥

अतः सद्यस्त्वया कार्यःप्रतिकारोऽस्य वैरिणः।
अन्यथा तु गते काले परितापो भविष्यति ॥३९॥

इसलिए अभी से आपको इस घोर-शत्रु को काबू में रखने का सुप्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, बाद में पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥३९॥

इदं श्रुत्वा गतो भीतिं लेखिता तेन पत्रिका।
दर्शनेच्छा प्रभो जाता श्रीमतां वरपादयोः ॥४०॥

चन्दू की चाटूक्ति को सुनकर बादशाह का मन डर से भर गया। उसने यथा शीघ्र एक पत्र लिखवाकर श्रीगुरु हरिगोविन्द के पास भेजा, कि श्रीमन् ? आपके चरण-कमलों को देखने की मेरी हार्दिक अभिलाषा को पूर्ण कीजिये ॥४०॥

इत्यादिवाक्यसम्बद्धा मुख्यमन्त्रिकरेण सा।
प्रेषिता तां गुरुर्दृष्ट्वा चन्दुकृत्यं व्यजानत ॥४१॥

इस प्रकार गुरु-गुण-गौरव एवं सद्भावना युक्तपत्र को, मुख्यमन्त्री के द्वारा, बादशाह ने, श्रीगुरु की सेवा में प्रस्तुत किया। उस पत्र को देखकर, श्रीगुरु ने समझ लिया, कि यह सारी कुचाल चन्दू की ही प्रतीत होती है ॥४१॥

प्राह शिष्यानिदानीं भो श्चन्दुमृत्युर्भविष्यति ।
इन्द्रइस्थं गतः श्रीमान् मन्त्रिणा स्वहितैषिणा ॥४२॥

फिर उन्होंने अपने शिष्यों को सूचना देते हुए कहा, कि प्रिय लोगो ? अब निश्चित ही चन्दू की मौत होगी। यह कह कर वे स्वहितैषी-मन्त्री के साथ दिल्ली को चल दिये ॥४२॥

इदं वृत्तं गुरोः श्रुत्वा गतो राजाग्रतस्तदा ।
बहुसम्मानदानेन शुभस्थाने निवासितः ॥४२॥

श्रीगुरु के शुभागमन पर, बादशाह स्वयं उनके स्वागत में आगे बढ़ और उसने बहुत आदर-सत्कार पूर्वक, उन्हें श्रेष्ठ-भवन में ठहराने का सुप्रबन्ध किया ॥४३॥

चक्रे च गुरुदेवस्य स्वतो राजाथ सेवनम् ।
दर्शनं श्रीगुरोः कृत्वा सुप्रसन्नो बभूव ह ॥४४॥

बादशाह ने स्वयं उनकी सेवा करने का सुख-प्राप्त किया और उनके शुभ-दर्शन कर अति प्रसन्नता का अनुभव किया ॥४४॥

पुनश्चाज्ञानुसारेण गतो धीरो निजस्थलम् ।
चिन्तयन् श्रीमतः शीलं वचस्तेजोमनोहरम् ॥४५॥

फिर वह श्रीगुरु की आज्ञानुसार अपने आवास की ओर लौटा और प्रतिपल उनके शील, वचन, तेज का चिन्तन करने लगा ॥४५॥

प्राह चन्दुं ततः श्रीमान् गुरौ नैतत्प्रतीयते ।
यदुच्यते त्वया साधो लोभलेशादि सर्वथा ॥४६॥

फिर उसने चन्दू को बुलाकर समझाया, कि अरे, जो कुछ तुम श्रीगुरु के विपरीत, लोभ, छल-कपट आदि की बातें कहते हो, सो उनमें ऐसा कोई भी दुर्भाव नहीं दीखता ॥४६॥

सत्यराजं विजानन्ति जना विज्ञारतमेव हि ।
सत्यवस्त्व श्रितत्वेन मृषाराजं तु मादृशम् ॥४७॥

सभी समझदार व्यक्ति उन्हें सत्य का राजा समझते हैं, क्योंकि उनके पास केवल सत्य का ही बल है। मुझे तो प्रायः लोग झूठा राजा मानते हैं ॥४७॥

मृषावस्त्वाश्रितत्वे तु कथं तादृग्भविष्यति ।
अतो जाने गुरोरीशाद् विग्रहो न भविष्यति ॥४८॥

विचारवान् लोगों का ऐसा ही मत है, कि असत्य का आश्रय लेने से मैं भला, उस-कोटि का कैसे बन सकता हूं। इससे मैं समझता हूं कि उदार-प्रकृति एवं सर्व-समर्थ श्रीगुरु से हमारा कोई झगड़ा नहीं होगा ॥४८॥

चन्दुरुवाच—: तथाऽपेतत्परीक्षार्थं किंचिद् व्याजेन सद्गुरुः ।
प्रेषणीयो महादुर्गे होमयज्ञादिहेतवे ॥४६॥

चन्दू बोला—: स्वामी, इतने पर भी मेरी सलाह से आप ऐसा करें, कि उनकी भाव-परीक्षा के लिये, किसी बहाने से उन्हें आप दूर के किसी किले में भेजकर, आग्रह करें कि वे आपके शुभ-कार्य के लिये, हवन-यज्ञ आदि का सदनुष्ठान करें ॥४६॥

अस्तु चैवं वचश्चोक्त्वा प्राह देवं दिनान्तरे ।
गम्यतां भो कृपासिन्धो ग्वालयेरपुरं प्रति ॥५०॥

चलो, ऐसा ही सही, यों कह कर बादशाह ने दूसरे ही दिन श्रीगुरु से निवेदन किया, कि श्रीमन् ? आप ग्वालियर के किले में चलकर निवास कीजिये ॥५०॥

अनुष्ठाने कृते शीघ्रं श्रीमता ग्रहवेदना ।
नंक्ष्यत्येवं दयासिन्धो पण्डितैरिदमुच्यते ॥५१॥

वहां आप मेरे लिये कोई शुभ-अनुष्ठान करें, तो मेरी ग्रह-पीड़ा नष्ट हो जाएगी, ऐसा मुझे विद्वान्-पण्डितों ने बतलाया है ॥५१॥

इदं श्रुत्वा करं दृष्ट्वा तस्य चाह गुरूत्तमः ।
ग्रहश्चैको महाक्रूरो वर्तते हि तवोपरि ॥५२॥

उसकी यह बात सुन कर, श्रीगुरु ने उसका हाथ देखा और कहा, कि हां, तुम्हारे सिर पर एक बड़ा क्रूरग्रह सवार हुआ है ॥५२॥

इहामुत्रापि राजेन्द्र महारौरवकारणम् ।
मत्सकाशादहो राजंस्तस्य ध्वंसो भविष्यति ॥५३॥

हे राजन् ? वह ऐसा दुष्ट-ग्रह है, कि जिसके कारण यहां और वहां (परलोक में) भी तुम्हारे लिये नरक-यातना का भय बना हुआ है। अब तुम निश्चिन्त रहो। मेरे हाथों से अवश्य उस ग्रह का नाश होगा ॥५३॥

वयं तत्र गमिष्यामश्चत्वारिंशद्दिनानि भोः ।
अनुष्ठानं करिष्यामः पंचशिष्यसमन्विताः ॥५४॥

मैं वहां (ग्वालियर-दुर्ग से) जाकर, चालीस दिन तक अपने पांच शिष्यों सहित, एकान्तवास कर, शुभ-अनुष्ठान करूंगा ॥५४॥

इदमुक्त्वा गतः श्रीमान् पंण्डज्येष्ठादि संयुतः ।
गता हर्षं गुरुं दृष्ट्वा राजानो दुर्गवासिनः ॥५५॥

बादशाह को सहारा देकर, श्रीगुरु अपने पंण्ड-ज्येष्ठ प्रभृति पांच सरदार-शिष्यों को साथ लेकर उस दिशा को चल दिये। वहां पहुंचने पर दुर्गनिवासी राजाओं ने इनके शुभागमन को बड़ी प्रसन्नता से सत्कारा और स्वीकारा ॥५५॥

श्रीप्रसादो बभूवैकस्तत्र नित्यं सदाज्ञया ।
तं च लब्ध्वा स्म तृप्यन्ति जना दुर्गनिवासिनः ॥५६॥

वहां एक "श्रीप्रसाद" नाम का सेवक था, जो श्रीगुरु की आज्ञा का निरन्तर पालन करता था। उस सेवक को पाकर अन्य दुर्गवासी राजा लोग भी खुश थे ॥५६॥

चन्दुनापि कृतं सर्वं दुष्टकृत्यमनेकधा ।
नैव च्छिन्नं ततः किंचिद्गुरोः सिद्धशिरोमणेः ॥५७॥

इधर दुष्ट चन्दू ने अनेक कुचक्र रचे। परन्तु वह, सिद्धराज श्रीगुरु का बाल भी बांका न कर सका ॥५७॥

सङ्केतिते गते काले नो कृतं गुरुचिन्तनम् ।
यदा राज्ञा तदा पैण्डः सिंहरूपो बभूव ह ॥५८॥

बादशाह ने अपने निश्चित-समय पर, जब श्रीगुरु की कोई खबर नहीं ली, तब श्रीगुरु का शिष्य 'पैण्ड'' उग्र-सिंहरूप को धारण कर बैठा ॥५८॥

अर्धरात्रे गतःशीघ्रं गर्जितो नृपसन्निधौ ।
महात्रासं गतो दृष्ट्वा राजा सिंहवपुस्तदा ॥५९॥

आधीरात के समय वह बादशाह के सिरहाने पर खड़ा होकर गर्जने लगा । उस सिंह-गर्जना को सुनकर बादशाह भयभीत होकर जागा और सामने ही सिंहरूप को देख कर कांप उठा ॥५९॥

प्राह सिंहं भगोः पाहि किं निमित्तं तवागमे ।
विस्मृतिः श्रीगुरोर्मूढ श्वो गमिष्यामि सद्गुरुम् ॥६०॥

कांपते हुए उसने कहा, "हे नृसिंह ! मुझे क्षमा करो । आपने किस कारण यहां आने का कष्ट किया ?" सिंह ने कहा, रे मूर्ख, तुमने श्रीगुरु को क्यों भुला दिया ?" तब बादशाह ने गिड़गिड़ा कर वचन दिया, कि देव, कल मैं अवश्य उनकी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा ॥६०॥

गतश्चैतद्वचः श्रुत्वा पैण्डोऽपि गुरुसन्निधिम् ।
अश्वबाहा गता शीघ्रं तत्क्षणं नृपनोदिताः ॥६१॥

बादशाह से यह स्वीकारोक्ति सुनकर, पंण्ड, यथाशीघ्र श्रीगुरु के पास पहुंच गया। तब बादशाह के अश्वारोही-दूत भी वहां जाकर हाज़िर हुए ॥६१॥

तत्र गत्वा कृता सर्वैः प्रार्थना गुरुसन्निधौ ।
गम्यतां भोः कृपासिन्धो नृपो दर्शनमीहते ॥६२॥

श्रीगुरु के समक्ष उपस्थित होकर उन राज-सेवकों ने प्रार्थना की, कि देव, चलिये, बादशाह आपके दर्शनों के अभिलाषी हैं ॥६२॥

श्रीगुरुरुवाच —ः अत्रस्थितैर्नृपैः साकं निः सरामो न चान्यथा ।
इदं श्रुत्वा नरः कश्चिद्गतो राजसमीपताम् ॥६३॥

श्रीगुरु ने कहा, —ः 'अरे, हम तो इन सब दुर्गनिवासी साथियों को साथ लेकर ही यहां से प्रस्थान करेंगे, अन्यथा नहीं।' उनका यह आग्रह-वचन सुन कर एक राज-सेवक दौड़ा और बादशाह को सारा संवाद सुनाने लगा ॥६३॥

ततः श्रुत्वा नृपो वृत्तं प्राह सद्गुरुकंचुकम् ।
यो गृहीत्वा नृपो गच्छेन्निः सरेद्गुरुसङ्गतः ॥६४॥

बादशाह ने सब कुछ सुना और पुनः सन्देश भिजवाया, कि जो कोई राजा, श्रीगुरु के चोले को पकड़ कर चलेगा, वह वहां से निकल सकता है ॥६४॥

राजवाचमिमां श्रुत्वा सोऽतिशीघ्रं समागतः ।
गम्यतां भोः कृपासिन्धो प्राह देवं यथेच्छया ॥६५॥

बादशाह की आज्ञा से वह दूत, जल्दी २ वापिस आया, और श्रीगुरु से कहने लगा, कि देव ? आप यथेच्छ-रीति से जा सकते हैं ॥६५॥

इदं श्रुत्वा गतं वृद्धिं श्रीगुरोः कंचुकं वरम् ।
तद् गृहीत्वा नृपाः सर्वे निःसृता राजबन्धनात् ॥६६॥

श्रीगुरु ने जब बादशाह का मन्तव्य सुना, तो अपने चोले को बहुत लम्बा-चौड़ा कर लिया। उसे थाम कर सभी दुर्ग-निवासी (बन्दी) राजा लोग, श्रीगुरु के साथ ही साथ वहां से बाहिर निकल आये ॥६६॥

अत्र केनापि राजानं चन्दुकृत्यमशेषतः ।
श्रावितं श्रीगुरौ धीरा नृपः श्रुत्वा विमोहितः ॥६७॥

इधर किसी गुप्तचर ने बादशाह को, चन्दू के काले कारनामों का किस्सा सुना दिया, जो उसने श्रीगुरु के विरुद्ध काम किये थे। उस दुःख-दाई चर्चा को सुन कर राजा चिन्ता में पड़ गया ॥६७॥

आगते श्रीगुरौ राजा गतः शीघ्रं तदग्रतः ।
वाहनादीन् परित्यज्य नतः पादारविन्दयोः ॥६८॥

जब श्रीगुरु दिल्ली में पहुंचे, तो बादशाह स्वयं उनके स्वागत के लिये आगे बढ़ा। उसने सवारी को त्याग कर, पैदल ही चलना ठीक समझा और आगे जाकर वह श्रीगुरु के श्री चरणों पर झुक गया ॥६८॥

महारम्ये निजारामे गुरोर्वासमकारयत् ।
प्राह देवं गता पीडा श्रीमतां कृपया प्रभो ॥६९॥

अब उसने उन्हें अति-सुन्दर निजी-भवन में ही ठहराया और पास आकर मधुर-भाव से निवेदन किया, कि हे देव ? आप के कृपापूर्ण-सुप्रयत्न से मेरी पीड़ा मिट गई हैं ॥६९॥

दीयतां च कृपासिन्धो चिन्हमद्भुतमौक्तिकम् ।
स्वीयहस्तगतं श्रीमन्मालामेरुर्भविष्यति ॥७०॥

अब आप इतनी दया और करें कि अपनी माला का एक मोती मुझे दान दें । मैं इसे अपनी माला (तस्बी) का मेरु (मध्यमणि) बना लूंगा ॥७०॥

प्राह दत्वा नृपं देवो मालिका पृथिवीपते ।
ईदृशी श्रीगुरोरासीद्वर्ततें चन्दुसन्निधौ ॥७१॥

अपनी माला का एक दाना (मोती) देकर श्रीगुरु ने कहा, राजन् ! ऐसी ही एक माला मेरे सद्गुरु (श्री अर्जुनदेव) की थी, जो अब चन्दू के अधिकार में है ॥७१॥

कथं देवेतिपृष्टः सन् प्राह वृत्तं गुरूत्तमः ।
गतःकोपं श्रुतं श्रुत्वा प्रेषितो निजचारकः ॥७२॥

बादशाह ने पूछा, हे 'देव, वह माला चन्दू के हाथ में कैसे लगी ?" तब श्रीगुरु ने श्रीसद्गुरु से किये, चन्दू के दुर्व्यवहार की सारी पूर्व-कथा कह कर सुनाई । उसे सुनते ही बादशाह क्रोधित हो गया और उसने तत्क्षण अपना एक दूत चन्दू के पास भेजा ॥७२॥

प्राह चारं न मालास्ति गुरोर्द्रोहीति मद्गृहे ।
अन्वेषणे कृते राज्ञा निःसृतं दाम तद्गृहात् ॥७३॥

परन्तु दुष्ट चन्दू ने उस दूत से साफ २ झूठ कह दिया, कि "उस द्रोही गुरु की कोई माला वगैरह मेरे पास नहीं है ।" तव बादशाह ने उसके घर की खोज लगवाई, तो ठीक, वह माला वहां से प्राप्त होगई ॥७३॥

वस्तुजातं ततः सर्वं निःसृतं जगतां गुरोः ।
इदं दृष्ट्वा महीपालश्चन्दुमेव मुवाच ह ॥७४॥

एक माला ही नहीं, बल्कि सद्गुरु (श्री अर्जुनदेव) की अन्य बहुत-सी अमूल्य वस्तुएं भी चन्दू के घर से बरामद हुईं । यह सब कुछ देख-सुन कर बादशाह ने चन्दू को डांट कर कहा ॥७४॥

गच्छ मूढ सता साकं गतिस्तेत्र भविष्यति ।
अन्यथा न विमुच्येथा जन्मकोटिशतैरपि ॥७५॥

रे मूढ़, अब तेरे कल्याण का एक ही रास्ता है, कि तुम श्रीगुरु के साथ रहो और उनकी यथेष्ट-सेवा करो । अन्यथा करोड़ों जन्मों में भी तेरा उद्धार नहीं हो सकता ॥७५॥

इदमुक्त्वा गतो राजा गृहं श्रीगुरुवाक्यतः ।
चन्दुवृत्तमिदं श्रुत्वा हर्षिताः सकला जनाः ॥७६॥

चन्दू को सुमार्ग की शिक्षा देकर और श्रीगुरु की आज्ञा लेकर बादशाह अपने महलों में चला गया । चन्दू की सामयिक-कहानी सुनकर सब लोग मजाक उड़ाने लगे ॥७६॥

आगताः श्रीगुरोः शिष्या इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
अन्यदेशस्थशिष्याश्च श्रीप्रसादेन संयुताः ॥७७॥

तब श्रीगुरु के दिल्ली-वासी शिष्य एवं अन्य स्थानवासी शिष्य भी, श्रीप्रसाद के साथ २ वहां आ पहुंचे ॥७७॥

हर्षिताः श्रीगुरुं दृष्ट्वा पादपङ्कजयोर्नताः ।
श्रीप्रसादं गुरोर्लब्ध्वा गतास्तृप्तिमनुत्तमाम् ॥७८॥

वे सब श्रीगुरु के शुभ-दर्शन कर परम-प्रसन्न हुए और बारी २ उनके श्री चरणों में झुके । उनका वर-प्रसाद पाकर उन सभी अनुयायियों ने सन्तोष प्राप्त किया ॥७८॥

किंचित्काले गते देवो गतो धाम निजं प्रति ।
दशा चन्दोर्यथा जाता विद्यते भुवनत्रये ॥७९॥

उसके बाद श्रीगुरु अपने गुरुस्थान पर चले गये । दुष्ट-चन्दू की जैसी-कैसी दुर्गति हुई, सो सारा संसार जानता है ॥७९॥

मृतः किंचिद् गते काले जहांगीर नृपालकः ।
तस्य पुत्रो नृपो भूत्वागतो राज्यं चकार ह ॥९०॥

उसके बाद थोड़े ही दिनों में बादशाह जहांगीर मर गया । तब उसका बेटा (शाहजहां), बादशाह बनकर हुकूमत करने लगा ॥८०॥

नैव चक्रे गुरौ श्रद्धां शिक्षितोऽपि पितेव सः ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि किं निरोधः करिष्यति ॥८१॥

अपने पिता (जहांगीर) के समझा देने पर भी, उसने श्रीगुरु में यथापूर्व श्रद्धाभाव नहीं रक्खा । प्रायः सब लोग अपने २ स्वभाव के

वशीभूत रहते हैं। इसमें किसी अंकुश का अधिक प्रभाव नहीं होता ॥८१॥

हयः केनापि शिष्येण प्रेषितो गुरुसन्निधौ।
वृत्तमेतन्नृपः श्रुत्वा तं जहार प्रयत्नतः ॥८२॥

एक दिन किसी शिष्य ने एक उत्तम घोड़ा, श्रीगुरु की सेवा में भेजा। परन्तु बादशाह शाहजहां ने यह खबर सुनते ही, चालाकी से वह घोड़ा, अश्व-वाहकों से छीन लिया ॥८२॥

आनेतारो गुरुं प्राहुर्निष्फला अगमत् क्रिया।
अस्मदीया प्रभो जाता सफला किं भविष्यति ॥८३॥

तब उन अश्व-वाहकों ने आकर सारी आपबीती सुनाते हुए प्रार्थना की, कि हे गुरुदेव, हमारा प्रयत्न बेकार हो गया। क्या भविष्य में कभी सफलता हो सकेगी ॥८३॥

प्राह देवो धनैर्धीराः सफला सा भविष्यति।
श्रद्धावद्भिः कृतं कर्म निष्फलत्वं न गच्छति ॥८४॥

श्रीगुरु ने, उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, कि धीर-पुरुषो, घबराने की कोई बात नहीं है। हमारी योजना अवश्य सफल होगी। श्रद्धा-विश्वास से किये गये कार्य कभी निष्फल नहीं होते ॥८४॥

कदाचित्तु हयश्चासावेकपादेन पीडितः।
प्रेषितोऽतस्तदा राज्ञा स्वस्य पुण्यगृहं प्रति ॥८५॥

एक दिन की बात है कि वह चुराया गया घोड़ा, एक पाँव से लंगड़ाने लगा। तब चालाक बादशाह ने उसे भेंट-स्वरूप अपने पूज्याचार्य (मौलवी) की सेवा में भेज दिया ॥८५॥

सता क्रीतस्ततो वाजी मुद्रिकाश्च दिनान्तरे।
दातुमुक्तं विलम्बे च गुरुस्थानं जगाम सः ॥८६॥

संयोगवश श्रीगुरु ने उस मौलवी से वही घोड़ा खरीद लिया। उसकी कीमत कुछ समय के बाद चुका देने का वचन हुआ। परन्तु जब मूल्य मिलने में कुछ देर हुई, तो वह मौलवी उनके स्थान पर आ पहुंचा ॥८६॥

नाद्य सन्तीति वृद्धोक्तिं श्रुत्वा प्राहाथ मूढधीः।
तव भूत्वा च जामाताऽश्वो गृहीष्यामि मुद्रिकाः ॥८७॥

मौलवी ने पैसे मांगे। सिद्ध-वृद्ध ने कहा, आज नहीं, फिर कभी आना। तब मौलवी मूर्खतावश कह बैठा, कि अच्छा, आज नहीं, तो कल मैं तुम्हारा जामाता (जवाई) बन कर अपने पैसे वसूल कर लूंगा ॥८७॥

इदं श्रुत्वा वचो वृद्धो विपरीतं भविष्यति।
आह श्रुत्वा गतो मूढो गृहं कोपेन संयुतः ॥८८॥

तब वृद्ध-सिद्ध ने उसे सुनाया, कि अरे, तुम्हारा यह कथन उलटा होकर वर्तेगा याने हम ही तेरे जवाई बनेंगे। उसकी यह गंभीर वाणी सुन कर वह मूर्ख मौलवी क्रोधित होकर अपने ठिकाने पर चला गया ॥८८॥

इदं सर्वं श्रुतं देवैर्वाक्यजातं गृहान्तरे ।
प्राह वृद्धं गुरुः श्वोऽसौ सती वाचा भविष्यति ॥८९॥

वृद्ध-सिद्ध और मौलवी की सब बातें, श्रीगुरु ने अन्दर बैठे २ सुन लीं । उन्होंने कहा, कि कल अवश्य ही तुम्हारी वाणी सत्य-सिद्ध होगी । ८९॥

देवाङ्गनोर्वशी संज्ञा कपिलस्य तु शापतः ।
अस्य साधो गृहे जाता तदुद्धारो भविष्यति ॥९०॥

हे साधु, सुरनारी उर्वशी, श्रीकपिल-मुनि के शाप से, इस मौलवी के घर कन्या-रूप में जन्मी है । सो, तुम्हारे कहने के अनुसार, अब उस बेचारी का उद्धार हो जाएगा ॥९०॥

गुरोर्वासोऽपि तत्रासीन्म्लेच्छमान्यगृहाग्रतः ।
षोडशाब्दा तदीयाऽभूद्दिव्यकन्यातिरूपिणी ॥९१॥

सौभाग्य-वश उन दिनों में, श्रीगुरु का आवास-भवन, उसी मौलवी के घर के पास था । उसकी वह लड़की, सोलह साल की, दिव्य-रूपा एवं सर्वाङ्ग सुन्दरी थी ॥९१॥

अतो राज्ञोपि तत्राभूदभिलाषो निरन्तरम् ।
मोहिता सा स्वयं दृष्ट्वा गुरोरूपं मनोहरम् ॥९२॥

बादशाह शाहजहां स्वयं उससे शादी का उम्मीदवार था । परन्तु वह सुन्दरी श्रीगुरु के रूप-यौवन पर लट्टू हो चुकी थी ॥९२॥

प्रेषिताथ तया दासी गते चास्तं दिवाकरे ।
श्रावितं च तया वृत्तं प्राह देवस्तदुत्तरम् ॥९३॥

दूसरे दिन शाम को उस यवन-कन्या ने अपनी दासी को समझा-बुझा कर श्रीगुरु के पास भेजा । तब उस दासी ने वहां आकर सारी प्रेम-कहानी सुनाई, जिसे सुन कर श्रीगुरु ने उत्तर दिया ॥९३॥

भोगवांछा नचेदस्ति तदागच्छेन्न संशयः ।
इदं श्रुत्वा गता दासी पुनःशीघ्रं समागता ॥९४॥

कि "अगर उसको (यवन-कन्या को) वासनामयी-प्रीति नहीं है, तो वह बड़ी खुशी से यहां आसकती है ।" यह सुन कर वह दासी वापिस गई और फिर जल्दी ही लौट आई ॥९४॥

प्राह देवं न भोगेच्छा दर्शनेच्छैव वर्तते ।
प्रभोस्तस्यास्त्वया साकं सा गमिष्यति सत्पुरम् ॥९५॥

उस दासी ने पुनः प्रार्थना की, कि हे गुरुदेव, उसकी भोगेच्छा नहीं है । वह तो आपके दर्शन की प्यासी है और आपके साथ ही गुरुस्थान में जाना चाहती है ॥९५॥

अस्तु चैवं प्राह चैनां गता श्रुत्वा तदन्तिके ।
प्राह चैनां तदा दासी गम्यतां गुरुसन्निधौ ॥९६॥

श्रीगुरु ने उसे स्वीकार कर लिया । तब वह दासी यवन-दुलारी के पास दौड़ी गई और कहने लगी, कि तुम अभी २ श्रीगुरु के पास चली चलो ॥९६॥

इदं श्रुत्वा गता न्यस्त्वा वाजिपृष्ठे गुरूत्तमः ।
पंचशिष्यैः समं प्राप्तो व्राडग्रामसमीपताम् ॥९७॥

दासी से शुभ-संवाद सुन कर वह यवन-बाला, उसीक्षण में श्रीगुरु की सेवा में आ पहुंची। तब उसे एक घोड़े पर बिठा कर, श्रीगुरु ने अपने पांच शिष्यों को साथ लिया और चल पड़े। उन्होंने व्राड ग्राम (वाघो के) के पास आकर विश्राम किया ॥९७॥

तत्र स्नात्वा हरिं ध्यात्वा कृता तीर्थस्य कल्पना ।
ततः प्रातर्गतो देवः सुधापुष्करमुत्तमम् ॥९८॥

वहां उन्होंने स्नान कर, श्रीहरि का ध्यान किया और पवित्र-तीर्थ की कल्पना की। फिर प्रातः वे सुधासर (अमृतसर) में आ गये ॥९८॥

तस्यावाचीदिशा भागे कौलां तु दिव्यरूपिणीम् ।
स्थापयित्वा गतो देवो गुरुस्थानमनुत्तमम् ॥९९॥

अमृतसर से दक्षिणदिशा की ओर, उस सुन्दरी कौला को ठहरा कर, वे अपने गुरुस्थान पर चले गये ॥९९॥

तत्रैव गुरुदेवेन कारितं मन्दिरं शुभम् ।
कौलायास्तु निवासार्थं देवमन्दिरसन्निभम् ॥१००॥

फिर उन्होंने वहीं पर एक सुन्दर भवन बनवा कर, उस सुन्दरी को निवास के लिये दे दिया। वह भवन देव-मन्दिर के समान सुन्दर और पवित्र था ॥१००॥

कदाचित्तु पिता तस्या गुरुस्थाने समागतः ।
मुद्रिकार्थं गुरुश्चैनं कृपादृष्ट्या व्यलोकयत् ॥१०१

कुछ दिनों के बाद उसका पिता (मौलवी) अपने घोड़े के पैसे लेने के लिये पुनःगुरुस्थान पर आया । तब श्रीगुरु ने उसे विशेष दया-दृष्टि से देखा ॥१०१॥

प्रेषितस्तत्सुतागेहे भक्ष्यभोज्याविहेतवे ।
तत्र दृष्ट्वा सुतां मूढो लज्जितो गृहमागतः ॥१०२॥

श्रीगुरु ने उसे खाना खाने के लिये, कौला के घर भेज दिया । जब वह वहां गया तो अपनी ही बेटी को देख कर, लज्जित हुआ और तुरन्त वापिस होकर अपने घर को चला आया ॥१०२॥

तद्गृहे च कृपादृष्ट्या प्रेषिता मुद्रिकाः सता ।
तेन ज्ञातमिदं दृष्ट्वा पुरुषोऽसौ विलक्षणः ॥१०३॥

तब श्रीगुरु ने उस पर दया करते हुए, उसके घर में वह रकम भेजदी, जो कि वस्तुतः अपने ही घोड़े के लिए, निश्चित की थी । इस आश्चर्य भरे व्यवहार पर वह मौलवी जान गया, कि श्रीगुरु कोई विचित्र ही व्यक्ति हैं ॥१०३॥

गुरोर्वृत्तमिदं सर्वं तदा राज्ञे निवेदितम् ।
कोपयुक्तो बभूवासौ मन्त्रिमुख्येन तोषितः ॥१०४॥

फिर उसने श्रीगुरु की सारी कथा बादशाह शाहजहां को सुनाई । उसे सुनकर वह क्रोध में आ गया । परन्तु उसके चतुर महामन्त्री ने उसे समझा-बुझा कर शान्त कर लिया ॥१०४॥

काश्मीरे च बभूवैका गुरोर्भक्ता तपस्विनी ।
सत्यनामेतिमन्त्रस्य कृतोऽभ्यासस्तयान्वहम् ॥१०५॥

काश्मीर में भी श्रीगुरु की एक शिष्या थी । वह तरुण-तपस्विनी भक्ति-प्रवीणा, "सत्यनाम" की अनन्य-साधिका और गुरु की परम-उपासिका थी ॥१०५॥

तदभ्यासेन सन्तुष्टा निर्जरास्तु समागताः ।
अर्चिषाद्या विराडन्ता प्राहुरेतां प्रशंसया ॥१०६॥

उसके तीव्र-व्रत और नाम-जप के सुदृढ़-अभ्यास से संतुष्ट होकर, अग्नि-मुख्य, ब्रह्मा आदि देवता स्वयं उसके सामने प्रकट हुए और प्रशंसा-पूर्वक कहने लगे ॥१०६॥

अस्मदीयेषु लोकेषु गच्छ मातस्तपस्विनी ।
सर्वसौख्येन सम्पन्ना दुःखहीनाश्च ते यतः ॥१०७॥

कि, हे देवी, तुम परम-तापसी हो । इसलिये अब हमारे लोकों में चल कर यथेष्ट-निवास करो । क्योंकि वहां हर प्रकार की सुखसम्पत्ति समुपलब्ध है । किसी प्रकार का क्लेश नहीं होगा ॥१०७॥

भाग्यभर्युवाच—: ईर्ष्यादिदोषसम्पन्ना नाशवन्तश्च ते यतः ।
अतो गच्छामि नैवाहं तत्र देवा बिनाशिषु ॥१०८॥

भाग्यभरी बोली —: हे देव-वृन्द, आप के सभी लोक, ईर्ष्या-द्वेष आदि दूषणों से दूषित, नाशवान् और अल्प सुखकारी हैं । इसलिये मैं कभी वहां जाना पसन्द नहीं करूंगी ॥१०८॥

सद्गुरु र्मे दयाशीलो हरिगोविन्दनामकः
आगमिष्यति दृष्ट्वा तं ध्रुवं यास्यामि तत्पदम् ॥१०९॥

मेरे सद्गुरु श्रीहरिगोविन्द, बड़े दयालु-महापुरुष हैं। वे मेरे उद्धार के लिये आएंगे। बस, उनके पुण्य-दर्शन कर, मैं परम-धाम को प्रस्थान करूंगी ॥१०९॥

इदं वृत्तं गुरुर्ज्ञात्वा भाग्यसर्याश्च सर्ववित्।
तदा शीघ्रं गतो देवोऽनन्यभक्त्या तदीयया ॥११०॥

उसकी आन्तरिक-सदभिलाषा को, सर्ववेत्ता श्रीगुरु ने जान लिया। तब वे यथाशीघ्र ही उसकी तीव्र-साधना के वशीभूत होकर वहां (काश्मीर में) जा पहुंचे ॥११०॥

उत्थिता संभ्रमं देवी गुरुं दृष्ट्वा तपस्विनी।
त्राहि देवेति सा चोक्त्वा नता पादारविन्दयोः ॥१११॥

श्रीगुरु को अपने सामने आया देख कर, वह तपोलीना देवी, जल्दी से उठी और उनके श्रीचरणों में झुककर बोली, हे देव, मेरा उद्धार कीजिये ॥१११॥

कंचुकाय गुरोर्वस्त्रं कृतं देव्या स्वपाणिना।
अर्पितं श्रीगुरोरग्रे सुप्रसन्नो बभूव सः ॥११२॥

उसने उनके चोला के लिए, अपने हाथों से तैय्यार किया हुआ स्वच्छ-वस्त्र, उनको समर्पित किया। उस श्रद्धा-भेंट को ग्रहण कर श्रीगुरु परम प्रसन्न हुए ॥११२॥

स्वीकृतं श्रीमता शीघ्रं कारयित्वा च कंचुकम् ।
शौरिणापि यथाकारि सौदामकणभक्षणम् ॥११३॥

श्रीगुरु ने यथाशीघ्र ही उस कपड़े का चोला बनवा कर सहर्ष धारण कर लिया। जैसे कि, भगवान् श्रीकृष्ण ने, अपने अभिन्न-मित्र, सुदामा के चावल-कणों को प्रेम-पूर्वक स्वीकारा था ॥११३॥

प्राह देवोऽथ वक्तव्यं त्वया साध्वि किमिच्छसि ।
यदर्थं ध्यानमाकारि दुर्लभं न च किंचन ॥११४॥

तब उन्होंने उससे पूच्छा, कि देवि, कहो, तुम्हें क्या चाहिए। जिसके लिये तुमने मुझे स्मरण किया है, सो, सब मनोरथ पूरा करूंगा ॥११४॥

माग्यवयुंवाच :— सत्यनामेतिमन्त्रस्य श्रीमतां करुणानिधे ।
कृतोभ्यासो मया नित्यं नान्यदेवस्य चिन्तनम् ॥११५॥

भाग्यभरी ने कहा, हे गुरुदेव, मैंने आपके "सत्यनाम" मन्त्र का ही निरन्तर अभ्यास किया हैं। इसके अतिरिक्त और किसी भी देवता को नहीं ध्याया ॥११५॥

मन्त्रस्तस्य प्रभावेन देवसङ्घः समागतः ।
स्वस्य स्वस्य तु लोकार्थं प्रार्थनां कृतवानसौ ॥११६॥

उसी महामन्त्र के सुप्रभाव से सारे देवता स्वयं सन्तुष्ट होकर मेरे पास आये थे। उन्होंने क्रमशः अपने लोकों में लेजाने के लिये, मुझे बहुत प्रलोभन दिए ॥११६॥

स्वीकृतं नो मया किञ्चिद्वाक्यजातं तदीयकम् ।
श्रीमतां यद्भवेदाज्ञा सा भविष्यति नान्यथा ॥११७॥

परन्तु मैंने उन देवताओं की कोई बात नहीं मानी । अब आपकी जो पवित्र-आज्ञा हो, सो मैं सदा पालन करूंगी ॥११७॥

श्रीगुरुरुवाच —: गच्छ साध्वि गुरोर्लोकं सत्यखण्डेतिसंज्ञकम् ।
प्रापयिष्यन्ति ये देवा आतिवाहकतां गताः ॥११८॥

श्रीगुरु बोले, हे साध्वि, तुम "सत्य-खण्ड" नाम से प्रसिद्ध, श्रीगुरु लोक में चली जाओ । इस लोक से उस लोक तक लेजाने वाले देव-विशेष (देवदूत) तुम्हें वहां आराम से पहुंचा देंगे ॥११८॥

ब्रह्मलोके गता देवि स्वयं यास्यसि सत्पदम् ।
वेदवाचो यतश्चाहुः पुनरावर्तते नहि ॥११९॥

ब्रह्मलोक को प्राप्त कर, तुम स्वयमेव सत्स्वरूप परम-पद को प्राप्त कर लोगी । वेदों के वचनानुसार, उस अवस्था से पुनः आवागमन नहीं होता ॥११९॥

सत्यनामेतिशब्दस्य कृतोऽभ्यासस्त्वया यतः ।
अतश्चैतेन मार्गेण प्राप्स्यसि परमं पदम् ॥१२०॥

भद्रे, तुमने निरन्तर श्रद्धा-भक्ति से "सत्यनाम" के शब्दमात्र का अभ्यास किया है । इसलिये तुम इसी क्रम से (उपर्युक्त) पर-गति को पाओगी ॥१२०॥

अर्थाभ्यासो यदाकारि तदा मातरिहैव हि ।
सत्यखण्डस्य लाभः स्यादिति मे निश्चिता मतिः ॥१२१॥

जब उसके पर्याप्त-अर्थाभ्यास की ओर तुम्हारा ध्यान होगा, तो उसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन पूर्वक ज्ञानभावना से इसी लोक में सत्य-लोक का प्रत्यक्ष-लाभ होना निश्चित है । यह मैं सत्य-सिद्धान्त-तत्त्व, तुम्हें समझा रहा हूं ॥१२१॥

वाक्यजातमिदं श्रुत्वा नता पादारविन्दयोः ।
गुरोर्देवी ततश्चक्रे भक्ष्यभोज्यादिसङ्गतम् ॥१२२॥

इस प्रकार श्रीगुरु से पारमार्थिक, तत्व-बोध की शिक्षा पाकर वह देवी, उनके पवित्र-चरणों पर नतमस्तक हुई । फिर उसने उनके खान-पान के लिये सामग्री जुटाई ॥१२२॥

सुप्रसन्नस्तदा देवः प्राह कृत्वाथ भोजनम् ।
गच्छाम्यहं गुरुस्थानं त्वं गमिष्यसि सत्पदम् ॥१२३॥

तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से, उसका बनाया हुआ भोजन पाया । खा-पीकर वे विदा होते हुए पुनः उसे कहने लगे, कि, सुशीले, अब मैं अपने गुरुस्थान पर जाता हूं । तुम अवश्य ही सत्पद की अधिकारिणी बनोगी ॥१२३॥

एवमुक्त्वा गतः श्रीमानादिदेवजनिस्थलम् ।
मार्गमध्यगतान् सर्वान् शिष्यसङ्घांश्च तारयन् ॥१२४॥

यह सान्त्वना देकर, वे वहां से सीधे आदिगुरु (श्रीनानक) के जन्मस्थान (तलवण्डी) की ओर चल पड़े। रास्ते में सभी शिष्यों को दर्शन एवं सदुपदेश देकर, उन्होंने कृतकृत्य कर दिया ॥१२४॥

दृष्ट्वाद्यस्य गुरोः स्थानं सुधापुष्करमागतः ।
मार्गे पाणिं गृहीत्वा च मर्वाह्या जगतां पतिः ॥१२५॥

प्रथम गुरु (श्री नानक) के जन्म-स्थान के दर्शन कर, वे अमृतसर में चले गये। उसी यात्रा की अवधि में उन्होंने "मर्वाही" से विवाह भी कर लिया ॥१२५॥

दामोदर्यां समुत्पन्नो गुरुदत्तेति पावनः ।
वीरो कन्या ततो जाता स्वसा तस्यातिसुन्दरी ॥१२६॥

श्रीगुरु की धर्मपत्नी (प्रथमा) दामोदरी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका पवित्र नाम "गुरुदत्त" रक्खा गया। फिर कुछ समय के बाद एक लड़की भी जन्मी, जिसका नाम था 'वीरोदेवी" ॥१२६॥

सूर्यमल्लस्ततो जातो मर्वाह्यां समयान्तरे ।
नानक्यां तु ततो जातो ह्यनीराबो जितेन्द्रियः ॥१२७॥

फिर यथाकाल दूसरी गृहिणी "मर्वाही" से "सूर्यमल्ल" का जन्म हुआ था। उसके बाद तीसरी पत्नी "नानकी" से संयमशील "अनीराय" पैदा हुआ ॥१२७॥

पुनश्चाटल एतस्यां त्यागबह्वादरस्तथा ।
समुत्पन्ना शुभा धीरा गुरोः सन्ततिरीदृशी ॥१२८॥

पश्चात् क्रमशः उसी से "अटल" और त्यागबहादर (श्री तेग-बहादुर-तेजबहादुर) का जन्म हुआ। इस तरह श्रीगुरु की पवित्र-सन्तानों का जन्म-ग्रहण हुआ था ॥१२८॥

ज्येष्ठपुत्रविवाहार्थं गतो देवो वटलायम् ।
तत्र दृष्ट्वा गुरुस्थानं कृत्वा कृत्यं समागतः ॥१२६॥

यथा समय अपने बड़े पुत्र (गुरुदत्त) की शादी के लिये, वे बटाला में गये। वहां अपने पवित्र गुरुस्थान का दर्शन एव अपना उक्त कार्य (पुत्र-विवाह) संपादन कर, वे अपने स्थान पर लौट आये ॥१२६॥

दृष्ट्वा पौत्रवधूं माता गुरोर्गङ्गा प्रफुल्लिता ।
दामोदरी तथैवान्ये कौला चापि समागता ॥१३०॥

अपने प्रिय पौत्र (गुरुदत्त) की बहू को देखकर, श्रीगुरु की वृद्धा माता गंगादेवी अति प्रसन्न हुई। गुरुदत्त की माता दामोदरी तथा अन्य सब गृह-सदस्य भी हर्ष मनाने लगे। उस समय गुरुभक्ता कौला भी वहां आई थी ॥१३०॥

तत्र दृष्ट्वा सुतोत्साहं स्पृहा जाताथ बालके ।
कौलायास्तु ततो धीरा गता साध्वी निजस्थलम् ॥१३१॥

कौला ने गुरुगृह में गुरु-पुत्र के विबाहोत्सव को देखा, तो पुत्र के लिए, उसे भी चाह पैदा होगई। तब वह धीर-नारी वहां से अपने वास-गृह में लौट आई ॥१३१॥

कदाचित्तु गतः श्रीमांस्तदीयं मन्दिरं प्रति ।
प्राह देवं तदा देवी स्पृहा जाता सुताय मे ॥१३२॥

फिर एक दिन श्रीगुरु उसके पास पधारे, तो उस भामिनी ने उनसे अपने मन की बात कह दी, कि हे देव ? मुझे भी पुत्र-मुख देखने की इच्छा उत्पन्न हुई है ॥१३२॥

सुतोत्साहं प्रपश्यामि तादृशं करुणानिधे ।
इहामुत्र च पुत्रेण जायते सफलं सुखम् ॥१३३॥

हे देव ? मैं भी देखना चाहती हूं कि पुत्र का कैसा सुख होता है । सुना है कि इस लोक और परलोक में भी पुत्र के द्वारा शुभ-फल की प्राप्ति होती है ॥१३३॥

श्रीगुरुरुवाच—: पुत्रा जाता मृता साध्वि दुःखयन्ति न संशयः ।
सुप्रसिद्धमिद लोके चित्रकेतुनरेशवत् ॥१३४॥

श्रीगुरु ने कहा, हे साध्वि, पुत्र पैदा होकर, जब मरते हैं, तो महाक्लेश पहुंचाते हैं । इस बात को सारा संसार समझता है । बिशेषतः चित्रकेतु-राजा का पुत्रशोक तो इतिहास से प्रसिद्ध ही है ॥१३४॥

जीविनोपि कुपात्रत्वे महादुःखस्य हेतवः ।
अतो नामप्रसिद्ध्यर्थं ते भविष्यति पुष्करम् ॥१३५॥

यदि वे जिन्दा रहें, तो फिर कहीं खोटे स्वभाव के निकलें तब तो और भी अधिक दुःख भोगना पड़ता है । इसलिये पुत्र-वार्ता को त्याग-

दो। हां, तुम्हारा नाम बना रहे, इस के लिये एक तालाब (जलाशय) तुम्हारी-स्मृति का बनवाया जायेगा ॥१३५॥

तज्जनाश्च वदिष्यन्ति कौलायास्तु सरोवरम् ।
तत्र स्नात्वा हरिं ध्यात्वा प्राप्स्यति परमं पदम् ॥१३६॥

उस जलाशय को दुनिया "कौला का सरोवर" कह कर याद करेगी। उसमें स्नान कर, श्रीहरि का ध्यान करने से प्राणी-मात्र को सद्‌गति प्राप्त होगी ॥१३६॥

इदं श्रुत्वा गता हर्षं प्राह देवी प्रसन्नधीः ।
एवमस्तु कृपासिन्धो कल्याणं मे भविष्यति ॥१३७॥

श्रीगुरु की सत्य-धारणा को देख-सुन कर, कौला ने प्रसन्न होकर कहा, कि हेय, ऐसा ही कीजिये। इससे मेरा भी परमहित होगा ॥१३७॥

ततः शिष्यान् समाहूय प्राह देवो दिनान्तरे ।
सरस्त्वत्रैव कर्तव्यं कौलाया नामतो वरम् ॥१३८॥

फिर श्रीगुरु ने दूसरे ही दिन में अपने शिष्यों को बुला कर, अपनी सदिच्छा प्रकट की, कि इसी स्थान पर, कौला के नाम से एक विशाल-तालाब का निर्माण होना चाहिये ॥१३८॥

प्राह वृद्धो वचःश्रुत्वा समीचीनमिदं प्रभो ।
खनित्रेण ततश्चिन्हं गुरुश्चक्रे स्वपाणिना ॥१३९॥

श्रीगुरु की मनोनीत योजना को सुन कर, वृद्ध-सिद्ध ने भी समर्थन करते हुए कहा, कि देव, यह बहुत अच्छा काम है। तब श्रीगुरु ने अपने

हाथ से खनित्र, (भूमि खोदने का लौह-यन्त्र) लेकर एक जगह पर निशान लगाया ॥१३९॥

ततः शीघ्रं कृतं शिष्यैः पुष्करं भवतारकम् ।
उत्साहं ततश्चक्रे कमलोद्धारहेतवे ॥१४०॥

तब गुरु के शिष्यों ने अतिशीघ्र ही वहां सुन्दर, संसार-तारक, एक सरोवर बना डाला। फिर श्रीगुरु ने कमला (कौला) के उद्धार को, वहां विशेष व्यवस्था की ॥१४०॥

किंचित् काले गते धीरो मिहिरो नामतो जनः ।
आगतः श्रीगुरुं दृष्ट्वा नतः पादारविन्दयोः ॥१४१॥

उसके बाद एक दिन 'मिहिर' नाम का एक सज्जन, श्रीगुरु के पास आया और उनके दर्शन से तृप्त होकर, वह श्रीचरणों में झुक गया ॥१४१॥

प्राह देवं कृपासिन्धो गम्यतां मम मन्दिरे ।
इति प्रेमिवचः श्रुत्वा गतो देवो वकालयम् ॥१४२॥

फिर उसने प्रार्थना की, कि "दयालु, गुरुदेव, मेरे घर पधारने की कृपा करो।" तब श्रीगुरु, उस स्नेही जन के आग्रह पर वकाला में चले गये ॥१४२॥

गंगामाता तु तत्रैव त्यक्तदेहाथ सत्पुरम् ।
गता देहो विपाशायामर्पितश्च तदीयकः ॥१४३॥

एक दिन वहां पर गुरु-माता गंगादेवी का देहान्त हो गया। उसकी

आत्मापरमात्म-तत्व में समा गयी और शरीर को विपाशा (व्यासा) नदी में प्रवाहित कर दिया गया ॥१४३॥

मातृकृत्यं तु तत्रैव गुरुश्चक्रे समन्ततः ।
मिहिराश्वासनं कृत्वा गतो देवः सुधाशयम् ॥१४४॥

श्रीगुरु ने अपनी दिवंगतमाता का उत्तर-कर्म, वहीं पर समाप्त किया । तब वे मिहिर को समझा-बुझाकर अमृतसर में चले गये ॥१४४॥

एकान्ते च समासीनः प्राह वृद्धं गुरूत्तमः ।
पलाण्डूभक्तिसाफल्यमद्यसिद्धं भविष्यति ॥१४५॥

एक दिन वहां एकांत में बैठ कर उन्होंने वृद्ध-सिद्ध से कहा, कि प्यारे, आज तुम्हारी एकान्त भक्ति सफल होगी ॥१४५॥

गम्यतां स्वाश्रमे श्रीमन्गुरुदासेन धीमता ।
इवं श्रुत्वा गतो वृद्धो गुरुदासेन संयुतः ॥१४६॥

"अब तुम गुरुदास (गुरुदत्त) को साथ लेकर, अपने आश्रम पर चले जाओ ।" यह सुन कर वृद्ध-सिद्ध ने तदनुसार ही गुरुदास के साथ २ अपने आवास की ओर प्रस्थान किया ॥१४६॥

इवं कृत्वागतो देवः कोलाया मन्दिरं प्रति ।
गच्छ साध्वि पुरं कर्त्तुं रत्र युद्धं भविष्यति ॥१४७॥

वृद्ध-सिद्ध को ऐसा संकेत देकर, श्रीगुरु कौला के भवन में पधारे और उसे समझा कर कहा, कि भद्रे, तुम कर्त्तारपुर में चली जाओ । क्योंकि अब इस जगह, संग्राम होने वाला है ॥१४७॥

श्रुत्वा चैतद्गुरुवरगिरं प्राह देवी विनीता
नो मे भ्राता स्वजनजननी नैव तातो विधातः ।
श्रीमत्पादौ जगति निखिले जीवनं नो द्वितीयं
दृष्ट्वा चैतद्वदनकमलं जीववासोऽस्ति दे हे ॥१४८॥

उनकी बात सुनकर कौला ने विनीत-वाणी से कहा, कि हे देव, मेरा कोई भाई, बन्धु, माता, पिता आदि नहीं हैं । अब तो एक मात्र आपके चरणों के आश्रय पर ही मेरा जीवन है । मैं आपके मुख-कमल को देख कर ही जीती हूं । आप ही मेरे भाग्य-विधाता हैं ॥१४८॥

श्रुत्वा चैतां वचनरचनां प्राह देवोथ तत्वं
मिथ्याभूते जगति सकले नैव मोहो विधेयः ।
सत्या चैका सतिचितिकलाभक्ष्यं द्वितीयं
तस्मात् त्यक्त्वा मलिनममतां गच्छ साध्वि स्वरूपम् ॥१४६॥

कौला की मधुर-वार्ता सुनकर, श्रीगुरु ने कहा, हे शुभे, इस मिथ्या-भूत जगत् में मोह मत करो । एक मात्र चिति-सत्ता ही सत्य है । शेष सब कुछ विनश्वर है । इसलिए तुम ममता-दूषणी को त्याग कर, अपने सत्स्वरूप में आस्था रक्खो । आत्मनिष्ठ हो जाओ ॥१४६॥

वाक्यं श्रुत्वा परमममृतं प्राह देवी सुरूपा
मिथ्या विश्वं भवतु भगवान्नैव पादौ त्वदीयौ ।
विश्वासोऽसौ भवति सततं मे विमोक्षस्य हेतुः
श्रीमद्वाक्याद्भवतु गमनं दर्शनं तत्र देयम् ॥१५०॥

श्रीगुरु की सुधामयी एवं सारभरी वाणी को सुन कर वह बोली, हे भगवन्, जगत् भले ही असत् हो, परन्तु आप के श्रीचरण तो त्रिकाल-सत्य हैं। मेरा यही दृढ़ विश्वास, मेरी मुक्ति का कारण बनेगा। अब मैं आपकी आज्ञानुसार वहां जाती हूं। परन्तु आप वचन दीजिये, कि मुझे अवश्य दर्शन देते रहेंगे ? ॥१५०॥

श्रीगुरुरुवाच —: अद्यारम्य तव प्राणो गते साध्वि दिनष्टके।
इदं देहं परित्यज्य निजं स्थानं गमिष्यति ॥१५१॥

श्रीगुरु ने कहा,—: हे देवी, तुम सत्य जानो, आज से आठवें दिन में तेरे प्राण, इस देह से अलग होकर, अपने आधार में चले जाएंगे ॥१५१॥

दास्पामि दर्शनं तुभ्यं मृत्युकाले न संशयः।
इदं प्रोक्त्वा पुरं कर्त्तुः प्रेषिता सा तपस्विनी ॥१५२॥

मैं अन्तिम-समय में अवश्य ही तुम्हें दर्शन दूंगा। यह कह कर उन्होंने उस सती को कर्त्तारपुर में भेज दिया ॥१५२॥

ततः शीघ्रं शुभे काले सुतोद्वाहचिकीर्षया।
कारितस्तस्य सिद्धयर्थं भक्ष्यभोज्यादिसंग्रहः ॥१५३॥

फिर उन्होंने उचित समय जान कर, शुभमुहूर्त में अपनी पुत्री के विवाह की इच्छा से, तदुपयोगी खान-पान की आवश्यक-सामग्री को जल्दी ही जुटा लिया ॥१५३॥

पश्चिमाया दिशश्चैवं शिष्यसङ्घः समागतः ।
मिष्टान्नाय सता चारस्तदर्थं प्रेषितो गृहे ॥१५४॥

इतने में पश्चिम की ओर से, उनके शिष्यों की एक टोली वहां आ पहुंची । तब श्रीगुरु ने अपने एक सेवक को घर में भेजा कि, शिष्यों के लिए कुछ मिष्टान्न ले आओ ॥१५४॥

शकुनीयमिदं न ददेयमतो गुरुचारमुवाच सुता जननी ।
परभक्ष्यमिदं न हि दत्तवती चरवाक्य मुवाच निशम्यगुरुः ॥१५५॥

परन्तु, 'गुरुपत्नी और गुरुपुत्री ने उस सेवक को साफ कह दिया, यह मिष्टान्न, शकुन-रूप, शादी के उपलभ्य में संग्रह किया है, अतः हम नहीं दे सकतीं ।'' तब वह लौट कर श्रीगुरु को सारी बात सुना बैठा । इस पर उन्होंने भी उसे समझाया, कि हां भाई, परभक्ष्य (पराया-अन्न) होने से ही, उसने देने से इन्कार कर दिया है ॥१५५॥

क्वापि काले नृपो मानी चरन्नाखेटहेतवे ।
आगतः श्रीगुरोर्देशं तस्य श्येनो गुरुं गतः ॥१५६॥

उसके बाद एक दिन बादशाह (शाहजहां) शिकार का मजा लेते २ श्रीगुरु के प्रदेश में आ पहुंचा। तब संयोगवश उसका बाज (पक्षी) उड़ता हुआ, श्रीगुरु के ठिकाने पर आ बैठा ॥१५६॥

प्राह शिष्या नयं धीरा रक्षणीयः प्रयत्नतः ।
अर्धरात्रे तथा प्रातःश्येनयागो भविष्यति ॥१५७॥

श्रीगुरु ने उस शिकारी-पक्षी (बाज़) को देखा और अपने शिष्यों से कहा, कि इसे पकड़ कर, सावधानी से रक्खो। आधीरात तथा सुबह को इसके द्वारा श्येन-यज्ञ करेंगे ॥१५७॥

कृतं शिष्यैस्तथा तस्य रक्षकाश्च समागताः।
राजश्येनस्ततः श्रुत्वा प्राह देवो न दीयते ॥१५८॥

शिष्यों ने वैसा ही किया। इतने में उसके रक्षक राजपुरुष दौड़ते २ वहां आकर कहने लगे कि "बादशाह का बाज़ यहां आया है, उसे लौटा दो।" तब श्रीगुरु ने स्पष्ट उत्तर दिया, कि 'हम नहीं देंगे' ॥१५८॥

ततः श्रुत्वा नृपश्चैतत्कोपयुक्तो बभूब सः।
महाक्रूरं दलं दत्वा प्रेषितो निजसैन्यपः ॥१५६॥

श्रीगुरु के नकारात्मक प्रत्युत्तर को सुन कर, बादशाह को क्रोध आगया। उसने एक उग्र-योद्धाओं का दल साथ लेकर, अपने सेनापति को वहां जाने का आदेश दे दिया ॥१५६॥

अर्धरात्रे गुरोःस्थानं गतः कालनियन्त्रिः।
श्रुतः शब्दस्तदा शिष्यैर्लौहदुर्गनिवासिभिः ॥१६०॥

वह सेनाध्यक्ष, मृत्यु-वश में हुआ-सा, आधीरात को, श्रीगुरु के स्थान पर जा पहुंचा। तब "लोह-किले" में संस्थित शिष्यों ने, शत्रु के दल-बल के शब्दों को सुन लिया। १६०॥

काष्ठयन्त्रे धृता धूलिश्चालितं गुरुवाक्यतः।
असंख्याता मृता मूढा आगताश्च दिगन्तरैः ॥१६१॥

तब उन्होंने, श्रीगुरु की आज्ञानुसार, बारूद से भर कर तोप चलाई। उसकी मार से असंख्य-दुश्मन मारे गये, जो कि इधर-उधर से, किले की ओर आगे आरहे थे ॥१६१॥

मन्दिरस्थ जनाः शीघ्रं प्रेषिता गुरुभिस्तदा ।
बहिर्ग्रामेरुमालाख्ये सुता पुत्राश्च सर्वशः ॥१६२॥

तब श्रीगुरु ने अपने गृह-जनों, लड़की-लड़कों को बड़ी सावधानी से, वहां से दूर, "रुमाल" नाम के गांव में भिजवा दिया ॥१६२॥

स्वयं धीरो गृहं त्यक्त्वानावृते च दिगन्तरे ।
शस्त्रबद्धैर्जनैर्युक्तः स्थितः संग्रामहेतवे ॥१६३॥

स्वयं वे घर से बाहिर निकल कर, एक खुली जगह पर, हथियारों से युक्त, वीर साथियों को लेकर, युद्ध के लिये खड़े होगये ॥१६३॥

म्लेच्छा प्रविष्टागुरुमन्दिरान्तरंन्नं च दृष्ट्वातिमिष्ठं नितान्तम् ।
तत्र प्रयुक्तास्तु बुभुक्षितास्ते बिधिश्च शूरोपि समागतोत्र ॥१६४॥

यवन-सेना के कुछ सैनिक, श्रीगुरु के घर में घुस गये और वहां एक ओर पड़े मिष्ठान्न को देख कर, भूख के मारे, उसे खाने लगे। इतने में गुरुभक्त, वीरबर विधि (एक शिष्य) भी वहां आ पहुंचा ॥१६४॥

स्वसैन्ययुक्तः कृतखड्गपाणिः चक्रे प्रहारान् गुरुशत्रुसङ्घे ।
मुखे तु कस्यापि गले तु कस्पाप्यधस्तु कस्यापि गतं तदन्नम् ॥१६५॥

उस ने (विधि ने) अपने वीर-साथियों को साथ लेकर, तलवार के प्रहारों से, गुरु-द्रोही दुश्मनों को रण में खेत कर दिया। शत्रु-सैनिक, बेचारे मिष्टान्न पर ही डटे हुऐ थे। किसी के मुख में, किसी के गले में और किसी के कण्ठ से जरा नीचे तक ही वह मिष्टान्न अभी तक भरा हुआ था ॥१६५॥

शिरांसि तेषां विनिकृत्य योधा गुरोः समीपे च समर्पितानि।
अन्नेन युक्तानि तु तानि दृष्ट्वा हर्षेण युक्तोथ बभूव देवः ॥१६६॥

शत्रुओं के सिर काट २ कर, बहादुर विधि ने श्रीगुरु के सम्मुख समर्पित किये। अपने ही मिष्टान्न से भरे पड़े, उन उत्तमांगों को देख २ कर श्रीगुरु बड़े प्रसन्न हुए ॥१६६॥

गते वीरे विधौ शिष्टा मृतास्तेपि परस्परम्।
शत्रुं ज्ञात्वा कृतं युद्धं तैरतो रिक्तं गृहम् ॥१६७॥

वीरवर विधि के वीरगति प्राप्त कर लेने पर, वे बचे-खुचे शत्रु परस्पर लड़कर ही मर गये। उन्होंने एक-दूसरे को दुश्मन मानकर युद्ध किया, जिससे सब समाप्त हो गये और श्रीगुरु का घर शून्य रह गया ॥१६७॥

शंखशब्दा स्तदा जाता गुरोः सैन्ये सदाज्ञया।
रवं श्रुत्वागता म्लेच्छास्तुच्छकीटा यथानलम् ॥१६८॥

तब श्रीगुरु के आदेश से, अपने सैन्य-दल में शंख बजने लगे। उस मारू-शब्द को सुन २ कर म्लेच्छ लोग, इस तरह खिचे हुए उधर आने लगे, कि जैसे कीड़ों के समूह आग में जाकर जल मरते हैं ॥१६८॥

पिराणशिष्यः सकलाग्रतोभूद्विमर्द्य सेनामतिगर्जितोऽसौ ।
निहत्य वीरश्च सहस्त्रमेकं गतः स्वयं सद्गुरुधाम धीरः ॥१६६॥

तब "पिराण" नाम का गुरु शिष्य, सब से आगे बढ़ कर, उन दुश्मनों पर कूद पड़ा। उसने शत्रुओं का मर्दन करते हुए घोर-गर्जना की और वीरतापूर्वक लड़ते हुए, हजार शत्रुओं का संहार कर, अन्त में स्वयं वीर-गति प्राप्त की और वह सद्गुरु के अमर-लोक को चला गया ॥१६६॥

पैंडादि वीराश्च निहत्य सेनां तत्रैव याता गुरुदेवलोके ।
एवं हता सप्तसहस्त्रसेना शिष्टश्चखानोथ मृषाभिमानी ॥१७०॥

"पैंडा" प्रभृति, गुरुशिष्यों ने भी उत्साह से लड़ते हुए, दुश्मन की सेना का सर्व-संहार कर डाला और अन्त में स्वयं युद्धभूमि में मर कर गुरुलोक में, अमर-पद प्राप्त कर लिया। इस तरह सात हजार शत्रुओं के दल को समाप्त किया गया। अब उसमें सेनापति 'खान' ही बच पाया था ॥१७०॥

संगृह्य सेनामवशिष्यमाणामागत्य मूढो गुरुदेवमाह ।
त्यजामि साधो नरभूषणोऽसि प्रतिष्ठितोऽसि व्रज राजराजम् ॥१७१॥

उस घमण्डी सेनानायक ने, अपने बचे-खुचे थोड़े-से सैनिकों को साथ लेकर, श्रीगुरु के पास आकर, मूर्खता का परिचय देते हुए कहा, कि तुम नर-रत्न एवं समाज में सुप्रतिष्ठित व्यक्ति हो, इसलिये मैं तुम्हें छोड़ देता हूं। परन्तु अब तुम राजाधिराज (शाहजहां) के पास चले चलो ॥१७१॥

श्रीगुरुरुवाच—: त्वदीयं वचोस्ति प्रमाणं तथापि
मदीयो विचारस्तव प्राणहानौ ।
प्रहारं त्वमादौ कुरु द्वन्द्वयुद्ध
करिष्यामि पश्चान्नचात्रास्ति शङ्का ॥१७२॥

श्रीगुरु ने कहा, कि अरे, तेरा कथन ठीक है, परन्तु मेरा विचार है कि तुम्हें युद्ध का मजा चखाऊं। इस लिए तुम पहले मुझ पर वार करो। पीच्छे मैं करूंगा ॥१७२॥

निशम्योक्तिमेतां तु चक्रे प्रहारं गतो निष्फलत्वं यदा मूढखड्गः ।
कृतश्चारुखड्ग सता सव्यपाणौ शिरोहीनमेनं स शीघ्रं हि चक्रे ॥१७३॥

श्रीगुरु की वीर-वाणी को सुनकर, उसने उन पर प्रहार किया। परन्तु वह बेकार हुआ और उसकी तलवार हाथ में ही चिपटी रही। तव श्रीगुरु ने अपने बायें हाथ से, अपनी तेज तलवार को पकड़ा और एक ही प्रहार से, उस विरोधी का सिर काट कर गिरा दिया ॥१७३॥

हतः सद्गुरोः पाणिना पावनेन गतो देवलोकं च देवाङ्गनाभिः ।
तदीयं प्रकाशं विलोक्याथदेवा अहोभाग्यमस्यावदन् वाचमेताम् ॥१७४॥

श्रीगुरु के पवित्र-हाथों से मर कर, वह (यवन सेनाध्यक्ष) देवलोक में अप्सराओं के मध्य जा पहुंचा। तब उसके तेज प्रकाश को देखकर, देवताओं ने सराहना करते हुए कहा, कि अहो, यह बड़ा भाग्यवान् है ॥१७४॥

गुरौ पुष्पवर्षां स्तुतिं चापि कृत्वा गता धाम नैजं प्रभुध्यानलीनाः ।
भविष्यत्यवश्यं मही भारहीना महाशूर एषेति वाचं वदन्तः ॥१७५॥

फिर सुर-गण ने श्रीगुरु के ऊपर पुष्प-वर्षा की और स्तुतिपाठ कर, श्रीहरि का ध्यान करते २ वे अपने २ ठिकाने पर चले गये। परन्तु रास्ते भर में वे यही चर्चा करते जाते थे, कि अब अवश्य ही दुष्टों का बोझ, धरती से हट जायेगा। यह (श्रीगुरु) अद्भुत-वीर पृथ्वी पर अवतरित हुआ है ॥१७५॥

इदं वृत्तं नृपो ज्ञात्वा कोपयुक्तो बभूव सः।
उद्यतोपि स्वयं योद्धुं मन्त्रिवर्येण वारितः ॥१७६॥

बादशाह ने यह दुखद-समाचार सुना तो वह क्रोधित होकर स्वयं लड़ने के लिए तैय्यार होने लगा। परन्तु उसके बुद्धिमान् मन्त्रियों ने, उसे ऐसा करने से मना कर दिया ॥१७६॥

गुरुवर्यैश्च शूराणां कारितं कर्म सर्वतः।
धर्मयुद्धं परं कृत्वा गता ये गुरुधामनि ॥१७७॥

श्रीगुरु ने, युद्धभूमि में मरकर, गुरु-धाम (अमरलोक) को प्राप्त करने वाले अपने वीर-योधाओं का यथाविधि उत्तर-कर्म संपन्न करवाया ॥१७७॥

नमस्कृत्य हरिस्थानं गुरुस्थानं च सर्ववित्।
कृत्वाथ सर्वतो रक्षां नतो रूभालसम्मुखम् ॥१७८॥

फिर वे देवस्थान और गुरुस्थान की वन्दना कर, उनकी सुरक्षा का यथोक्त सुप्रबन्ध करने के बाद, "रुभाल" गांव की ओर चले गये ॥१७८॥

तत्र कृत्वा सुतोद्वाहं गोंदवालं गतोऽनघः ।
चक्रतुस्तत्र सम्मानं परमानन्दसुन्दरौ ॥१७९॥

वहां उन्होंने अपनी बेटी का विवाह-संस्कार करवाया और फिर वे 'गोंदवाल' में चले गये । वहां उनके प्रेमीजन परमानन्द और सुन्दर ने यथेष्ट स्वागत-सत्कार किया ॥१७९॥

स्थापयित्वा च तत्रैव बन्धुवर्गं नरोत्तमः ।
गतः कर्तुः पुरं शीघ्रं कौलावाक्यनियन्त्रितः ॥१८०॥

वहीं पर उन्होंने अपने परिवार को सुरक्षित ठहराया और फिर कौला को दिये वचन के अनुसार, कर्त्तारपुर को प्रस्थान किया ॥१८०॥

गुरुस्थानं गतो देवः स्नात्वा गङ्गसरोवरे ।
स्थानपूजा कृता प्रीत्या श्रीप्रसादो बभूव च ॥१८१॥

वे वहां के गुरुस्थान पर गये और गंगासरोवर में स्नान पानी किया । फिर गुरुस्थान की यथाविधि पूजा कर, उन्होंने प्रसाद-वितरण का सुप्रबन्ध भी करवाया ॥१८१॥

दीनबन्धुस्ततः शीघ्रं कौलान्तिके समागतः ।
उत्थिता सा गुरुं दृष्ट्वा नता पादारविन्दयोः ॥१८२॥

फिर वे कौला के पास गये । दीनबन्धु श्रीगुरु को देख कर वह आसन से उठी और अपार श्रद्धा से श्रीगुरु चरणों पर झुक गई ॥१८२॥

कौलोवाच —: अन्तकाले मया दृष्टं श्रीमतां पदपुष्करम् ।
अतो जाने कृपासिन्धो मुनेः शापो वरायते ॥१८३॥

कौला ने कहा, हे मेरे इष्टदेव, आज अन्त समय पर आपके चरण-कमलों का दर्शन पाकर, मैं समझती हूं कि मुनि (कपिलदेव) का शाप, मेरे लिये वरदान बन गया है ॥१८३॥

अहल्या यथा भिल्लकन्या यथा वा पुरा तारिता मन्थरा शीलसिंधो।
कृता देवनद्या यथा कर्मनाशा तथा पावनी पावनी योषिदेषा ॥१८४॥

हे दयालु, पूर्व-युगों में जैसे अहल्या, भीलनी, मन्थरा प्रभृति को आपने तारा था। फिर कर्मनाशा (पापनदी), को देवनदी (गंगा) से मिला कर पवित्र कर दिया था। उसी तरह आज मेरा भी उद्धार किया है ॥१८४॥

इदं चोक्त्वा गता देवी निजं रूपं सनातनम्।
यथायोग्यं सता तस्याः कारिता सकला क्रिया ॥१८५॥

बस, इतना निवेदन कर, वह देवी (कौला) भूलोक के देह को त्याग कर, अपने पूर्व-रूप को प्राप्त कर, देवलोक को चली गई। तब श्रीगुरु ने उसका लौकिक-देहोत्तर-कर्म संपन्न करवाया ॥१८५॥

एवं किंचिद्गते काले शिष्य एकः समागतः।
प्राह देवं कृपासिन्धो गम्यतां मम मन्दिरे ॥१८६॥

उसके थोड़े दिनों के बाद, एक शिष्य ने आकर प्रार्थना की, कि हे गुरुदेव, कृपाकर मेरे घर पर पधारने का अनुग्रह करें ॥१८६॥

भक्तस्यैतद्वचः श्रुत्वा गतो देवस्तदोत्तराम्।
उच्चस्थानं विपाशायां तत्र दृष्टं पुरातनम् ॥१८७॥

उस स्नेही-जन की नम्र-प्रार्थना पर, श्रीगुरु उत्तर की ओर उसके यहां पधारे। वहां उन्होंने विपाशा (व्यासा) नदी के पास ही एक उच्चस्थान (टीला) देखा, जो एक प्राचीन-स्थान का प्रतीक जैसा था ॥१८७॥

कृता चाज्ञाथ शिष्येषु क्रियतामत्र पूरिति ।
यदारम्भः कृतः शिष्यैरागतः कोपि दुर्जनः ॥१८८॥

उसे देख कर उन्होंने अपने शिष्यों को आज्ञा की, कि 'यहां एक पुर (गांव) बसाना चाहिए।' उनकी आज्ञा पाते ही शिष्यों ने पुर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इतने में एक दुष्ट व्यक्ति वहां आ पहुंचा ॥१८८॥

घोरडाख्यो मृषामानी दुर्वचांसि गुरूत्तमम् ।
प्राह शिष्यैस्तदा श्रुत्वा धुनौ क्षिप्तो ममार सः ॥१८९॥

उसका नाम था 'घोरड़।' वह कुबुद्धि वहां आते ही श्रीगुरु के प्रति अनाप-शनाप बकबास करने लगा। गुरुशिष्यों ने उसके दुर्वचन सुनकर, उसे पकड़ा और नदी में फेंक दिया, जिससे वह मर गया ॥१८९॥

तस्य पुत्रो गतः शीघ्रं राजपीठे जलन्धरे ।
देशाध्यक्षस्ततः श्रुत्वा वृत्तमेतत्समागतः ॥१९०॥

तब उसके पुत्र ने जालन्धर में, राज्य-शासक के पास जाकर शिकायत की। तदनुसार वहां का प्रदेशाधिकारी उस नये स्थान पर आ पहुंचा ॥१९०॥

चतुर्दशसहस्रीं च सेनां कृत्वा स्वसङ्गमे ।
कृत्वा युद्धं मृतःसर्वं गतः शूरगतिं प्रति ॥१९१॥

वह घमण्डी शासक, चौदह हजार की, बड़ी सेना को अपने साथ ले आया । परन्तु श्रीगुरु से युद्ध करते २ वह बेचारा, अपने पूरे दल-बल के साथ ही वीर-गति को प्राप्त हुआ ॥१९१॥

सता शीघ्रं ततो धीराः कारितं पुरमुत्तमम् ।
आगतश्च ततो वृद्धो गुरुदासेन संयुतः ॥१९२॥

फिर श्रीगुरु ने जल्दी से ही वहां, एक नयापुर बसा दिया । तब उनका पूर्व-साथी वृद्ध-सिद्ध भी, गुरुदास को साथ लेकर वहां आ पहुंचा ॥१९२॥

पुरनामाथ वृद्धेन कृतं सद्गुरुनामतः ।
कीर्तनं गुरुशब्दानां सतां सङ्गो बभूव च ॥१९३॥

उसने उस नये गांव का नाम, श्रीगुरु के नाम पर ही निश्चित किया । ("गोविन्द पुर" इति) । वहां बड़ा भारी सत्सङ्ग का आयोजन हुआ और गुरुवाणी का पाठ भी किया गया ॥१९३॥

एवं किंचिद्गते काले प्राह वृद्धोऽथ सद्गुरुम् ।
स्वल्पकाले भगोर्यति तनुत्यागो भविष्यति ॥१९४॥

उसके कुछ समय के पश्चात् उस सन्त ने, श्रीगुरु से कहा, कि हे देव, अब थोड़े ही दिनों में मैं देह त्याग करूंगा ॥१४४॥

दर्शनं तत्र देयं स्यादन्तकाले मदन्तिके ।
श्रीमता च दयासिन्धो गुरोर्वाचापि तादृशी ॥१६५॥

इसलिए आप अन्त समय पर, अवश्य ही मेरे पास आकर दर्शन देवें । क्योंकि पूर्व-गुरुओं की ऐसी ही आज्ञा है ॥१६५॥

आश्रमं चाद्य गच्छामि श्रीगुरोः स्थलसन्निधौ ।
ज्ञास्यसि सर्ववेत्तृत्वादन्तकालं मदीयकम् ॥१६६॥

अब मैं श्रीगुरु के स्थान के समपीवर्ती, अपने आश्रम पर जाता हूं, आप सर्वज्ञ हैं । इसलिये स्वयमेव मेरे महाप्रस्थान-काल को जान जाएंगे ॥१६६॥

एवं प्रोक्त्वा गतो वृद्धो रमदासं निजस्थलम् ।
तस्य कालं परिज्ञात्वा गतो देवस्तदन्तिके ॥१६७॥

इतना संकेत देकर, वह वृद्ध-सिद्ध 'रामदास पुर' में चला गया । समय आने पर श्रीगुरु भी उसके पास जाकर, उसकी अन्तिम-कामना पूरी करने लगे ॥१६७॥

उत्थितस्तु तदा वृद्धो गुरुं दृष्ट्वा प्रफुल्लितः ।
आदरं श्रीगुरोः कृत्वा दत्तमासनमुत्तमम् ॥१६८॥

श्रीगुरु को आया देखकर, वह सन्त, आसन से उठा और अति प्रसन्नता से आगे बढ़कर, उसने उनका स्वागत-सत्कार किया और फिर बैठने के लिये उच्चासन दिया ॥१६८॥

तस्य पुत्रश्च मानाख्यो नतः सद्गुरुपदयोः ।
सता वृद्धस्य सामीप्ये कारितं भुवि चासनम् ॥१९९॥

उसके पुत्र 'मान' ने भी श्रद्धा से श्रीगुरु की वन्दना की । तब श्रीगुरु ने वृद्ध-सिद्धके पास ही, भूमि पर अपना आसन लगवाया ॥१९९॥

योगध्यानं गतो वृद्धो गुरुश्चापि निरन्तरम् ।
रात्रिशेषे कृतं स्नानं वृद्धेन गुरुभिस्तथा ॥२००॥

इस प्रकार आमने सामने बैठ कर वृद्ध-सिद्ध और श्रीगुरु, दोनों योग-समाधि में ध्यानस्थ हो गए । फिर रात के बीतने पर, तारों की छांव में (ब्राह्ममुहूर्त में) ही उन दोनों ने स्नान-पानी किया ॥२००॥

जपमन्त्रादिपाठश्च कृतो वृद्धेन योगिना ।
ततः प्राणमयत्नेन ब्रह्मरन्ध्रे न्यवेशयत् ॥२०१॥

फिर उन्होंने जप, पाठ आदि नित्य-कृत्य समाप्त किया । तब उस वृद्ध-योगी ने सहज में ही योगाभ्यास-पूर्वक, अपने प्राण-वायु को ब्रह्मरन्ध्र (कपाल मन्डल) में संस्थापित कर लिया ॥२०१॥

गतो भित्वा त्रिसीमानं निजं रूपं पुरातनम् ।
पुष्पवर्षा कृता देवैर्गता धाम निजं निजम् ॥२०२॥

तब क्रमशः तीन-सीमाओं (नाड़ी विशेष) का उद्भेद कर, वह (प्राण तत्व) अपने नैसर्गिक-स्वरूप में समा गया । यह योग क्रिया का

काम-त्याग देख कर, देवताओं ने उस पर फूल बरसाये। तदनन्तर देवगण अपने २ स्थान को लौट गये ॥२०२॥

ततो भानेन संयुक्तो गुरुश्चक्रेऽथ तत्क्रियाम् ।
प्राह सर्वानिदानीं भो गतं श्रीगुरुदर्शनम् ॥२०२॥

फिर उसके पुत्र "भान" के साथ मिल-जुल-कर, श्रीगुरु ने दिवंगत, योगी की लौकिक-उत्तर-क्रिया संपन्न करवाई। तब अपने शिष्यों को बतलाया, कि अब श्रीगुरु का दर्शन हो चुका ? ॥२०३॥

ततः किंचिद्गते काले पुरे कर्त्तुर्जगाम ह ।
गुरुस्थाने कृता पूजा धर्मचन्द्रं ददर्श च ॥२०४॥

उसके बाद वे पुनः कर्तारपुर में चले गये और वहां अपने गुरुस्थान की यथोक्त पूजा करने के पश्चात्, धर्मचन्द्र से मिले ॥२०४॥

गुरुदासेन युक्तश्च सुधासागरमागतः ।
तत्र स्नात्वा कृता पूजा श्रीप्रसादो बभूव च ॥२०५॥

फिर वहां से वे, गुरुदास को साथ लेकर "अमृतसर" में चले आये और वहां भी गुरुस्थान पर आकर 'सुधा-सर" में स्नान-पानी किया और पूजा के बाद प्रसाद-वितरण का आनन्द मनाया ॥२०५॥

गुरुस्थाने गतो धीरः कालवुङ्गे निजासने ।
शिष्यसङ्घसमामध्ये शोभितोऽसौ गुरूत्तमः ॥२०६॥

फिर वे "काल वुंग" में अपने गुरुस्थान पर चले गये। और वहां अपने शिष्यों की सभा में, गुरु-आसन पर विराजमान हुए ॥२०६॥

गुरोराज्ञानुसारेण बन्धुवर्गः समागतः ।
नतः श्रीगुरुपादाब्जे पंच पुत्राः समातृकाः ॥२०७॥

उनकी पवित्र-आज्ञा पाकर, सारे परिवार के लोग वहां आ गये। उनके पांच पुत्रों ने, अपनी माता के साथ २ आते ही, श्रीगुरु के शुभ-चरणों की वन्दना की ॥२०७॥

किंचित्काले गते यातोऽटलः श्रीगुरुधामनि ।
गुरुदासस्य लीला च ततो जाता विलक्षणा ॥२०८॥

कुच्छ समय के वाद उनके प्रिय-पुत्र "अटल" का स्वर्गवास हो गया। उसके दिवङ्गत होने पर गुरुदास की दशा विरक्त-सी होगई॥२०८॥

सूर्यमल्लविवाहश्च पुरे कर्तुश्चकार सः ।
त्यागबह्लादरस्यापि तत्रैव करुणानिधिः ॥२०९॥

समय आने पर उन्होंने सूर्यमल्ल और त्यागबह्लादर का विवाह-संस्कार भी क्रमशः, वहीं रहते हुए, संपन्न करवाया ॥२०९॥

अणीरायो विवाहं च नो स्वकीयं चकार ह ।
नियोजितोपि सता साधुः सदा योगपरायणः ॥२१०॥

परन्तु उनके तीसरे पुत्र "अणीराय" ने अपना विवाह नहीं करवाया। यद्यपि श्रीगुरु ने उसे बहुत-कुछ समझाया, किन्तु वह तो हमेशा योग-साधना में ही तल्लीन था, इसलिए नहीं माना ॥२१०॥

कदाचित्तु कृपासिन्धु ज्र्मेष्ठपुत्रमुवाच ह ।
गच्छ साधो त्वया देयं वुड्ढणंप्रति दर्शनम् ॥२११॥

एक दिन उन्होंने अपने बड़े पुत्र (गुरुदत्त-गुरुदास) को कहा, कि हे प्रिय, तुम 'बुड्ढ़ण' (एक गुरुभक्त) के पास जाओ और उसे मुख दिखला कर प्रसन्न करो ॥२११॥

पयः पाने कृते तस्य चित्तशान्तिर्भविष्यति ।
ततः कीर्तिपुरं तत्र त्वया कार्यं गुरोर्गिरा ॥२१२॥

उसके घर का दूध पीने से ही, उसे शान्ति प्राप्त होगी । सो, तुम पी लेना । फिर वहां कीर्तिपुर की स्थापना भी तेरे हो हाथों से होगी । वह भी गुरु-आज्ञा मान कर, कर देना ॥२१२॥

मन्निवासोपि तत्रैव शान्तिकाले भविष्यति ।
इदं श्रुत्वा गतः श्रीमान् कृतं सर्वं सतोदितम् ॥२१३॥

"शान्त-समय पर मैं भी वहीं आकर समय बिताऊंगा ।" उनकी यह आज्ञा मानकर, गुरुदत्त वहां चला गया और यथाविधि से उनकी आज्ञा से सब कुछ-व्यवस्था करने लगा ॥२१३॥

अत्र भानं गुरुस्थानं दर्शितं सकलं सता ।
एवं नाना विधा लीला कृता पीयूषसागरे ॥२१४॥

इधर उन्होंने 'भान' को, सारा 'अमृतसर' वाला गुरुस्थान दिखलाया । इस प्रकार उन्होंने वहां ठहर कर, अनेक लीलाकर्म किये ॥२१४॥

क्वापि काले सता सन्तश्चेतसीदं विचारितम् ।
नानाविधं मया हार्यं शिष्यते भुवि सङ्कटम् ॥२१५॥

एक दिन उन्होंने एकान्त में बैठ कर, गम्भीर-विचार किया, कि अभी तो मुझे बहुत-सा भू-भार हल्का करना है ॥२१५॥

अत्र योग्यं न युद्धादि क्रूरकर्म प्रशस्यते ।
सिद्धपीठं गुरोश्चेदं केवलं हरिभक्तये ॥२१६॥

परन्तु यहां रह कर युद्ध आदि उग्र-कर्म करना ठीक नहीं है । क्योंकि यह हमारा गुरुस्थान, प्राचीन-सिद्धपीठ है । यहां तो केवल श्रीप्रभु की भक्ति करना ही सर्वथा उचित है ॥२१६॥

मन्दकृत्यं न कर्तव्यं कदाप्यत्र सुधासरे ।
यः करोति स यात्येव मन्दबुद्धी रसातलम् ॥२१७॥

इस 'अमृतसर' जैसे महामहिम स्थान पर कभी कोई हीन कर्म नहीं होना चाहिये । जो कोई दुर्बुद्धि-जन वैसा करता है, उसका सदा के लिये अधः पतन हो जाता है ॥२१७॥

यद्यपीदं धर्मयुद्धं क्षत्रजातेरवर्जितम् ।
राजसत्वात्तथाप्येतद्वर्जनीयं गुरुस्थले ॥२१८॥

यह सत्य है, कि धर्म-युद्ध करना, क्षत्रिय-वीरों का प्रमुख-कर्म है । परन्तु है तो यह राजस-कर्म । इसलिये गुरुस्थान पर इसे भी नहीं होने देना चाहिये ॥२१८॥

गुरुस्थानापमानं च शस्त्रपाते भविष्यति ।
अतोन्यत्रैव गन्तव्यं कर्मणस्तस्य सिद्धये ॥२१६॥

युद्ध करते समय, दोनों ओर से होने वाले शस्त्रास्त्रों के प्रहारों से गुरुस्थान का अपमान होगा । इसलिये इस आवश्यक-कर्म (संग्राम) के लिए भी हमें कहीं और जगह पर जाना ठीक होगा ॥२१६॥

इदं कृत्वा विमर्शं च परिवारेण संयुतः ।
गतो देवो डरोल्याख्यं पावनं नगरं शुभम् ॥२२०॥

ऐसा समयोचित विचार-विमर्श करने के पश्चात्, वे अपने कुटुम्ब को साथ लेकर, "डरोली" नाम के सुन्दर नगर में चले गये ॥२२०॥

दामोदरी स्वसा यत्र सायिदासश्च तत्पतिः ।
हरेर्भक्तावनन्यौ तो गुरोर्भक्तौ च दम्पती ॥२२१॥

वहां दामोदरी (गुरुपत्नी) की बहिन और बहनोई "सांईदास" रहते थे । वे दोनों परम प्रभुभक्त एवं श्रीगुरु के अनन्य-सेवक थे ॥२२१॥

गते देवे समायातौ जम्पती गुरुपादयोः ।
नतौ प्रक्षाल्य पादौ च पयः पीत्वा प्रफुल्लितौ ॥२२२॥

श्रीगुरु के वहां पधारने पर, वे दोनों पति-पत्नी, उनकी सेवा में आये और नतमस्तक होकर श्री चरणों पर गिर पड़े । फिर उनके चरण धोकर, दोनों ने उस चरणोदक को पीकर सुख माना ॥२२२॥

ततः कीर्तिपुरं कृत्वा गुरुदत्तः समागतः ।
वुड्ढणस्य कथा सर्वा श्राविता पुत्रजन्म च ॥२२३॥

तब गुरुदत्त भी, "कीर्तिपुर" की प्रस्थापना कर वहां आ पहुंचा। उसने श्रीगुरु को, वुड्ढण की सारी कथा सुनाई और पुत्रजन्म का सुख-संवाद भी सुनाया ॥२२३॥

ततो नप्ती च पुत्राभ्यां नता श्रीगुरुपादयोः ।
हरिरायं प्रभुर्दृष्ट्वा सुप्रसन्नो बभूव ह ॥२२४॥

तब उनकी स्नुषा ने, अपने दोनों शिशुओं सहित, उनके चरणों की वन्दना की । हरिराय (बड़ापौत्र) को देख कर वे (श्रीगुरु) अतिप्रसन्न हुए ॥२२४॥

मातृभ्यश्च नताः सर्वे जनास्ताभिर्विलक्षणा ।
कृता प्रीतिर्गतः कालः सुखेनैवं निरन्तरम् ॥२२५॥

फिर उन पुत्र-पौत्रों ने सभी माताओं (दादी) को नमस्कार किया। उन वृद्धाओं ने भी असीम-आनन्द से उन सब को शुभाशीर्वाद दिया। इस प्रकार सुख-पूर्वक उनका कुछ समय व्यतीत हुआ ॥२२५॥

लौकिकस्य तथाप्यस्य विद्यते न च नित्यता ।
गुरुदत्तस्य या माता मृता दैवानुसारतः ॥२२६॥

परन्तु इस लौकिक-सुख की स्थिरता नहीं है। दैव-योग से कुछ समय के बाद गुरुदत्त की माता (दामोदरी) का स्वर्गवास हो गया ॥२२६॥

तद्वियोगप्रभावेन मृता रामो दिनान्तरे ।
तद्वियोग प्रभावेन सायिदासोपि तद्दिने ॥२२७॥

उसके मरण-क्लेश से रामो (उसकी बहिन) भी कालान्तर में मर गई। तब रामो के मृत्यु-दुःख से बेचारा सांईदास भी स्वर्ग को चला गया ॥२२७॥

इदं वृत्तं श्रुतं डल्ले पितृक्ष्यां सुतयोर्यदा ।
गतौ शीघ्रं ततस्तेषां चतुर्थाहि समागतौ ॥२२८॥

उनकी मृत्यु की दुखद वार्ता, उनके "डल्ल" निवासी माता पिता ने सुनी, तो वे अपार-शोक से भरपूर हुए और वहां से चल कर चौथे दिन में मृत्यु-स्थान पर पहुंचे ॥२२८॥

श्रद्धधानौ गुरोर्भक्तौ नतौ श्रीगुरुपादयोः ।
अर्पितं सद्गुरोरग्रे सर्वस्वमतिभावतः ॥२२९॥

वहां आकर उन्होंने श्रद्धा से श्रीगुरु को नमस्कार किया और भक्ति-पूर्वक अपना सर्वस्व उनके आगे भेंट कर दिया ॥२२९॥

प्रहतुश्च कृपासिन्धो तीर्थराज इतो वरः ।
नैव दृष्टः श्रुतो वापि विद्यते भुवनोदरे ।२३०॥

फिर वे कहने लगे, कि हे दयालु, आपके पवित्र-चरणों से बढ़ कर, कोई तीर्थ इस कोक या अन्यत्र भी कहीं नहीं देखा-सुना है ॥२३०॥

इति प्रोक्त्वा गतौ शीघ्रं पुत्रीमार्गं च जम्पती ।
इदं दृष्ट्वा गताश्चर्यं नरा देवाश्च कौतुकम् ॥२३१॥

बस, इतना कह कर उन दोनों ने (श्रीगुरु के सास-ससुर ने) वहीं अपने प्राण त्याग दिये और अपनी संतानों (मृतकों) का अनुगमन कर चले। यह अद्भुत-घटना देखी, तो नर सुर सभी ने आश्चर्य माना ।।२३१।।

गुरुदत्तश्चकौरषां सर्वं कृत्यं समन्ततः ।
जान्हवीपुष्पपर्यन्तं गुरोराज्ञानुसारतः ।।२३२।।

तब श्रीगुरु की आज्ञा से, गुरुदत्त ने उन सभी मृत-प्राणियों का दाह से लेकर गंगा में अस्थि-प्रवाह पर्यन्त, सारा उत्तर-कर्म सम्पन्न किया ।।२३२।।

ततः कर्तुः पुरे सर्वेबालबालाः ससेवकाः ।
प्रेषिता गुरुदेवेन पैंदखानेन संयुताः ।।२३३।।

फिर श्रीगुरु ने अपने लड़के-लड़कियों को सेवकों-सहित, अपने विश्वासी-सैनिक "पैंदखान" के साथ, कर्तारपुर में भिजवा दिया ।।२३३।।

तद्दिने गुरुदेवस्य दर्शनाय समागतः ।
भाई रूपा प्रियःशिष्यो नतः श्रीगुरुपादयोः ।।२३४।।

उसी दिन में उनका प्यारा शिष्य "भाई रूपा' उनके दर्शन के लिये वहां आया और उनके पावन-चरणों में नतमस्तक हुआ ।।२३८।।

गम्यतां भो कृपासिन्धो निजस्थान उवाच सः ।
इदं श्रुत्वा गतो देवस्तदा सैन्येन संयुतः ।।२३५।।

फिर वह बोला, कि "देव, अब अपने स्थान पर चलने की कृपा

करो।" यह बात सुनकर वे, अपनी सेना के साथ उस दिशा में चल दिये ॥२३५॥

सहस्रसैन्यसंयुक्तो गुरोर्दर्शनहेतवे ।
योधरायस्तदायातो नतः सद्गुरुपादयोः ॥२३६॥

तब अपनी एक हजार सेना को साथ लेकर, योधराय (एक शिष्य) उनके दर्शन के लिए वहां आया। उसने आते ही बड़ी नम्रता से उनके चरण छुए ॥२३६॥

प्राह देवं कृपासिन्धो श्रूयते गुरुसन्निधौ ।
विधिश्चैको गुरोर्भक्तश्चौरतागुणसंयुतः ॥२३७॥

फिर उसने निवेदन किया, कि हे देव, सुना है, कि आपके पास एक "विधि" नामका सेवक है, जो चौर-कला में परम-प्रवीण है ॥२३७॥

तस्य विद्यापि द्रष्टव्या कौतुकाय विलक्षणा ।
प्राह देवो भवेदेवं विधिर्वाक्यमुवाच च ॥२४८॥

इस लिये कभी उसकी वह कारीगरी भी देखनी चाहिये, कि कैसे वह हाथ-साफ करता है। खेल २ के बहाने से ही उसे समय दीजिये।" तब श्रीगुरु ने अपनी स्वीकृति दे दी। इतने में विधि ने उठ कर अपना अभिप्राय प्रकट किया ॥२३८॥

दर्शयामि प्रभो विद्यां यत्र कोऽपि न गच्छति ।
तत्र गत्वा हरिष्यामि प्रियं वस्तु तदीयकम् ॥२३९॥

कि, हे गुरुदेव, मैं अपनी कला का प्रदर्शन इस प्रकार करूंगा कि जहां कोई भी न जा सके, वहां जाकर अकेला ही, उस स्थान के मालिक की कोई अतिप्रिय वस्तु उठा लाऊंगा ॥२३६॥

गुरोरश्वो हृतो राज्ञा मूढतादिप्रभावतः ।
तस्य स्थाने द्वयं हृत्वा शान्तचित्तो भवाम्यहम् ॥२४०॥

आपका एक घोड़ा, मूर्खतावश बादशाह ने छीन लिया था । अब मैं उसके बदले में वहां से दो घोड़े हर कर लाऊंगा और अपने मन की आग बुझाऊंगा ॥२४०॥

अस्तु चैवमिदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं गतोऽनघः ।
हृत्वा हयं ततश्चैकं स्वल्पकाले समागतः ॥२८६॥

श्रीगुरु ने उसे आज्ञा दे दी । तब वह उठ दौड़ा और बादशाह की घुड़शाला से, एक घोड़े को अनायास ही लेकर, तुरन्त वापिस आ गया ॥२८१॥

द्वितीयया तदावृत्या द्वितीयं चापहार सः ।
अपहारप्रकारश्च सुप्रसिद्धो न संशयः ॥२८२॥

फिर दूसरी बार वह वहां गया और दूसरे घोड़े को भी हर लाया । उसका यह अपहरण-साहस तो सर्वविदित ही है । इस में सन्देह कैसा हो सकता है ? ॥२४२॥

सर्वमेतन्नृपो ज्ञात्वा विधेरद्भुतकौतुकम् ।
वाहिनीम्प्रेषयामास सार्द्धायुतद्वयात्मिकाम् ॥२४३॥

जब बादशाह ने विधि (विधिया) के इस अद्भुत-कर्म की सूचना पाई तो उसने अपनी बीस हज़ार, पांच सौ सेना तैनात करदी ॥२४३॥

अधिष्ठाता बभूवात्र काबुलस्यैव पालकः ।
प्रत्यहं चैक मेषाशी स वीरेन्द्रो बभूव ह ॥२४४॥

उस सेना का सेनापति, काबुल का शासक, जो हर रोज़ एक भेड़ू खाता और अपने को बड़ा बहादुर घोषित करता था, बनाया गया ॥२४४॥

गतःशीघ्रं गुरोर्देशं प्रेषयामास मानवम् ।
सोऽतितेजो गुरोर्दृष्ट्वा बलं चापि विमोहितः ॥२८४॥

सेनापति बन कर उसने अपनी सेना के साथ २, श्रीगुरु के स्थान की ओर कदम बढ़ाये और कुछ समीप जाकर अपना एक दूत, उनके पास भेजा। वह दूत वहां गया और उनकी तेजस्वी-मूर्ति और सेना-शक्ति को देख कर हैरान हो गया ।।२४५।।

उत्कर्षं श्रीगुरोराहागत्य धीरोऽथ सैन्यपकम् ।
तं च श्रुत्वा सकोपेन सैन्यपेन स ताड़ितः ।।२४६।।

वह दूत लौट कर, अपने सेनाध्यक्ष के पास आया और श्रीगुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा।" यह सुन कर उस घमण्डी ने उस सैनिक-दूत को बहुत मारा ।।२४६।।

सोऽति शीघ्रं गतो देवं प्राणत्राणस्य हेतवे ।
तस्य स्थाने सताकारि तिलकं तस्य मस्तके ।।२४७।।

तब वह दूत भयभीत होकर, अपनी प्राण-रक्षा के लिये, श्रीगुरु की शरण में आया। उन्होंने उस शरणागत के मस्तक पर अभय का तिलक लगा कर उसे भावि-सेनानायक मनोनीत कर दिया ॥२४७॥

इदं कृत्वा गतः श्रीमान् सैन्यसम्मुखमाशु सः।
तेऽपि श्रुत्वा रवं घोरं सम्मुखे हि समागताः ॥२४८॥

उसे तिलक देकर, श्रीगुरु अपने दल-बल से मिलकर शत्रुओं की ओर बढ़े। उधर से यवन-सेना भी, घोर-प्रतिध्वनि को सुनकर सामने आ पहुंची ॥२४८॥

ज्येष्ठशिष्यो गतः शीघ्रं गुरोरग्रेऽतिगर्जितः।
कृतं युद्धं महाघोरं सैन्यपस्तेन तर्जितः ॥२४९॥

तब श्रीगुरु का एक प्रमुख-शिष्य, उनके आगे हो गया और वीर-गर्जना करने लगा। उसने दुश्मनों से डट कर संग्राम किया और यवन-सेनापति को व्याकुल कर दिया ॥२४९॥

अर्धां सेनां ततो हत्वा गतः शूरगतिं च सः।
तदर्धं योधराजेन हतं सैन्यंच लीलया ॥२५०॥

करीब आधी-सेना को मार कर, उसने वीरगति प्राप्त की। फिर आधी-फौज को, योधराज ने मार गिराया और खेल ही खेल में दुश्मनों की इति कर दी ॥२५०॥

बलं च शिष्टं परिगृह्य मूढोऽथ वेगलल्लो गुरुदेवमाह।
हयौ गृहीत्वा व्रज सार्वभौमं त्यजामि जीवं तव शीलशालिन् ॥२५१॥

तब अपनी बची-खुची थोड़ी-सी सेना को संभाल कर उस यवन-सेनापति "वेगलल्ल" ने श्रीगुरु के सामने आकर कहा, कि अब तुम हमारे दोनों घोड़ों को लेकर, बादशाह के पास चले चलो। श्रेष्ठता के नाते से मैं तुम्हें कोई हानि नहीं पहुंचाना चाहता। तुम्हें छोड़ देता हूं ॥२५१॥

श्रीगुरुरुवाच–:प्राणं त्वदीयं परिहृत्य साधो व्रजामि शीघ्रं तव सार्वभौमम् ।
प्राग्द्वन्द्वयुद्धे कुरु सम्प्रहारन्ततः करिष्ये तव जीवहानिम् ॥२५२॥

श्रीगुरु ने कहा, ओ भले आदमी, मैं तो तुम्हारे प्राण लेकर ही, तेरे सम्राट् से बात करूंगा। सावधान होकर, पहले तुम मुझ पर वार करो। पीछे मैं तुझपर प्रहार करूंगा ॥२५२॥

तेन प्रहारश्च निशम्य वाक्यं कृतोपि जातो न फलेन युक्तः ।
सता प्रहारोथ कृतोतिशीघ्रं गतस्तदैवामरराजधानीम् ॥२५३॥

श्रीगुरु के सम्बोधन पर, उस सैन्यप ने उन पर प्रहार किया। परन्तु उसे कोई सफलता न हुई। तब श्रीगुरु ने उस पर हाथ उठाया और एक ही प्रहार से, उसे सुर-पुर का मेहमान बना दिया ॥२५३॥

हताश्चैवं यदा सर्वे गतोऽसौ गुरुवाक्यतः ।
शिष्ट एको नृपागारं सद्वरेणच तत्पदम् ॥२५४॥

जब सभी यवन-शत्रु मारे गये, तो वह यवन-सैनिक, जो श्रीगुरु के पास आया था, उनकी आज्ञा से अपने बादशाह के पास अकेला ही

लौटा और श्रीगुरु के वर-प्रसाद से उसने मृत सैन्यप के पद (सेनाध्यक्षता) को प्राप्त किया ॥२५४॥

यत्र युद्धं बभूवात्र पुष्करं निजनामतः ।
स्थण्डिलं चास्थिसङ्घानां गुरुश्चक्रेतिपावनम् ॥२५५॥

जहां पर वह युद्ध हुआ था, उस स्थान पर, श्रीगुरु ने अपने नाम से एक सरोवर का निर्माण करवा दिया और मृत-साथियों की हड्डियों का जो बड़ाभारी ढ़ेर-सा लग गया था, उसे पवित्र कर एक स्थण्डिल (ऊंचास्थान) जैसा प्रतिष्ठित करवाया ॥२५५॥

इत्थं च विजयं कृत्वा गतः कर्तृपुरं तदा ।
सुप्रसन्नो बभूवाशु शिष्यसङ्घः सदागतौ ॥२५६॥

इस प्रकार उस समर में विजय-लाभ कर, वे कर्तारपुर में चले गये वहां उनके शिष्यों ने, उनका भव्य स्वागत किया ॥२५६॥

स्वल्पकाले गते चैवं पैंदखाननिमित्तकम् ।
तत्र युद्धं बभूवैकं म्लेच्छलक्षविनाशकम् ॥२५७॥

उसके कुच्छ समय के बाद, उनके सेवक "पैंदखान" के कारण भी एक बार पुनः संग्राम छिड़ा, जिसमें यवनों के एक लाख आदमी मारे गये और श्रीगुरु की विजय हुई ॥२५७॥

महीभारं हृतं ज्ञात्वा स्वल्पमेवं नरोत्तमः ।
म्लेच्छभोग्यस्य शेषं च हिंसाकर्तातिनिन्द्यताम् ॥२५८॥

तदनन्तर अपनी प्रौढ़ावस्था में, एक दिन श्रीगुरु ने विचार किया, कि थोड़ा-सा धरती का बोझ उतारा गया, यवन-शत्रुओं का अभी कुछ भोग शेष है और वृथा-हिंसा भी एक निकृष्ट कर्म ही है ॥२५८॥

शिष्यमाणं च शिष्येभ्यो यथायोग्योपदेशनम् ।
वुड्ढणस्यान्तकालं च गतः कीर्तिपुरं ततः ॥२५६॥

तब उन्होंने अपने शिष्यों को यथोचित-उपदेश दिया और प्रेमीभक्त 'वुड्ढण' के अन्तकाल को जानकर, कीर्तिपुर की ओर प्रस्थान किया ॥२५१॥

धीरमल्लस्तु तत्रैव स्थितो राज्ञाथ सम्मतिम् ।
पूर्वकर्मानुरोधेन गुरूपेक्षां चकार च ॥२६०॥

परन्तु धीरमल्ल (एक अनुयायी शिष्य) वहीं टिका रहा, उसे बादशाह की सम्मति-प्राप्त थी एवं अपने पूर्व संस्कारों के कारण भी उसने श्रीगुरु की उपेक्षा की ।२६०॥

गुरुग्रन्थोऽपि तत्रैव रक्षितो न च दत्तवान् ।
अतस्तस्मिन्नचोत्पन्ना श्रीगुरोः करुणा शुभा ॥२६१॥

उसने श्रीगुरु-ग्रन्थ को भी अपने पास रख लिया, दिया नहीं। बस, इन्हीं कुचेष्टाओं के कारण, उस पर से श्रीगुरु की दयादृष्टि फिर गई ॥२६१॥

श्रीगुरुश्च गतः शीघ्रं गुरुदत्तेन संयुतः ।
कृतकृत्यं चकाराशु वुड्ढणं करुणानिधिः ॥२६२॥

वे गुरुदत्त को साथ लेकर, यथाशीघ्र 'वुड्ढण' के पास पहुंचे और अपने दर्शनों से उसे सन्तुष्ट कर दिया ॥२६२॥

ततः कीर्तिपुरे वासं गुरुश्चक्रे निरन्तरम् ।
इदं श्रुत्वा समागच्छन् शिष्यसंघाः समन्ततः ॥२६३॥

तब से उन्होंने लगातार 'कीर्तिपुर' में ही निवास किया। यह समाचार पाकर उनके शिष्य लोग वहां पर आने जाने लगे ॥२६३॥

उपदेशं चकारासौ प्रतिनित्यं यथोचितम् ।
तं च लब्ध्वा स्म गच्छन्ति जनाः स्व स्वीयवांछितम् ॥२६४॥

वे अब हर रोज अपने शिष्यों को यथोचित-शिक्षा देते थे। उनका उपदेश सुनकर शिष्यगण, अपनी २ मनोकामना को पूर्ण हुई, समझते हुए प्रसन्न थे ॥२६४॥

ज्येष्ठपुत्रं प्रति प्राह क्वापिकालेथ सर्ववित् ।
संप्रदायस्य सिद्धयर्थं सद्विचारो विधीयताम् ॥२६५॥

एक दिन उन्होंने अपने बड़े बेटे को कहा, कि अब अपने संप्रदाय की परम्परा चालू रखने का भी कुछ विचार करो ॥२६५॥

गुरोस्तत्वं गतं यत्र तत्रैव टोपिकाह्वयम् ।
उदासीनदशाचिन्हं प्रेषणीयं स्वकीर्तये ॥२६६॥

जहां गुरु का तत्व (गुरुत्व) विद्यमान (प्रकट) हो, वहां पर 'टोपी'

नामक शिरोधारणयोग्य उदासीनता का चिन्ह् भी भिजवा दो। इसी में अपनी कीर्ति है ॥२६६॥

प्रेषितेयमिति ज्ञात्वा गुरोःपुत्रेण टोपिका।
तत्सङ्कल्पसाफल्यं पुत्र कार्यं त्वयाधुना ॥२६७॥

"गुरु-चिन्ह् टोपी, यथोचित-स्थान पर भेज दी है," अपने पुत्र की यह बात सुनकर, उन्होंने पुनः आज्ञा की, कि हे प्रिय, अब उस गुरुत्व के अधिकारी की संकल्पकल्पना को भी सत्य-सफलता देना, तुम्हारा ही विशेष-कर्तव्य है ॥२६७॥

यच्च तत्वं गुरोःसाधो वर्त्तते मम चेतसि।
एतत्सर्वं त्वदीयं स्याद्यथेच्छसि तथा कुरु ॥२६८॥

हे पुत्र, गुरुत्व का जो तत्व (गरिमा-महिमा) आदि, मुझ में विद्य-मान है, वह सब तुझ में सन्निविष्ट हो, अब तुम जैसा भला समझो, वैसा व्यवहार करो ॥२६८॥

ज्येष्ठपुत्रस्तु पात्रं चेत्तदासर्वं तदीयकम्।
पितुर्वेदस्य भावोऽयं त्वं च पात्रं न संशयः ॥२६९॥

"यदि बड़ा लड़का, सत्पात्र (सर्वयोग्य) हो, तो वह पिता का सत्य उत्तराधिकारी है, यह वेद-वचन की व्यवस्था है। इसके अनुसार तुम सुपात्र ही हो ॥२६९॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं नतस्तत्पदकंजयोः।
श्रीमदाज्ञानुसारेण कृता चैषा व्यवस्थितिः ॥२७०॥

श्रीगुरु की यह सत्याज्ञा सुन कर, वह (गुरुदत्त) उनके चरणों में नतमस्तक हुआ और उन्हीं की पवित्राज्ञानुसार उसने यह सुव्यवस्था की...॥२७०॥

गोंदफूलालवालवाख्याः सत्सेवका इमे गुरोः ।
दत्वा तेभ्यः शिरश्चिहं प्राह वाक्यमनन्तरम् ॥२७३॥

गोंदा, फूला, लवालु इत्यादि भक्त, श्रीगुरु के सत्य-सेवक थे। उनको 'गुरुत्व का चिन्ह" (टोपी) देकर, गुरुदत्त ने समझाया ॥२७१॥

पापदंशविनाशाय धूम्रतुल्यमिदं यतः ।
स्मारकं च गुरोर्व्यक्तेरतस्त्याज्यं न कर्हिचित् ॥२७२॥

कि, हे गुरुभक्तो, पाप-रूप कीड़ों को मारने के लिये, यह उग्र धुआं जैसा है, साथ ही गुरु का श्रेष्ठ-स्मारक भी। अतः इसे संभाल कर रखना, कहीं त्यागना मत ? ॥२७२॥

नामयुक्तमिदं त्यक्त्वा भविष्यन्ति बहिर्मुखाः ।
विना भक्ति हरे धीरा नो विमुंचति संसृतेः ॥२७३॥

हे धीर जनो, नाम-जप और इस गुरुचिन्ह रूप टोपी को त्यागने वाले गुरु भक्त को, हरि भक्ति का प्राप्त होना असम्भव होगा। हरि-भक्ति के बिना तो वे कभी भी संसार-यात्रा से नहीं छूट सकेंगे ॥२७३॥

इदं श्रुत्वोपदेशं ते हरेर्भक्तिपरायणाः ।
गुरोर्भक्तिपराश्चापि गतास्तत्पदमुत्तमम् ॥२७४॥

गुरुदत्त के इस सदुपदेश को सुन कर वे शिष्य-जन श्रीप्रभु-भक्ति और गुरु-सेवा में तत्पर रहे, जिससे अन्त में उनकी सद्गति हो गई ॥२७४॥

इदं कृत्वा गुरुम्प्राह निजंवस्त्वथ सद्गुरो ।
हरिरायं कृपापात्रं श्रीमतश्च गमिष्यति ॥२७५॥

इस प्रकार सुव्यवस्था कर, उसने श्रीगुरु से निवेदन किया कि, हे देव, आप कृपा करें और अपने गुरुत्वाधिकार को अपने स्नेहाधार हरिराय (बड़ा पौत्र) के सुपुर्द करें ॥२७५॥

गुरोर्लोकं गमिष्यामि स्वल्पकाले गते यतः ।
इदं सर्वं विजानासि सर्ववेत्तासि सद्गुरो ॥२७६॥

क्योंकि मैं थोड़े ही दिनों में, इस लोक को त्याग कर, गुरुलोक (स्वर्ग) में चला जाऊंगा । इसे आप सर्वज्ञ होते हुए, अच्छी तरह जानते हैं ॥२७६॥

प्राह देव इदं श्रुत्वा धन्यधन्योऽसि पुत्रक ।
सदा मुक्तोऽसि शुद्धोसि यस्य ते मतिरीदृशी ॥२७७॥

उसकी मार्मिक-बात सुनकर, श्रीगुरु ने कहा, हे पुत्र, तुम धन्य हो तेरी स्वच्छ-मति से सबसत्य जान रक्खा है । अत एव तुम शुद्ध-बुद्ध तथा सदा-मुक्त हो ॥२७७॥

ततः किंचिद्गते काले गुरुदत्तो नगोपरि ।
गतस्त्यक्त्वा मृषा देहं तत्र श्रीगुरुधामनि ॥२७८॥

उसके थोड़े ही दिनों में, गुरुदत्त पर्वत की ओर चला गया। वहां उसने अपने भौतिक-शरीर को छोड़ा और अमर धाम की ओर प्रस्थान किया ॥२७८॥

कृत्वोद्वाहं ततः श्रीमान् हरिरास्य सद्गुरुः ।
पुनश्चक्रे शुभे काले तिलकं तस्य मस्तके ॥२७९॥

उसके कुछ समय के पश्चात्, श्रीगुरु ने श्रीहरिराय (पौत्र) का विवाह करवाया और फिर शुभ मुहूर्त में उसे गुरुपद का तिलक देकर, गुरु-आसन पर बैठा दिया ॥२७९॥

ततः प्राह त्वया कार्यं भक्तिमार्गोपदेशनम् ।
हरेर्भक्ति विना साधो जीवता न निवर्तते ॥१८०॥

फिर उन्होंने उसे सदुपदेश दिया, कि हे प्रिय, तुम हमेशा श्रीप्रभु-भक्ति का ही, प्रचार-प्रसारपूर्वक उपदेश करना। क्योंकि उसके बिना जीवका परम-कल्याण नहीं हो सकता ॥२८०॥

सतां भक्ति विना सापि कल्पते न विमुक्तये ।
परां प्रीतिं विना सर्वं तालघण्टादिनिष्फलम् ॥२८१॥

परन्तु सन्तों की सेवा के बिना, श्रीप्रभु की भक्ति भी कुच्छ लाभ नही पहुंचा सकती। सन्तों की कृपा से प्राप्त परमा (प्रेमा) प्रीति (भक्ति) ही सर्वतोमुखी फलवती होती है। उसके बिना, खाली घण्टा, शंख आदि बजाने से कुछ नहीं बनता ॥२८१॥

परप्रेमा हरौ जातो हरेत्संसृतिबन्धनम् ।
तदाभासो न साधेच्च निजं साध्यं प्रमेयवत् ॥२८२॥

परमेश्वर में पराप्रीति हो जाने से, साधक का जन्म-मरण से छुटकारा हो जाता है। परन्तु उसके बिना कुछ नहीं होता । साधना-भाव से साध्य नहीं सधता । सदा साधन ही साध्य तक पहुंचाता हैं ॥२८२॥

बिना प्रीतिं हरौ साधो पापहानि नं जायते ।
तां विना न विवेकादिस्तं विना कथमात्मधीः ॥२८३॥

श्रीप्रभु-प्रीति के बिना पाप-ताप का विनाश नहीं होता और ना ही विवेक-वैराग्य प्रभृति पूर्व-साधनों का अभ्यास हो सकता है। तब उनके बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति कहां से होगी ? ॥२८३॥

तां विना न च मोक्षोस्ति प्राह वेद इमं क्रमम् ।
अतो भक्तिपथं श्रीमान् प्रतिपेदे गुरूत्तमः ॥२८४॥

आत्म-ज्ञान के बिना मुक्ति की कथा व्यर्थ है। वेदों ने यही क्रम बतलाया है। इसीलिये श्रीगुरु महानुभावोंने भक्तिमार्ग को अपनाया है ॥२८४॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं नतः सद्गुरुपादयोः ।
धन्यभाग्यं निजं मत्वा तत्परश्च बभूव सः ॥२८५॥

श्रीगुरु की समयोचित सुशिक्षा सुन कर, उसने उनके चरणों पर सिर रख दिया और अपने आप को बड़भागी समझ कर वह उनकी शिक्षानुसार साधना में तत्पर हुआ ॥२८५॥

त्यागबह्वादरस्यासी द्या माताऽथ तां प्रति ।
त्वत्पुत्रो गुरुदेवः स्यादित्युवाच गुरूत्तमः ॥२८६॥

श्रीगुरु ने त्यागबहादुर की माता (नानकी) को भी समझा दिया कि, समय पर तुम्हारा पुत्र भी गुरु बन जाएगा ॥२८६॥

सत्यखण्डं गमिष्यामि ततः पुत्रेण युक्तया ।
गमनीयं त्वया साध्वि शुभस्थानं वकालयम् ॥२८७॥

अब मैं सत्यलोक में चला जाऊंगा । तुम अपने पुत्र (त्यागबहादुर) के साथ वकाला के पवित्र-स्थान पर चली जाना ॥२८७॥

कृपादृष्ट्या ततः प्राह सूर्यमल्लस्य मातरम् ।
राजपूज्या सदैव स्यात्तव पुत्रस्य सन्ततिः ॥२८८॥

फिर उन्होंने सूर्यमल्ल की माता (मर्वाही) को समझाया, कि तुम्हारे पुत्र की सन्तान, सदा राजा द्वारा सम्मान प्राप्त करेगी ॥२८८॥

विधिचन्द्रं ततः प्राह गच्छ साधोऽथ सुन्दरम् ।
तव वंशोऽपि पूज्यःस्याद्वीरशिष्यपिराणवत् ॥२८९॥

उसके बाद वे बिधिचन्द्र से कहने लगे, कि हे प्रिय! अब तुम सुन्दर के पास चले जाओ । तुम्हारा वंश भी, वीर शिष्य पिराण की तरह सदा मान पाता रहेगा ॥२८९॥

प्राह मानं ततो देवो गच्छ साधो निजस्थलम् ।
गुरोराज्ञामुभौ मत्वा गतौ धाम निजं प्रति ॥२९०॥

तदनन्तर वे "मान" से बोले, हे साधु, अब तुम भी अपने स्थान पर चले जाओ। इस प्रकार उनकी आज्ञा से वे दोनों अपने २ स्थान पर चले गये ॥२९०॥

एवं किंचिद्गते काले नदीतीरं जगाम ह।
जलस्पृष्टे स्थले शिष्यैः कृतं पावनमासनम् ॥२९१॥

इस प्रकार सब को यथायोग्य कर्तव्य समझा-बुझा कर वे अपने उचित समय पर नदी के किनारे चले गये। वहां जल के पास ही एक शुद्ध स्थान पर शिष्यों ने पवित्र-आसन बनाया ॥२९२॥

स्वस्तिकं च समारुह्य स्थितो देवस्तदासने।
प्राणवायुं समुत्थाप्य ब्रह्मरन्ध्रे प्रवेशयत् ॥२९२॥

फिर श्रीगुरु उस आसन पर 'स्वस्तिकासन' में बैठ गये। तब उन्होंने अपने प्राणवायु को, योगाभ्यास-पूर्वक, ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा लिया ॥२९२॥

ततो भित्वा त्रिसीमानं गतो वातो निजात्मनि।
निजानन्दस्वरूपं तु गच्छति न च कुत्रचित् ॥२९३॥

तब तीन सीमाओं (नाड़ी विशेष) का सम्भेदन कर, प्राणवायु अपने मूलाधार में समा गया। परन्तु आत्मानन्द स्वरूप को कहीं जाना-आना नहीं होता। वह स्वात्माराम ही बना रहा ॥२९३॥

एवं श्रीसद्गुरुवरकला ज्योतिषि ब्रह्मणीता,
ब्रह्मावाप्ति निगमविहितां मोक्षमाहुश्च सन्तः।
दुःखध्वंसं चरममपि तं तीर्थकारा वदन्ति,
जाते तस्मिन्निखिलजगतां भावनापि व्यतीता ॥२९४॥

इस प्रकार श्रीसद्गुरु (हरिगोविन्द) की जीवनज्योति, ब्रह्मज्योति में विलीन हो गई। इसी को सन्तों ने ब्रह्मप्राप्ति या मोक्ष नाम से कहा है। बहुत से विद्वान् इसी को सब दुःखों की विनाशक-सीमा भी कहते हैं। इस सर्वोत्तम गति को पा लेने पर, सकल संसार की भावना समाप्त हो जाती है ॥२९४॥

॥ ग्यारहवां विश्राम समाप्त ॥



अथद्वादशो विश्रामः

दमशीलदयादिगुणैर्वलितं सततं च महाबलवीर्ययुतम् ।
गुरुदेवकृपाविषयं परमं प्रणमामि सदा हरिरायगुरुम् ॥१॥

वारहवां विश्राम प्रारम्भ

विजितेन्द्रिय, शीलवान्, दयालु, महाशूर, अपने सद्गुरु के विशेष कृपापात्र, गुरुवर श्रीहरिराय को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥१॥

श्रीगुरोर्हरिरायस्य श्रूयतामधुना कथा ।
श्रूयमाणा सती या वै त्रायते भवबन्धनात् ॥२॥

अब श्रीगुरु हरिराय की पवित्र-कथा सुनिये । जिसके श्रवणमात्र से संसार-सागर से पार होना सुगम हो जाता है ॥२॥

शिष्यसंघः समायातः पूजनं कृतवानसौ ।
यथादेवेषु देवेज्यः शोभितस्तत्र सद्गुरुः ॥३॥

गुरुपद पर सुप्रतिष्ठित होने पर, उनका शिष्य-वर्ग सेवा में उपस्थित हुआ और विशेष पूजा कर, उनका सत्कार किया। देवताओं में देवराज (इन्द्र) की तरह उनकी शोभा बढ़ी ॥३॥



भाई भक्तुर्गुरोः सेवां [illegible] कृषिकर्मणा।
तत्र लग्ना जनाः [illegible] घृतादिकम् ॥४॥

"भाई भक्तु" नामक एक सेवक ने, अपनी खेती-वाड़ी के अन्नदान आदि से, श्रीगुरु की यथेष्ट सेवा की। उसकी खेतीवाड़ी के काम पर लगे हुए आदमियों ने एक दिन घी वगैरह खाद्यपदार्थों की मांग की ॥४॥

मार्गं तस्मिन् गतः फेरुर्विक्रयार्थं घृतादिकम्।
[illegible] समादाय ततश्चाह दिनान्तरे ॥५॥

उसी मांग पर, फेरु (एक बिक्रीवाला) घी वगैरह की बिक्री के लिये गया था। घी का बर्तन लेकर वह दूसरे दिन आया और सारी बात भाई भक्तु से कह दी ॥५॥

पात्रस्य न्यूनतां दृष्ट्वा मूलं ग्राह्यं त्वया पुनः।
इदं भक्तोर्वचः श्रुत्वा गत्वायातो दिनान्तरे ॥६॥

पात्र (बर्तन) की न्यूनता (कमी) को देख कर भाई भक्तु ने कहा, कि "अरे, तू अपने घी को उसी रूप में (मूल) दाम से लेना।" उसकी बात मान कर फेरु चला गया और दूसरे दिन फिर आया ॥६॥

स [illegible] पात्रं दृष्ट्वा पूरितं च [illegible]
आश्चर्यं तु गतो ज्ञात्वा तस्य शक्ति विलक्षणाम् ॥७॥

उसने देखा कि, वहाँ की [illegible] पहले से अधिक [illegible]

तब वह आश्चर्य में डूब गया और भाई भक्तु की चमत्कारपूर्ण शक्ति पर लट्टू हो गया ॥७॥

तव शिष्यो भविष्यामि प्राह फेरुर्वचस्त्विदम् ।

प्राह भक्तुस्तं [illegible] गुरोः शिष्यो [illegible] ॥८॥

उसने भाई भक्तु से प्रार्थना की, कि मुझे अपना शिष्य बना लो। तब उसने उससे कहा, कि तू श्रीगुरु का शिष्य बन कर सुखी होगा॥८॥

सत्सम्मतिं गतः श्रुत्वा सत्यनामगृहीतवान् ।

सन्मसन्दः सतो जातः तस्य सेवासु तत्परः ॥६॥

भाई भक्तु की शुभ सम्मति से वह (फेरु) श्रीगुरु की शरण में गया और उनसे सत्यसाम की दीक्षा ले बैठा। उनकी सेवा में सदा लगे रहने से, वह उन्हीं का मसन्द (विशेष-अनुचर) बन गया ॥६॥

श्रुतकीर्तिं तदा भ्रातुः श्रीरमल्लः समागतः ।

मात्रा नत्या सहादाय गुरुं कर्तृपुरं गतः ॥१०॥

अपने भाई (श्रीगुरु) की शुभ-कीर्ति की कथा सुन कर श्रीरमल्ल एक दिन वहां आया और माता (वत्तो) और भाई (श्रीगुरु) को साथ लेकर कर्तारपुर में लौट आया ॥१०॥

किञ्चित्कालमुषित्वा च [illegible]

तदीयाज्ञानुसारेण गतो देवोथ जङ्गलम् ॥११॥

कुछ दिनों तक अपनी माता व भाई बन्धुओं में रहकर, उन्हीं की आज्ञानुसार फिर वे (श्रीगुरु) जंगल को चले गये ॥११॥

दत्वा च तत्र कालाय वरं फूलादिहेतवे ।
पावनं जंगलं कृत्वा गतः कीर्तिपुरं पुनः ॥१२॥

वहां उन्होंने 'फूला-गोंदा' आदि गुरु-सेवकों के निमित्त काल को वरदान दिया। इस प्रकार उस जंगल को पवित्र कर, वे फिर कीर्तिपुर में चले आये ॥१२॥

श्रुता कीर्तिर्गुरोः शुक्लाऽलमगीरेण भूभृता ।
प्रधानं प्राह तं सन्तं मत्समीपे समानय ॥१३॥

इस प्रकार एक दिन आलमगीर बादशाह (औरंगजेब) ने श्रीगुरु की अमर-कीर्ति की चर्चा सुनी और अपने बड़े वजीर से कहा, कि तुम जाओ, उस 'सन्त' को यहां ले आओ ॥१३॥

गतःश्रुत्वा प्रभोर्वाक्यं गुरुं नम्रोऽब्रवीदिदम् ।
श्रीमतां सद्गुरो राज्ञो दर्शनेहास्ति सत्कृतौ ॥१४॥

वह (प्रधान-मन्त्री) अपने मालिक (बादशाह) की आज्ञा से वहां गया और नम्रता से श्रीगुरु के आगे बोला, कि श्रीमन् ? बादशाह (औरंगजेब) आप के दर्शन कर, सत्कार करने की इच्छा रखता है ॥१४॥

रामरायमुवाचेदं गुरुःश्रुत्वा सशक्तिकम् ।
इन्द्रप्रस्थं व्रजेक्षे नो म्लेच्छवक्त्रं कदाप्यहम् ॥१५॥

यह निमन्त्रण सुन कर, उन्होंने "रामराय" से कहा, कि तुम दिल्ली में चले जाओ। मैं तो कभी म्लेच्छपति का मुख नहीं देखूंगा ॥१५॥

वचःश्रुत्वा गतः शीघ्रं स्वीयशक्त्याऽथ निर्भयः।
अजव्याजप्रयुक्तैका सिद्धी राज्ञे प्रदर्शिता ॥१६॥

उसका सशक्त प्रत्युत्तर सुनकर वह (रामराय) वहां लौट कर गया और अपने बल से, निडर होकर, उसने एक बकरे को, सब के देखते ही देखते गायब कर देने की, एक सिद्धि (चमत्कार) "बादशाह" को दिखलाई ॥१६॥

अन्यसिद्धिगणोऽप्यत्र दर्शितो नृपतुष्टये।
आज्ञावाक्यं गुरोश्चापि वैपरीत्येन दर्शितम् ॥१७॥

उसने ऐसे-वैसे और भी कितने ही खेल-तमाशे, वहां दिखलाये, कि जिससे बादशाह प्रसन्न हो जाये। साथ ही उसने श्रीगुरु के वचनों को भी विपरीत-रीति से सुनाया, जिससे राजा उन पर अप्रसन्न होजाये ॥१७॥

श्रुतं चैतत्सता सर्वं कोपो जातः सुतोपरि।
प्राह देवोथ मागच्छेन्मत्समीपे कदाप्यसौ ॥१८॥

उसकी सारी कार्यवाही का पता चलते ही, श्रीगुरु ने क्रोधपूर्वक आज्ञा दे दी, कि अब वह कभी मेरे सामने न आये ॥१८॥

इवं वृत्तं गुरोः श्रुत्वा कोपयुक्तो बभूव सः।
इन्द्रप्रस्थं तदा त्यक्त्वागतः कीर्तिपुरं प्रति ॥१९॥

उनकी इस कठिन-प्रतिज्ञा को सुन कर "रामराय" भी क्रुद्ध हुआ और दिल्ली को त्याग कर, सन्देश से कीर्तिपुर में आ पहुंचा ॥१९॥

दूरदेशात् कृतः प्रश्नः कुत्र गच्छामि सद्गुरो ।
यत्र चास्यमिति श्रुत्वा गतो मद्रपुरं प्रति ॥२०॥

अपने गुरुस्थान पर आकर, उसने दूर ही खड़े होकर, पूछा कि हे गुरुदेव, यदि मैं यहां न आऊं तो फिर कहां चला जाऊं ?" श्रीगुरु ने रूखे-स्वर में कह दिया, कि "जिस ओर तेरा मुख है, उधर को निकल जाओ ।" यह सुन कर वह पंजाब में चला गया ॥२०॥

सर्वे सन्तीपि जानन्ति वृत्तमस्य समन्ततः ।
गुरोर्वृत्तमतश्चात्र श्रूयतां भवतारकम् ॥२१॥

वहां उसका कैसा जीवन बीता ? इस कथा को सभी अनुयायी लोग जानते हैं । इसलिये यहां श्रीगुरु का चरित्र ही सुनो, जो सर्वथा कल्याणकारी है ॥२१॥

हरिकृष्णाय पुत्राय गुरुर्दत्वा निजासनम् ।
त्यक्तदेहो गतः श्रीमान्निज धाम सुखाकरम् ॥२२॥

एक दिन अनुकूल काल समझ कर उन्होंने अपने दूसरे पुत्र, हरिकृष्ण को गुरुपद का उत्तराधिकारी बनाया और स्वयं इस नश्वर-काया को छोड़ कर, अमरधाम की यात्रा कर ली ॥२२॥

कृतं कृत्यं गुरोः सर्वं हरिकृष्णेन धीमता ।
शतद्र्वाख्यनदी तीरे सतः स्थानं विराजते ॥२३॥

तब श्रीहरिकृष्ण ने यथाविधि उनका देहोत्तर-कर्म किया। शतद्रु (सतलुज) नदी के तीर पर उनका पवित्र स्मारक बना है ॥२३॥

॥ बारहवां विश्राम समाप्त ॥



अथ त्रयोदशो विश्रामः

य इदं सकलं समवेक्ष्य मृषा सनकादिसमं च चचार महीम्
कृतबालतनुं सुगुणायतनं हरिकृष्णगुरुं प्रणमामि मुदा ॥१॥

तेरहवां विश्राम आरम्भ

इस संसार को असार जान कर, ज्ञानी सनक आदि की तरह लोक में विचरण शील, बालरूप, गुणाधार, सद्गुरु श्रीहरिकृष्ण को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥१॥

श्रीगुरोर्हरिकृष्णस्य श्रूयतां गुणमालिका।
यस्याः श्रवणमात्रेण देवसंघः प्रसीदति ॥२॥

अब श्रीगुरु हरिकृष्ण की गुणगाथा सुनिये। जिसके सुन लेने से सारे देवता स्वयं सुप्रसन्न हो जाते हैं ॥२॥

अन्तेवासिजनाः सर्वे दूरदेशनिवासिनः।
आगताः श्रीगुरोर्वृत्तं तदा श्रुत्वा समन्ततः ॥३॥

उनकी गुण-चर्चा को सुन-सुन कर, निकट-दूर के सभी शिष्य-जन वहां आने-जाने लगे ॥३॥

उपायनं करे कृत्वा पूजयामासुरेव तम् ।
उपदेशं चकारासौ यथायोग्यं प्रसन्नधीः ॥४॥

उन सब ने नानाप्रकार के उपहार-द्रव्य भेंट कर, उनकी पूजा की। तब सुप्रसन्न-मन से श्रीगुरु ने उन शिष्यों को यथोचित सदुपदेश दिया ॥४॥

श्रुत्वा वृत्तमिदं सर्वं ज्येष्ठभ्रातागुरोस्तदा ।
इन्द्रप्रस्थं गतः शीघ्रं प्राह भूपमिदं वचः ॥५॥

उनकी गुरुत्व-प्राप्ति की सूचना पाकर, उनका बड़ा भाई (रामराय) पुनः दिल्ली में जाकर, बादशाह से शिकायत कर बैठा ॥५॥

गुरुभावं कनिष्ठाय भूप दत्वाथ मे पिता ।
निजं रूपं गतः श्रीमान्मेस्ति भागः स सर्वथा ॥६॥

उसने कहा, हे स्वामी, मेरे छोटे भाई (हरिकृष्ण) को अपना गुरु-पद देकर, मेरा पिता महाप्रयाण कर गया है। परन्तु वह गद्दी (गुरु-आसन) वास्तव में मेरा हिस्सा है। सो मुझे मिलना चाहिये ॥६॥

जयसिंहमिदं श्रुत्वा प्राह भूपोथ गम्यताम् ।
स्वास्थ्येनैव गुरुर्बालस्त्वयानेयो मदन्तिके ॥७॥

उसकी विनय-वार्ता सुन कर बादशाह ने, जयसिंह (एक सेवक राजा)

से कहा, कि तुम जाओ और उस बालक-गुरु को शान्तिपूर्वक यहां ले आओ ॥७॥

गतो भाग्यं निजं मत्वा सर्वतोप्यधिकं नृपः ।
गुरुं नत्वा कृता पूजा रत्नजातं समर्पितम् ॥८॥

बादशाह की आज्ञा से राजा जयसिंह, अपने भाग्य की सराहना करता हुआ, श्रीगुरु की सेवा में उपस्थित हुआ। उनकी वन्दना कर, उसने अनेक मणि-रत्नों की भेंट समर्पित की ॥८॥

प्राह देवं ततः श्रीमन्निन्द्रप्रस्थनिवासिना ।
शिष्यसंघेन संयुक्तो नृपो दर्शनमीहते ॥९॥

फिर उसने असल-बात कही, कि हे गुरुदेव, आप दिल्ली में चलें। वहां के शिष्य लोगों के साथ ही, बादशाह भी आपके दर्शन करना चाहता है ॥९॥

श्रीगुरुरुवाच —: अहं म्लेच्छं न पश्यामि गुरोराज्ञानुसारतः ।
अन्यशिष्यकृते राजन् गच्छामि तव वाक्यतः ॥१०॥

श्रीगुरु ने कहा, हे राजन् ? सद्गुरु की आज्ञावश मैं म्लेच्छराज के सामने नहीं जाऊंगा। हां, तुम्हारे कहने से, अपने शिष्यों के लिये तो मैं अवश्य वहां आऊंगा ॥१०॥

राजोवाच—: भवेदेवं कृपासिन्धो दर्शनं न भविष्यति ।
म्लेच्छराजस्य सान्निध्ये राजनीत्या वदाम्यहम् ॥११॥

जयसिंह बोला, हे दयालु, ऐसा ही होगा। आपको म्लेच्छ राज का दर्शन नहीं करना पड़ेगा। मैं तो उसके पास रहता हूं इसलिये राज-नीतिवश, यों कहा गया है ॥११॥

इदं राजवचः श्रुत्वा प्रस्थितो गुरुसत्तमः।
शिष्यसंघाः समायाता गुरोर्दर्शनहेतवे ॥१२॥

राजा (जयसिंह) की बात मान कर, श्रीगुरु वहां जाने को तैय्यार हो गये। तब उनके शिष्य लोग भी, गुरु-दर्शन के लिये, जहां तहां से आने लगे ॥१२॥

काबलीयाश्च गान्धारा नानोपायनसंयुताः।
तेपि श्रुत्वेदृशं वृत्तं गताः साकं सतानघाः ॥१३॥

उनमें कई काबुल से, कुछ गान्धार से आये थे और अपने २ विचार की उत्तम-भेंट भी साथ लाये थे। उन्होंने श्रीगुरु की दिल्ली-यात्रा पर, उनके साथ जाने का विचार कर लिया और साथ २ चल पड़े ॥१३॥

निवृत्ता नैव ये धीरा वारिताः शतशोपि ते।
पंजोखरे गतो देवो यदा तत्र कृतोमठः ॥१४॥

श्रीगुरु ने उन्हें बहुत समझाया, किन्तु वे बीरवर साथ ही रहे। उन्होंने उनका अकेला दिल्ली जाने का ढंग, संशयात्मक समझा था। चलते २ 'पंजोखर' गांव में उनका पड़ाव पड़ा और वहीं उन्होंने विश्राम किया ॥१८॥

देवस्थानमिदं मत्वा न लंघ्यन्तानुवाच सः ।
मृण्मयस्य च तस्यापि कृता पूजा जनैर्मुदा ॥१५॥

'यह हमारा पवित्र-देवस्थान है, इसे लांघ कर आगे बढ़ना ठीक नहीं है," ऐसा कह कर, श्रीगुरु ने उन सभी से मिल कर "पंजोलर" में मिट्टी के देवस्थान की भी यथोक्त पूजा की ॥१५॥

उत्तमाङ्गे धृता धूलिः श्रीगुरोः पादयोश्च तैः ।
उदासीनाश्च ते भूत्वा गता धाम निजं निजम् ॥१६॥

तब वहां की और गुरुचरणों की धूलि को मस्तक में लगा कर, श्रीगुरु की आज्ञा पाकर, वे अनुयायी-शिष्य, उदासीन होकर, अपने २ स्थान को लौट गये ॥१६॥

ततः प्रातर्गतो देवः पुरीं धीवरहेडिकाम् ।
तत्र विप्रो बभूवैको मृषामानी न पण्डितः ॥१६॥

दूसरे दिन सुबह ही वे 'धीवरहेड़िका' गांव में चले गये । वहां एक ब्राह्मण रहता था, जो विद्वान् न होकर भी, पण्डित होने का झूठा घमण्ड करता था ॥१७॥

उपहासेन तेनैकः कृतः प्रश्नो विलक्षणः ।
कृता गीताथ कृष्णेन हरिकृष्णोस्यतोधिकः ॥१८॥

उस विप्र ने उपहास-पूर्वक एक प्रश्न किया, कि एक कृष्ण ने तो गीता बनाई है, तुम तो हरिकृष्ण याने उससे अधिक नाम व प्रभाव रखते होंगे ? ॥१८॥

व्याख्येयं च ततः शास्त्रं गीताख्यमविलम्बतः ।
वेदवाक्यानि तन्मूलं श्रावयाथ निरन्तरम् ॥१९॥

इस लिए तुम गीता की व्याख्या करो और उसके आधारभूत वैदिक-वाक्यों का भी उद्धरण सुनाओ ॥१९॥

जीवेशयो स्तथा रूपं तयोरैक्यं वदाशुमे ।
कया रीत्याथ किं मानं तत्र विश्वं किमात्मकम् ॥२०॥

जीव और ईश्वर का स्वरूप, उनकी एकता, उसका प्रमाण और संसार की अवस्था का भी वर्णन करो ॥२०॥

तस्य मूलं च किं रूपं सत्यमिथ्यादिकं यथा ।
ब्रूहि सर्वं कृपासिन्धो गुरोरेतद्धि लक्षणम् ॥२१॥

इस जगत् का मूल क्या है । वह सत्य या असत्य, कैसा है ? इत्यादि सारा क्रम मुझे सुनाओ-समझाओ । क्योंकि शास्त्र-सम्मत होना ही गुरुत्व का सत्य-लक्षण होता है ॥२१॥

श्रीगुरुरुवाच —ः पशुप्रायो नरः कोपि त्वयानेयो ममान्तिके ।
उत्तरं चास्य सर्वस्य स वदिष्यति सर्वतः ॥२२॥

श्रीगुरु ने कहा, हे ब्राह्मण, तुम किसी भी पशु-तुल्य (महामूर्ख) पुरुष को यहां ले आओ । वह स्वयमेव इस सारे प्रश्नजाल का ठीक २ उत्तर सुनायेगा ॥२२॥

इवं श्रुत्वातिवेगेन धीवरो जातितो मतः ।
मूढ एकः समानीतस्तेन विप्रेण मानिना ॥२३॥

यह सुन कर, उस अभिमानी ब्राह्मण ने, एक धीवर, जो महामूर्ख था, उसे लाकर श्रीगुरु के सामने खड़ा कर दिया ॥२३॥

आम्रप्रश्ने स वक्ताभूत्कोविदारस्य मूढ़धीः।
गर्दभं चाश्व इत्याह मातृजायाविवेकभाक् ॥२४॥

वह धीवर ऐसा वज्रमूर्ख था, कि जो आम के नाम पर कचनार की बात करता था। गधे को घोड़ा कहता था और माता-भार्या में कोई भेद नहीं समझता था ॥२४॥

कृतं स्नानमिति प्रश्ने पूर्ववर्षे स उक्तवान्।
कुरु स्नानं त्वमद्यापि प्राह देवस्तमीदृशम् ॥२५॥

"तुमने स्नान-पानी किया है?" इस पर वह बोला, कि गतवर्ष में किया था।" तब उसे श्रीगुरु ने कहा, कि तुम आज भी स्नान-पानी करो ॥२५॥

कृतं स्नानं गुरोर्वाक्याद्यदा तेन प्रफुल्लितः।
देवबुद्धिस्तदा जातो नतः सद्गुपादयोः ॥२६॥

श्रीगुरु की आज्ञा से उसने स्नान-पानी किया। अब वह अति प्रसन्न था। गुरु-कृपा से उसे देवता-मति प्राप्त हो गई। फिर उसने नम्रता से श्रीगुरुचरणों में नमस्कार किया ॥२६॥

प्रभो आज्ञाथ कर्तव्या किं करोम्यविलम्बतः।
प्राह देवं गुरुश्चाह गीतां वेदं च गाय भो ॥२७॥

फिर उसने प्रार्थना की, कि हे गुरुदेव, मुझे आप उचित-सेवाकर्म के लिये आज्ञा करें। मैं यथाशीघ्र तदनुसार सेवा करूंगा। तब श्रीगुरु ने कहा, कि तुम वेद और गीता का पाठ सुनाओ ॥२७॥

इदं श्रुत्वा तु तेनाशु गीता गीता च सार्थिका।
मूलमस्याश्च वेदोपि तेन गीतो मनस्विना ॥२८॥

यह आज्ञा पाकर, उसने अर्थ-सहित गीता का पाठ पढ़ा और उसके मूलाधार वेदवचनों का भी सुन्दर विवेचन किया ॥२८॥

चिदाभासं वदन्त्येके जीवरूपं मनीषिणः।
बुध्दयविद्याविशिष्टं वा केचिदाहुर्द्विजोत्तम ॥२९॥

तदनन्तर उसने कहा, हे ब्राह्मण, कई तत्वदर्शी, चित्-चेतनशक्ति के आभास को जीव कहते हैं। कुछ ज्ञानियों ने उसे बुद्धि-अविद्या से विशिष्ट अर्थात् अविद्या से आच्छन्न होने पर ही जीवत्व-नाम दिया है ॥२९॥

मायाभासादि चेशस्य तथा रूपं वदन्ति हि।
शुद्धं ब्रह्म तयोरैक्यं भागत्यागेन लक्ष्यते ॥३०॥

इसी प्रकार मनीषी लोग, मायाभास रूप से ईश्वर को मानते हैं। अर्थात् ईश्वर माया-विशिष्ट होता है। परन्तु शुद्ध अर्थात् माया-हीन परम-तत्व ही ब्रह्म कहलाता है। जीव और ईश्वर की एकता तो भाग-वर्जना अर्थात् मिथ्याज्ञानजन्य भेद के बहिष्कार से ही समझ पड़ती है ॥३०॥

मानमत्रास्ति वेदाख्यं मृषा विश्वं च गीयते ।
मूलमस्यास्ति मायाख्या शक्तिरेषापि वै मृषा ॥३१॥

उपर्युक्त सिद्धांत में वेद ही स्वतः प्रमाण हैं। यह संसार माया का खेल-मात्र है, जो वास्तव में मिथ्या है। केवल मायावश सत्य-सा लगता है। परन्तु ज्ञान-दृष्टि से माया स्वयं मिथ्या है, तो फिर तत्कार्य, जगत् सत्य कैसे हो सकता है ? ॥३१॥

प्रश्नजालस्य चान्यस्य प्राह सर्वं स उत्तरम् ।
दिव्यदृष्टिप्रसादेन प्रेरितो गुरुणा तदा ॥३२॥

इस प्रकार उस धीवर ने ब्राह्मण महोदय के सब प्रश्नों का शास्त्र-सम्मत प्रत्युत्तर दिया। क्योंकि अब उसे श्रीगुरु की कृपा से अमोघ-बुद्धि एवं ज्ञानशक्ति संप्राप्त थी ॥३२॥

दिव्यशक्तिं गुरोर्दृष्ट्वा नतः श्रीगुरुपादयोः ।
ब्राह्मणः सोऽपि शिष्योऽभूत् सतः शान्तिपदं गतः ॥३३॥

श्रीगुरु की अलौकिक-शक्ति एवं बुद्धिमत्ता को देख कर, वह ब्राह्मण, उनके चरणों में झुक गया और उनका शिष्य बन कर, अन्त में शान्ति-पद को पा गया ॥३३॥

नृपोप्येवं तदा दृष्ट्वा गुरोर्लीलां विलक्षणाम् ।
पूर्णशक्तिं गुरुं ज्ञात्वा नतो दण्डसमं ततः ॥३४॥

राजा (जयसिंह) ने भी यह सब चमत्कार देखा, तो वह उन्हें

पूर्णशक्तिमान्, सर्वसमर्थ गुरु जान कर पुनः दण्डवत्, साष्टांग प्रणाम करने लगा ॥३४॥

इन्द्रप्रस्थं गतो देवस्ततो ये तन्निवासिनः ।
आगतिं श्रीगुरोःश्रुत्वा नताः पादारविन्दयोः ॥३५॥

फिर वे (श्रीगुरु) दिल्ली में जा पहुंचे। उनका आगमन सुनकर वहां के सभी शिष्य लोग आ आकर गुरुचरणों पर लोट-पोट होने लगे ॥३५॥

दुःखितानां च यद्दुःखं दर्शनेनैव वारितम् ।
सर्ववृत्तमिदं श्रुत्वा गताः सर्वेऽपि दुःखिनः ॥३६॥

श्रीगुरु के दर्शन-मात्र से ही दुःखी-जनों के सब दुःख दूर हो गये। यह चर्चा सुन-सुना कर, इधर-उधर से, अन्य भी दुःखी लोग उनके सामने जा जहुंचे और सुख पाने लगे ॥३६॥

इन्द्रप्रस्थं च निर्दुःखं कृतं देवन सर्वतः ।
कथा चैषा श्रुता सर्वैर्म्लेच्छराजादिभिस्तदा ॥३७॥

इस प्रकार उन्होंने, दिल्ली निवासियों को परम सुख पहुंचाया। उनकी यह चर्चा सभी, यवनों एवं यवन-राजा ने भी सुनी ॥३७॥

ततश्चान्तःपुरं स्वीयं गतो राजा सतासमम् ।
पट्टराज्ञ्या परीक्षार्थं कृता काचिद्विडम्बना ॥३८॥

फिर राजा (जयसिंह) उन्हें अपने अन्तःपुर में ले गया। वहां उसकी बड़ी रानी ने, परीक्षा के लिये कुछ आत्म-प्रदर्शन किया ॥३८॥

पुष्पयष्टिप्रहारेण त्यक्त्वा सर्वाबलाजनम् ।
पट्टराज्ञ्या असावङ्के निजमातुरिव स्थितः ।।३९।।

उसने फूलों की एक माला उन पर फैंकते हुए, कुछ आकर्षण का भाव प्रकट किया। तब अन्य सभी रमणियों से अलग-सी खड़ी हुई पटरानी को उदात्त भाव से देख कर, श्रीगुरु आये और उसकी गोदी में बैठ गये, कि जैसे वे अपनी माता की गोदी में बैठा करते थे ॥३९॥

लालितश्च तया देव्या नानारत्नैश्च पूजितः ।
शिष्यभावं गतः सर्वः श्रीगुरोरबलागणः ॥४०॥

उनके सुख-स्पर्श से भावपरिवर्त हुआ, तो उस देवी ने भी पुत्र की भांति ही उनको दुलारा और स्नेह सरसाया। फिर अनेक मणि-रत्नों की भेंट चढ़ा कर, उनकी पूजा की। तब सभी राजाङ्गनाएं उनकी शिष्या बन गईं ॥४०॥

गतो राजसभां राजा राजराजमथो कथाम् ।
श्रावमामास देवस्य शुक्लकीर्तिप्रकाशिकाम् ॥४१॥

फिर राजा (जयसिंह) बादशाह की सभा में गया और उसने वहां श्रीगुरु की उदीयमान-उज्वल-कीर्तिका गौरव-पूर्ण वर्णन किया ॥४१॥

तां च श्रुत्वा नृपेन्द्रोऽसौ रामरायमुवाच ह।
लघुभ्राता त्वदीयोपि जातःसिद्धशिरोमणिः ॥४२॥

श्रीगुरु की कीर्ति-कथा को सुन कर, बादशाह (औरङ्गजेब) ने रामराय से कहा, कि लो, अब तुम्हारा छोटा-भाई भी सिद्ध-राज बन गया है ॥४२॥

कोपयुक्तो बभूवासौ गिरं श्रुत्वाय तादृशीम् ।
प्राह भूपं भवेदेवं शीतलाभक्ष्य एव सः ॥४३॥

बादशाह से, छोटे भाई की गुरु-महिमा सुन कर, रामराय क्रोध से लाल-पीला हो गया । तब उसने बादशाह को सुनाया, कि हां, ऐसा ही सही, पर वह (श्रीगुरु) है अवश्य शीतला (रोग विशेष) का ही भोजन ॥४३॥

शापघोरमिमं श्रुत्वा कम्पिताः सकला जनाः ।
अप्रसन्नश्च भूपोपि राजदारादिकं तथा ॥४४॥

रामराय के उग्र-शाप-वचनों को सुन कर, सभी समझदार व्यक्ति भय से कांप उठे । राजा (जयसिंह) और उसका परिवार, अत्यन्त दुखी हुआ ॥४४॥

गुरुर्वृत्तमिदं श्रुत्वा सुप्रसन्नो बभूव ह ।
परं चाह मुखाद्देवः शिष्यसंघे गिरामिमाम् ॥४५॥

श्रीगुरु, यद्यपि इस शाप से प्रसन्न ही रहे, परन्तु फिर भी उन्होंने अपने शिष्य-समुदाय में यह स्पष्ट-घोषणा कर दी ॥४५॥

चित्तशान्तिश्च सिद्धिश्च सन्ततिश्चेति न त्रयम् ।
सत्यदोषेऽपराधित्वादितस्तस्य भविष्यति ॥४६॥

मन की शान्ति, सिद्धि-शक्ति और सन्तान-सुख, ये तीनों बातें उसे (रामराय को) प्राप्त नहीं होंगी । क्योंकि वह सत्य में वृथा-दोषरोपण का महापराधी है ॥४६॥

ततः किंचिद्गते काले शीतलावेशतो गुरुः ।
तनुं त्यक्तुं मनश्चक्रे शिष्यसंघ उवाच ह ॥४७॥

उसके कुछ ही समय के पश्चात् वे शीतला-रोग से आक्रान्त हुए और उन्होंने अपना शरीर छोड़ना चाहा। तब उनके शिष्यों ने प्रार्थना की ॥४७॥

सद्गुरोद्य दयासिन्धो दीनबन्धो विधीयताम् ।
आश्रयः शिष्यवर्गस्य को भविष्यति हे प्रभो ॥४८॥

हे दीनबन्धु, दयालु, गुरुदेव, कृपा कर हम लोगों को इतना तो सहारा दीजिये, कि आप के बाद, अब हमारा कौन संरक्षक होगा ? ॥४८॥

इदं श्रुत्वोक्तवानेष गुप्तवाक्यमतन्द्रितः ।
बकालये भवेद्बावा गुरो मौनमनन्तरम् ॥४९॥

अपने शिष्य-वर्ग की विनीत-प्रार्थना सुन कर, उन्होंने गुप्त-रीति से केवल इतना ही संकेत दिया, कि "बकाला में एक बावा विराजमान हैं।" बस, यह कह कर, वे सदा के लिए मौन हो गये ॥४९॥

वैराग्यं गताः शिष्या गुरुं दृष्ट्वाथ तादृशम् ।
कालिन्द्यास्तु तटं गत्वा कृता सर्वैर्गुरोः क्रिया ॥५०॥

श्रीगुरु की उस चिरमौनदशा को देख कर, शिष्य लोग उदास हो गये। फिर यमुना-तट पर जाकर, उन्होंने उनकी यथाविधि उत्तर-क्रिया सम्पन्न की ॥५०॥

॥ तेरहवां विश्राम समाप्त ॥



चतुर्दशो विश्रामः

योऽसौ श्रीरघुनाथनामनिरतो वैराग्यमूर्तिः स्वयम् ।
योगाभ्यासविलीनमानसतया नैवान्यवस्तुस्पृहा ॥
यस्यास्ति ध्रुवमीदृशं गुरुवरं श्रीत्यागबहादुरम् ।
वन्दे सिद्धशिरोमणिं भवहरं मायाप्रपंचात्परम् ॥१॥

चौदहवां विश्राम प्रारम्भ

श्रीराम के नाम-ध्यान में सदा मग्न, वैराग्यमूर्त्ति, योगाभ्यास में ही दृढ़-रुचि से सांसारिक-सुख से पराङ्मुख, सिद्धों के अग्रणी, माया से अछूते, जगतारक, गुरुवर श्रीत्यागबहादुर को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥१॥

सदा वैराग्ययुक्तस्य गुरोर्लीला निगद्यते ।
चेतसि श्रूयमाणा या वैराग्यमुपपादयेत् ॥२॥

अब वैराग्य-मूर्ति, श्रीगुरु त्यागबहादुर की जीवन-लीला का वर्णन

किया जाता है। जिसके सुनने से अवश्यमेव मन में विराग-भावना का उदय हो जाता है ॥२॥

श्रुतं सर्वेषु देशेषु जनैर्वृत्तमिदं गुरोः ।
बकालयं गताः सर्वे धीरमल्लादयस्तदा ॥३॥

सब जगह शिष्यों ने भावि-गुरु की पहचान की बात सुनी, तो वे सब धीरमल्ल प्रभृति के साथ २ बकाला में पहुंच गये ॥३॥

द्वाविंशति श्च मंचानां तत्र जाताथ सोढिनाम् ।
स्वस्य स्वस्य गुरुत्वं वै तेह्यमन्यन्त सर्वथा ॥४॥

वहां सोढ़ी जाति के क्षत्रियों के बत्तीस मण्डल (घराने) थे, जो अपनी २ जगह पर, स्वयमेव गुरुपद के उम्मीदवार बने हुए थे ॥४॥

व्यापारी माखनाख्यश्च कोपि सद्गुरुसेवकः ।
आगतः श्रीगुरुं द्रष्टुं जनैर्बहुभिः समन्वितः ॥५॥

"माखन" नाम का एक गुरुभक्त-व्यापारी भी अनेक-साथियों के साथ, श्रीगुरु के दर्शनार्थ वहां आया हुआ था ॥५॥

दीनाराणां सहस्रन्तु प्रतिज्ञातं हृदार्पितुम् ।
गुरौ मयाथ किं कुर्यामिति चिन्तां चकार सः ॥६॥

उसने मानसिक-संकल्प कर रक्खा था, की श्रीगुरु के चरणों में एक हजार-स्वर्ण-मुद्राएं भेंट करूंगा। परन्तु वहां सोढ़ियों के प्रपंच को देख कर वह बड़े असमंजस में पड़ गया, कि अब किसे क्या दूं ? ॥६॥

द्वयंद्वयंददे चैभ्भो गुरुर्योसौ ग्रहीष्यति ।
स्वयं सर्वांश्च नैवं चेत्तदा ज्ञेयं न गौरवम् ॥७॥

फिर उसने दो २ मोहरें सभी नाम-मात्र के गुरुओं को भेंट कीं और मन में संकल्प किया, कि इनमें जो कोई सत्य में गुरु होगा, वह स्वयमेव शेष मोहरों को भी लेलेगा । वरना, इनका सारा भेद खुल जाएगा और कोई गौरव न रहेगा ॥७॥

इति मत्वा तथा चक्रे गुरुभावो न निश्चितः ।
उदासीनमना भूत्वा प्राह कंचिद्धि मानवम् ॥८॥

ऐसा करने पर भी उसे गुरु का ठीक २ पता नहीं चला । तब उसने उदास होकर किसी आदमी से पूछा ॥८॥

सोढिवंशोद्भवश्चैभ्यो वर्ततेऽन्योपि नात्र वा ।
अस्ति चास्मिन् गृहे साधो प्राह श्रुत्वा तमेव सः ॥६॥

कि 'भाई, क्या इन नकली-गुरुओं के अतिरिक्त और भी कोई व्यक्ति, सोढि-वंश में उत्पन्न हुआ, इस जगह पर मिलेगा ?" यह सुन कर उस आदमी ने उसे (शाहूकार को) विश्वास पूर्वक कहा, कि हां एक मनुष्य ऐसा है, जो अमुक घर में रहता है ॥६॥

तत्रगत्वा च नत्वा च मातरं प्राह माखनः ।
मातः पूजां करिष्यमि कुत्र पुत्रस्त्वदीयकः ॥१०॥

तब माखन (व्यापारी) ने वहां जाकर माता (नानकी-द्वितीया) को नमस्कार कर, प्रार्थना की, कि हे माता, आप का पुत्र (त्यागबहादुर)

कहां है ? मैं उसकी पूजा के लिए आया हूं ॥१०॥

मूकवद्वर्तते पुत्रो गच्छ साधो गृहान्तरे ।
इदं मातृवचः श्रुत्वा दृष्टवानथ सद्गुरुम् ॥११॥

तब माता (नानकी-द्वितीया) ने कहा कि "भद्र, घर के अन्दर चले आओ और वह देखो, बेटा (त्यागबहादुर) मौनी बना हुआ, चुपचाप एक ओर पड़ा है।" यह सुन कर वह (माखन) अन्दर गया और उसने उसी तरह आसीन सद्गुरु को देखा ॥११॥

मुद्राद्वयं पुरो धृत्वा कृता दण्डसमा नतिः ।
प्राह देवस्तमालोच्य देहि सर्वं मदर्थकम् ॥१२॥

उसने उनके आगे भी दो मोहरें उपहार-रूप में रक्खीं और दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तब उसकी ओर देख कर श्री त्यागबहादुर ने कहा, कि हे साधु, शेष मोहरें भी दे दो, जो तुम मेरे निमित्त ही लाये हो ॥१२॥

दत्तवांश्च वचः श्रुत्वा कोष्ठोपरि जगाम सः ।
गुरुर्लब्ध इदं वाक्यं सर्वशिष्यानुवाच सः ॥१३॥

उनके वचनानुसार उसने सहर्ष सारी स्वर्ण-मुद्रायें उन्हें समर्पित कर दीं। तब वह छत्त पर चढ़ कर, चारों ओर, जोर २ से आवाज देने लगा, कि हे शिष्य लोगो, आओ, मैंने श्रीगुरु को ढूण्ड लिया है ॥१३।

आगता वाक्यमाकर्ण्य कृता पूजाखिलैर्जनैः ।
श्रुतं वृत्तमिदं सर्वं धीरमल्लेन सोढिना ॥१४॥

उसकी यह सुखकर-वाणी सुन २ कर शिष्य लोग वहां दौड़े आये और श्रीगुरु महाराज की सबहुमान पूजा करने लगे। यह चर्चा धीरमल्ल सोढ़ी ने सुनी तो... ... ॥१४॥

उपद्रवं यथाकारि तेन जानाति सर्वतः।
शिष्यवर्गस्तथावृत्तं माखनस्य च शूरताम् ॥१५॥

उसने बहुत-कुछ विघ्न-बाधाएं डालीं। परन्तु माखन ने भी डट कर उन सब को बेकार कर दिया। इस सारे वाद-विवाद को शिष्य-संप्रदाय भलीभांति जानता है ॥१५॥

माखनेन गुरोर्यात्रा यथा जाता सुधाशये।
पूजकेभ्यो यथा शापः स्त्रीभ्यश्चापि वरो यथा ॥१६॥

फिर माखन के साथ श्रीगुरु (त्याग बहादुर) की अमृतसरयात्रा, वहां के पुजारियों को शाप-दान और सेविकास्त्रियों को वरदान...॥१६॥

बकालये पुनर्यात्रा तथा नन्दपुरप्रथा।
ग्रन्थयात्राविपाशायामेतदप्यतिरोहितम् ॥१७॥

वहां से पुनः "बकाला" में प्रत्यागमन, "आनन्दपुर" की प्रस्थापना, विपाशा (व्यासा) नदी पर "ग्रन्थ-साहब" की शोभायात्रा आदि सभी घटनाएं, अनुयायीवर्ग को मालूम हैं ॥१६॥

माखो नामा महायक्षो यस्मिन्देशे बभूव ह।
तत्रैव गुरुदेवेन कृतं चारुपुरं तदा ॥१७॥

जिस प्रदेश में "माखो" नामक, उपद्रवकारी-यक्ष का आवास था, वहीं पर, श्रीगुरु ने "आनन्दपुर" को बसाया ॥१८॥

गुरोराज्ञानुसारेण गतो यक्षो दिगन्तरम् ।
बहुकालमुवासात्र गुरुदेवोथ बन्धुभिः ॥१६॥

श्रीगुरु की आज्ञा से वह "यक्ष" कहीं दूसरी जगह पर चला गया । तब उन्होंने बहुत काल तक उस नव-प्रस्थापित पुर में सपरिवार निवास किया ॥१६॥

प्रेषिता धीरमल्लेन रामरायस्य सम्मुखे ।
पत्रिकात्र विषादाय स्वीयनिन्दाप्रदर्शिका ॥२०॥

फिर समय - प्रतिकूल हुआ जान कर, धीरमल्ल (श्रीगुरु हरिराय के छोटे भाई) ने रामराय (श्रीगुरु हरिकृष्ण के बड़े भाई) को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने अपनी मानहानि और गुरुपद-अप्राप्ति का रोना रोया था ॥२०॥

अस्मदीयं पदं सूनो गतं यत्र न योग्यता ।
इत्यादिवाक्यसम्बद्धा रामरायस्य रोचिका ॥२१॥

उसने विरोध-पत्र में लिखा कि "हे प्यारे बेटा, हमारा गुरुपद अब ऐसे व्यक्ति को मिला है, जिसमें तनिक योग्यता नहीं है ।" ऐसी २ बहुत-सी चापलूसी की बातें लिखकर, उसने वह पत्र रामराय को खुश करने के लिये, उसके पास भिजवाया ॥२१॥

पठित्वा सोपि राजानं प्राह कोपविवर्धकम् ।
वाक्यजातमथो वच्मि गुरोर्वृत्तं यथोचितम् ॥२२॥

रामराय ने वह पत्र पढ़ा और अपने बादशाह को सारी बात सुना कर, क्रोधित करने की चाल चली। अस्तु, अब प्रसंगतः श्रीगुरु का इतिवृत्त वर्णन किया जाता है ॥२२॥

उषित्वानन्दपुरे रम्ये गतो देवोथ जङ्गलम् ।
पावनाय च शिष्याणाम्परिपाटी सतामियम् ॥२३॥

आनन्दपुर में सुखपूर्वक निवास करने के बाद, श्रीगुरु जङ्गल (कुरुजाङ्गल-पंजाब-प्रान्त) में विचरण करने लगे। उनकी यह यात्रा, शिष्यों को सदुपदेश द्वारा, उपकृत करने की क्रियामात्र थी, जो कि सत्पुरुषों की स्वाभाविक-चेष्टा बन जाती है ॥२३॥

धमधानाख्य पुरे तत्र मातृवागनुसारतः ।
वरं चाह सिंहं देवो वारिसेवासु तत्परम् ॥२४॥

'धमधान' नाम के गांव में जाकर, श्रीगुरु ने अपनी माता की शुभाज्ञा से "सिंह" नाम के सेवक को, सुख-समृद्धि पाने का वरदान दिया। वह सेवक वहां "जलपान" की सेवा में निरन्तर व्यस्त रहता था ॥२४॥

कृत्वाथ पावनं देशं गतःपूर्वदिशं प्रति ।
तीर्थराजस्थले स्थित्वा काशिकां गतवानसौ ॥२५॥

उस देश (पंजाब) को पवित्र कर, वे पूर्व की ओर चल पड़े और प्रयाग में कुछ समय टिकने के बाद, काशी में जा पहुंचे ॥२५॥

पाटलीपुत्रमायातस्ततो देवोतिपावनम् ।
तत्र गोविन्दसिंहस्य गुरोर्जन्म बभूव ह ॥२६॥

वहां से वे पटना में चले गये। पटना के पवित्र-स्थन पर ही उनके घर, भावि-गुरु श्रीगोविन्द सिंह का शुभ-जन्म हुआ ॥२६॥

विष्णुसिंहा भिधश्चैको राजपुत्रो बभूव ह।
इन्द्रप्रस्थपतिः प्राह तं प्रतीतिवचोनघम् ॥२७॥

वहां "विष्णुसिंह" नाम का एक राजपुत्र, राज-प्रशासक था। उसे विश्वासी-कर्मचारी समझ कर, दिल्लीश्वर (औरंगजेब) ने ऐसा आदेश दिया कि......॥२७॥

कामरूपस्य देशस्य जयः कार्यस्त्वयाधुना।
तन्निशम्य गृहीतोसिस्तेन वीरेण मानिना ॥२८॥

"तुम अब कामरूप (आसाम-प्रदेश) पर विजय-प्राप्त करो" बादशाह की आज्ञा पाते ही, उस वीर ने हाथ में तलवार उठा ली ॥२८॥

पितामहस्य शूरोसौ दशां ज्ञात्वाथ कम्पितः।
प्राह नारी स्वकीया तं गच्छ शीघ्रं गुरूत्तमम् ॥२९॥

परन्तु तत्क्षण ही उसे अपने दादा की अतीत-दशा का दुःखान्त स्मरण हो आया। तब वह भय से कांप उठा। यह देख कर उसकी स्त्री ने कहा, कि हे पतिदेव, तुम धैर्य रक्खो, और श्रीगुरु की सेवा में जाओ ॥२९॥

पाटलीपुत्र आसीनं दीनं बन्धुमनुत्तमम्।
इदं श्रुत्वा वचस्तस्या गतः श्रीगुरुसन्निधौ ॥३०॥

वे पटना में विराजमान हैं। बड़े साधु, दीनहितू और प्रण के धनी हैं। पत्नी की बात सुन कर, विष्णुसिंह श्रीगुरु की सेवा में चला गया ॥३०॥

प्राह वृत्तं निजं राजा नतिं कृत्वातिपूजया।
त्वया सार्धं गमिष्यामि प्राह श्रुत्वाथ सद्गुरुः ॥३१॥

उसने बड़े सम्मान से श्रीगुरु की, वन्दना, अर्चना की और फिर अपनी समया का हल पूच्छा। श्रीगुरु ने उसकी सारी कठिन-कथा सुन कर, आश्वासन दिया, कि प्रिय, मैं स्वयं तेरे साथ चलूंगा ॥३१॥

तन्त्रभीति र्न कर्तव्या जयस्तावद्भविष्यति।
त वको विष्णुसिंहाशु सत्यनामप्रभावतः ॥३२॥

उस प्रदेश के "तान्त्रिक-प्रयोगों" से मत घबराओ। अरे, तुम "विष्णुसिंह" हो। "सत्यनाम" के पुण्य-प्रताप से तुम्हारी विजय होगी ॥३२॥

गुरोर्वाक्यमिदं श्रुत्वा नतः पादारविन्दयोः।
अहो देवाद्य गन्तव्यं प्राह भूपःसुशीतलः ॥३३॥

उनकी अभय-वाणी सुनकर, वह राजवीर, पुनः उनके चरणों पर नतमस्तक हुआ और सुशीलता से बोला, हे देव, आज ही विजय-प्रस्थान कर दीजिये ॥३३॥

स्यात्तथेति वचश्चोक्त्वा निजं सर्वं गृहाश्रमम्।
स्थापयित्वाथ तत्रैव प्रस्थितो गुरुसत्तमः ॥३४॥

एवमस्तु, कहकर, श्रीगुरु ने अपने परिवार को वहीं पर सुरक्षित ठहराया और स्वयं उस राजवीर के साथ चल पड़े ॥३८॥

कामरूपं गतो देवो विष्णुसिंहेन संयुतः ।
कारयित्वा जयं तस्य स्वीयं धाम समागतः ॥३५॥

वीरवर विष्णुसिंह के साथ, कामरूप (आसाम) की ओर जाकर उन्होंने यथाशीघ्र उसे विजय-लाभ करवाया और फिर अपने आवास की ओर आगये ॥३५॥

शिष्यभावं गतो राजा गुरोः पादारविन्दयोः ।
प्रभोराज्ञानुसारेण निजं देशं जगाम सः ॥३६॥

तब वह राजपुत्र (विष्णुसिंह) उनकी शिष्यता स्वीकार कर, चरणों में नतमस्तक हुआ और उनसे आज्ञा पाकर, अपने देश को चला गया ॥२६॥

स्वल्पकालं तु तत्रैव गुरुःस्थित्वाथ मातरम् ।
प्राह गच्छाम्यहं देशं शिष्यसङ्घस्य तारणे ॥३७॥

कुच्छ दिन वहां (पटना में) टिकने के वाद, श्रीगुरु ने अपनी माता से निवेदन किया, कि अब मैं अपने जन्म-स्थान (पंजाब) में जाकर, शिष्यों को सदुपदेश देने का सत्कार्य संपन्न करूंगा ।।३७॥

मातोवाच —ः पुत्र यत्रास्ति दुष्टानां मेलनं नृपनीचता ।
तत्र साधो न गन्तव्यं मातुरेतद्धि सम्मतम् ॥३८॥

माता ने कहा, हे पुत्र, जहां पर दुष्ट-दल एवं निकृष्ट-राजा का कुप्रभाव हो, ऐसे स्थान पर नहीं जाना चाहिये। माता का (मेरा) यही सद्विचार है ॥३८॥

अत्रापि गुरुशिष्याणां वर्तते प्रीतिरुत्तमा।
दुष्टसङ्गोऽपि नैवास्ति मातुरेतद्धि सम्मतम् ॥३९॥

इस स्थान पर भी शिष्यों का पर्याप्त समुदाय है। साथ ही कोई दुर्जन-सङ्ग भी नहीं है। शिष्य लोग गुरु में पराप्रीति एवं श्रद्धा रखते हैं। इसलिये यहीं टिकना चाहिये। माता का (मेरा) यही सद्विचार है ॥३९॥

श्रीगुरुरुवाच —: धर्मरक्षां करिष्यामि तत्र गत्वा न संशयः
वार्तया वा शिरो दत्वा शिविराजदधीचिवत् ॥४०॥

श्रीगुरु ने कहा, हे जननी, मैं अपने-देश (पंजाब) में जाकर धर्म-रक्षा करूंगा। सदुपदेश, अपनी संस्कृति-सभ्यता के संचार और यदि आवश्यकता हुई तो शिरोदान से भी धर्म-कर्म की सदा सेवा करूंगा। जैसे शिविराज और दधीचि ने की थी ॥४०॥

शिरोदानेन हे मातः पूर्वपुण्यं विनंक्ष्यति।
म्लेच्छराजस्य तन्नाशे तस्य राज्यं विनंक्ष्यति ॥४१॥

मेरे शिर के बलिदान से, यवनराज (बादशाह) का पूर्वकृत पुण्य नष्ट होगा। उसके नाश से फिर उसका राज्य भी समाप्त हो जायेगा ॥४१॥

सत्यनामोपदेशाच्च धर्मवृद्धिर्भविष्यति ।
अयं पौत्रस्त्वदीयोपि धर्मत्राता भविष्यति ॥४२॥

दुष्ट-शत्रुओं के अभाव में, सत्यनाम का सुन्दर उपदेश, निर्विघ्न होगा और उससे धर्म की अभिवृद्धि होगी। मेरे पश्चात् तुम्हारा यह पौत्र (श्रीगोविन्दसिंह) भी धर्म-रक्षा करेगा ॥४२॥

अस्य रक्षाऽथ कर्तव्या तव सेवां करिष्यति ।
मातुलोप्यस्य साधुः स्यात्सर्वरक्षां करिष्यति ॥४३॥

इस बालक की दत्तचित्त होकर सुरक्षा करना। यह अवश्य ही तुम्हारी सेवा करेगा। इसका मामा भी साधु-पुरुष है। वह भी सब बन्धुओं की यथेष्ट देखभाल करेगा ॥४३॥

अहमानन्दपुरं गत्वा स्वल्पकालादनन्तरम् ।
प्रेषयिस्ये जनं कंचिदानेतुं भवतः खलु ॥४४॥

मैं आनन्दपुर में जाकर, जल्दी ही अपने सेवक को यहां भेजूंगा, जो आप सबको वहां ले जाएगा ॥४४॥

ईदृशं चोपदेशं स नतिं कृत्वाथ मातरम् ।
सर्वतो रक्षयित्वा च गतो नैजं पुरं गुरुः ॥४५॥

इस प्रकार अपनी माता को समझा-बुझा कर, श्रीगुरु ने उनके चरण छुए और सब परिवार की सुरक्षा की सुव्यवस्था कर, अपने निवास-स्थान की ओर प्रस्थान किया ॥४५॥

श्रीगुरोरागतिं श्रुत्वा शिष्यसङ्घाः समागताः ।
काबुलीयाश्च गान्धारा मद्रदेशाश्रिताश्च ये ॥४६॥

आनन्दपुर में उनके आगमन-संवाद को सुन कर, काबुल, गान्धार, पंजाब भर के सब शिष्य लोग वहां आने लगे ॥४६॥

पूजयामासुरेनं ते नानोपायनपाणयः ।
उपदेशं चकारासौ यथा देवान् वृहस्पतिः ॥४७॥

सब शिष्यों ने मिलकर, अनेक तरह के उपहार-पदार्थ भेंट कर, उनकी पूजा की। तब उन्होंने यथासमय उन्हें सदुपदेश किया। उस समय की शोभा, ठीक वैसी ही थी, कि जैसे सुर-गुरु (वृहस्पति) देवता-शिष्यों को शिक्षा दे रहे हैं ॥४७॥

बन्धुवर्गं समानेतुं प्रेषितः कोपि मानवः ।
गुरोराज्ञानुसारेण गतःपूर्वदिशं च सः ॥४८॥

फिर उन्होंने अपने परिवार को ले आने के लिए, अपने एक सेवक को नियुक्त किया। वह आज्ञाकारी-सेवक, तुरन्त ही पूर्व की ओर (पटना में) चल पड़ा ॥४८॥

काश्मीरस्य च विद्वांसो ब्राह्मणा गुरुसन्निधौ ।
आगता धर्मरक्षार्थं प्रार्थनामथ चक्रिरे ॥४९॥

उसी समय काश्मीर के विद्वान् ब्राह्मण, धर्म-रक्षा के लिए, उनकी सेवा में उपस्थित हुए और प्रार्थना करने लगे ॥४९॥

पण्डिता ऊचु :—: श्रीगुरो म्लेच्छराजेन धर्मनाशो विधीयते ।
शिखासूत्रादि तच्चिन्हं ह्रियते तेन नित्यशः ॥५०॥

पण्डितों ने कहा, हे गुरुवर, म्लेच्छराज (औरंगज़ेब) हमारे धर्म का सर्वनाश करता जा रहा है । वह प्रतिदिन हमारे अनगिनत शिखा-सूत्रों (धर्मचिन्ह, चोटी और जनेऊ) को बलपूर्वक कटवा-तुड़वा रहा है ॥५०॥

भवन्मूर्ति विना कोपि दृश्यते न च वारकः ।
शास्त्रदृष्ट्या कृपासिन्धो तस्य दुष्टशिरोमणेः ॥५१॥

हे दयालु, आपके बिना और कोई हमें नहीं दीखता, जो उस दुष्ट-बादशाह को, शास्त्र-दृष्टि पूर्वक, धर्म-नाश के कुकृत्य से हटा सके ॥५१॥

श्रीगुरुरुवाच—: शान्तिमार्गेऽभवत्प्रीतिरादिदेवस्य सद्गुरोः ।
सर्वमेतन्मृषा ज्ञात्वा रज्जुसर्पखपुष्पवत् ॥५२॥

श्रीगुरु बोले :—, भले लोगो ? यद्यपि हमारे आदिगुर (श्रीनानक) ने, इस असार-संसार को, रस्सी में सांप की भ्रांति की भान्ति भ्रमात्मक एवं आकाश के फूल की तरह सर्वथा मिथ्या जानकर, शान्तिमार्ग (वेदान्तमत) में ही आस्था रक्खी थी ॥५२॥

अतोस्माकं न कर्तव्यं किंचिदस्ति तथाप्यहो ।
शिरोदानं करिष्यामि सर्वधर्मस्य हेतवे ॥५३॥

इसलिए तदनुयायी हम को भी ऐरे-गैरे झूठे झगड़ों से कोई सरोकार

नहीं है। परन्तु धर्म के संरक्षण के लिये तो मैं अपना सिर भी बलिदान करूंगा ॥५३॥

सति चैवं तु गोविन्दः कोपयुक्तो भविष्यति ।
ततश्चावश्यमेवासौ सिंहवेषं करिष्यति ॥५४॥

मेरे सिर के बलिदान से, निश्चित है कि वीर गोविन्द क्रोधयुक्त होगा। तब वह अवश्य ही नर-सिंह रूप को धारण करेगा ॥५४॥

सिंहवेषाच्छनैर्धीरा दुष्टनाशो भविष्यति ।
प्रारब्धं च विलीयस्त्वाद्विनाभोगं न नश्यति ॥५५॥

उसके उग्र-नृसिंह-रूप बनने से क्रमशः दुष्ट-दुश्मनों का विनाश होगा। क्योंकि उनका (शत्रुओं का) भी कोई पूर्व-कृत-पुण्य (दैव प्रारब्ध) है, जो भोग कर ही समाप्ति पा सकेगा ॥५५॥

अतः शीघ्रं भवद्भिश्च वक्तव्यं नृपसन्निधौ ।
आर्यवर्यं गुरुं राजन्नानय स्वमते श्विति ॥५६॥

इसलिये आप लोग, उस यवन-बादशाह को साफ २ कह दो, कि "अरे, तुम पहले हमारे श्रेष्ठ-गुरु (त्यागबहादुर) को अपने धर्म (मुस्लिम मत) में प्रविष्ट करो" ॥५६॥

अहं तत्रापि गच्छामि स्वल्पकालादनन्तरम् ।
स्वयं धर्मस्य रक्षाया इत्यमन्यन्त ते न तत् ॥५७॥

"मैं स्वयमेव, कुछ दिनों के बाद, धर्म-रक्षा के हेतु, वहां (दिल्ली

में) जाने का विचार रखता हूं।" श्रीगुरु के इस परामर्श को, उन काश्मीरी-पण्डितों ने स्वीकार नहीं किया ॥५७॥

नयं चैतन्न वक्ष्यामः स्वस्य निन्दाप्रवर्तकम् ।
वाक्यजातं तु ते प्राहुरवेमेव परस्परम् ॥५८॥

वे लोग आपस में सलाह करने लगे, कि इस प्रकार हम अपनी निन्दात्मक-प्रवृत्ति को नहीं अपनायेंगे और ना ही बादशाह को ऐसा कुमन्त्र पढ़ायेंगे, जिससे आर्य-गुरु का अनिष्ट हो ॥५८॥

नतिं कृत्वा गता विप्राः स्वीयं स्वीयं गृहं प्रति ।
श्रीगुरोश्च गुणग्रामं वर्णयन्तः परस्परम् ॥५९॥

फिर उन्होंने श्रीगुरु को प्रणाम कर, अपने २ घर की ओर प्रस्थान किया। राह में वे मुक्तकण्ठ से उनकी गुणावली का बखान करते जाते थे ॥५९॥

उद्देश्येन च रक्षाया आर्यधर्मस्य सद्गुरुः ।
कुरुक्षेत्रादिमार्गेण गतो देवः शनैः शनैः ॥६०॥

तब श्रीगुरु ने स्वधर्म-रक्षा के सदुद्देय से कुरुक्षेत्र प्रभृति पुण्य-क्षेत्रों के मार्ग से, धीरे २ दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया ॥६०॥

इतो राजा कुमन्त्र्याद्यैः प्रेरितः स्वीयचारकान् ।
प्रेषयामास देशेषु गुर्वन्वेषणहेतवे ॥६१॥

इधर बादशाह (औरङ्गजेब) ने भी अपने दुष्ट-मन्त्रियों की सलाह पर चल कर, बहुत-से गुप्तचरों को, इधर-उधर देशों में तैनात कर दिया, कि वे आर्य-गुरु को ढूण्ड कर लायें ॥६१॥

गुरुदेवोपि संप्राप्य जयन्तीस्थानमागरम् ।
ततः प्राप्य निजात्मानं सूचयामास मानवान् ॥६२॥

उधर श्रीगुरु, चलते २ आगरा के "जयन्ती" स्थान पर पहुंचे और वहां उन्होंने अपने आप को सब के सम्मुख प्रकट कर दिया ॥६२॥

आगरागारिशिष्याणां कृतं भव्यं तथा सति ।
राजकीयजनैः साकं चेन्द्रप्रस्थं जगाम सः ॥६३॥

आगरावासी अपने शिष्यों को शुभ-दर्शन एवं सुन्दर-उपदेश देकर उन्होंने कृतकृत्य कर दिया और तदनन्तर वे राज-कर्मचारियों के साथ दिल्ली में चले गये ॥६३॥

दर्शनीया त्वयासिद्धिर्नतिं कृत्वाह भूपतिः ।
गुरुं प्राहाथ तं देवो मूढ नैतद्भविष्यति ॥६४॥

वहां पहुंचने पर, बादशाह ने, उन्हें नमस्कार (सलाम) कर कहा, कि "मुझे अपनी कोई सिद्धि (चमत्कार) दिखाओ।" इस पर श्रीगुरु ने प्रत्युत्तर दिया, कि रे मूर्ख, वह मेरा काम नहीं है ॥६४॥

तदा शून्यगृहे राज्ञा स्थापितो गुरुसत्तमः ।
महाप्रेतश्च तत्रासीत् सोपि रात्रौ समागतः ॥६५॥

इस करारे प्रत्युत्तर से बिगड़ कर बादशाह ने, अपने एक पुराने ढर्रे-से निर्जन-भवन में, उन्हें ठहरा दिया। दैवयोग से उस शून्य-सदन में कोई प्रेत भी बसता था, जो रात को वहां आ पहुंचा ॥६५॥

गुरुं दृष्ट्वा सुचित्तोभूदिक्षुदण्डादि पावनम् ।
दत्तवांश्च ततः प्राह प्रभो आज्ञा विधीयताम् ॥६६॥

श्रीगुरु के अद्भुत-दर्शन कर, वह प्रेत (पिशाच) साधु-स्वभाव बन-गया और उसने गन्ना आदि शुद्ध-पदार्थ लाकर, उन्हें आहार के लिए दिये । फिर वह सादर निवेदन करने लगा, कि हे देव, अन्य कोई सेवा बतलाईये ? ॥६६॥

प्रेतयोनिरियं दुष्टा यया नश्येत्तु सेवया ।
सैव सेवाथ वक्तव्या नीच दासाय सद्गुरो ॥६७॥

हे सद्गुरु, लेरी यह निकृष्ट-प्रेत-योनि, जिस सेवा-कार्य से छूट जाये, कृपया वैसा ही सत्कार्य करने की आज्ञा कीजिए । मैं एक नीच सेवक हूं ॥६७॥

श्रीगुरुरुवाच —: म्लेच्छराजस्य साधो त्वं निजसिंहासने सदा ।
भ्रष्टानां चातिशुष्कानां कुरु वर्षामुपानहाम् ॥६८॥

श्रीगुरु ने कहा, हे प्रिय, तुम बादशाह (औरंगजेब) के राज-सिंहासन पर, लगातार टूटे-फूटे, रूखे-सूखे, जूतों की वर्षा किया करो ॥६८॥

इत्थं श्रुत्वा तथाकारि गुरोराज्ञानुसारतः ।
तेन जातोथ लोकेषु महाकोलाहलस्तदा ॥६९॥

उनकी आज्ञा पाकर, उसने वैसा ही करना आरम्भ किया । तब जन-समाज में सब जगह, उस कर्म की चर्चा चलपड़ो कि अरे, राज-गृह में यह क्या अनर्थ होने लगा है ॥६९॥

दुष्टजना ऊचुः— तन्त्रविद्याप्रवीणोयं भिक्षुको दृढ़बन्धनम् ।
राजराजास्य कर्तव्यं तदा नैवं भविष्यति ॥७०॥

दुष्ट लोगों ने कहा, हे नृपराज, मालूम होता है, कि यह भिखारी (श्रीगुरु) कोई जादूगर है । आप इसे बांध कर कड़ी सजा दें, फिर यह (जूता-वृष्टि) उपद्रव नहीं होगा ॥७०॥

इवं श्रुत्वा तथा चक्रे म्लेच्छराजोतिमूढधीः ।
गुरोराज्ञानुसारेणाभवद् वर्षाथ सौकरी ॥७१॥

उन दुष्टों की सलाह से बादशाह ने, मूर्खतावश, श्रीगुरु को बन्दी बना दिया । तब उनकी आज्ञा से वहां उस प्रेत द्वारा सुअर-वृष्टि होने लगी ॥७१॥

हाहाकारस्तदा जातो म्लेच्छराशौ समन्ततः ।
राजराजस्य सामीप्ये घुघुंरेति रवोभवत् ॥७२॥

उस सुअर-वर्षा से तमाम यवन-समाज में हाहाकार मच गया । बादशाह के आस-पासभी सुअरों का "घुर्र-घुर्र" शब्द होने लगा ॥७२॥

सत्प्रपत्ति गतः शीघ्रं त्रस्तचित्तोथ भूपतिः ।
प्राह देवं विमुच्याशु किं प्रतिज्ञा विमुञ्चिता ॥७३॥

इस परेशानी से घबरा कर, वह स्वयं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और बन्धन-मुक्त कर उन्हें उपालम्भ देने लगा, कि अपनी प्रतिज्ञा को क्यों छोड़ दिया ? ॥७३॥

अस्मदीयं मतं मत्वा सद्गुरो कुरु पावनम् ।
मामपीति वचः श्रुत्वा चाह नैवं भविष्यति ॥७४॥

"मेरा कहा मानो और मेरे मत (मुस्लिम-धर्म) में शामिल होकर मुझे तथा मेरे अनुयायियों को भी सुधारो।" इस पर श्रीगुरु ने पुनः प्रतिवाद किया, कि नहीं, यह कभी नहीं होगा ॥७४॥

त्वदीयस्यैव यक्षस्य कर्मचेदं न मामकम् ।
स्वीयमोक्षस्य सिद्ध्यर्थं कृतस्तेन ममादरः ॥७५॥

और सुनो, मुझे उपालम्भ क्यों देते हो, यह सब उपद्रव तुम्हारे यक्ष द्वारा किया गया है। मेरा इसमें कोई चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। इस यक्ष ने अपने उद्धार के लिये मेरा मान-सम्मान अवश्य किया है, यह सत्य हैं ॥७५॥

स्वस्य सिद्धिप्रकाशं नो करिष्यामीति मामकी ।
सत्प्रतिज्ञेति न त्यक्ता ह्युपालम्भः किमुच्यते ॥७६॥

इस लिये "अपनी कोई सिद्धि न दिखलाने की" मेरी पूर्व-प्रतिज्ञा यथावत् सुदृढ़ हैं। तुम नाहक क्यों मुझ पर यह दबाव डाल रहे हो ? ॥७६॥

सोपि भक्तिप्रभावेन स्वयं मुक्तो गमिष्यति ।
अद्य रात्रौ न कर्तव्या त्वयाभीतिः पिशाचतः ॥७७॥

और, अब तो भक्ति के सुप्रभाव से यह यक्ष भी, इस नीच-योनि से छूट कर, यहां से चला जायेगा। तुम निश्चिन्त रहो, आज

रात को तुम्हारे सिर पर कोई जूता-प्रहार या अन्य प्रकार का उपद्रव नहीं करेगा ॥७७॥

अस्मदीयं मतं चास्य श्रूमतामथ चोत्तरम् ।
स्वस्य धर्मं परित्यज्य किं करिष्यति तावकम् ॥७८॥

तुम ने जो कहा कि मेरे धर्म का ग्रहन करो, सो मैं पूछता हूं कि अपने धर्म का परित्याग कर देने पर, मुझे तेरा धर्म क्या लाभ दे सकता है, कुछ नहीं ॥७८॥

पूर्वधर्मंप्रभावेन त्वया राज्यं हि भुज्यते ।
पापकर्मंप्रभावेन तस्य नाशो भविष्यति ॥७९॥

तुम भी तो अपने पूर्व-जन्म के धर्म-कर्म के बल पर ही अब राज-भोग कर रहे हो। परन्तु अब पापकर्मों के प्रभाव से अवश्य ही तेरा धर्म-बल नष्ट हो जायेगा ॥७९॥

तस्य नाशे तवापि स्याद्राज्ययुक्तस्य नाशनम् ।
प्राप्स्यति राज्यभारं ते सुतो गोविन्दवाक्यतः ॥८०॥

बस, धर्म-बल के विनाश से राजभोग सहित तुम्हारा भी सर्वनाश हो जायेगा। तब गोविन्द (मेरे सुपुत्र) के कथनानुसार तेरा पुत्र, तुम्हारा उत्तराधिकारी बनेगा ॥८०॥

आदिदेववरस्यापि ततः पूर्तिर्भविष्यति ।
ततः सिंहा भविष्यन्ति गुरुदेवेन निर्मिताः ॥८१॥

इस प्रकार हमारे आदिगुरु (श्रीनानक देव) के वरदान की सत्योक्ति पूर्ण होगी। तब गुरु (श्रीगोविन्द सिंह) के अनुयायी शिष्य, सिंह-रूप बन जाएंगे ॥८१॥

धर्मयुद्धे प्रवीणास्ते म्लेच्छानामभिभावकाः।
तेषु पापे प्रवृत्ते तु मीनतेजो भविष्यति ॥८२॥

धर्मयुद्ध में निपुण सिंह-रूप शिष्य, सब म्लेच्छों पर आक्रान्ता बन कर टूट पड़ेंगे। यवनों के पापमय-जीवन बन जाने से ही, फिर एक मीन-जाति के लोगों का कुछ उत्कर्ष बढ़ेगा ॥८२॥

मीनजातिस्त्वदीयानामपि मूलं खनिष्यति।
ततो मीनेषु सिंहानां प्रधानत्वं भविष्यति ॥८३॥

वह मीन-जाति भी तुम्हारे अनुयायियों के मूल-नाश का कारण बनेगी। तत्पश्चात् उस पर सिंहों का प्रशासन होगा ॥८३॥

धर्मस्यैव जयोराजन्नचाधर्मस्य कर्हिचित्।
निष्कर्षो मम वाक्यानांमयं ज्ञेयो न चेतरः ॥८४॥

हे राजन्, धर्म ही विजयी होता है, अधर्म कभी नहीं। बस, इतना ही मेरे कहने का निष्कर्ष है, और कुछ नहीं ॥८४॥

इवं श्रुत्वागतो मूढ़ो नैव मेने तु चेतसा।
रावणस्य यथा वृत्तं तथैवास्य न संशयः ॥८५॥

श्रीगुरु की सारगर्भित वाणी को सुनकर भी उस मूर्ख बादशाह ने कोई ध्यान नहीं दिया और क्रोध से युक्त वहां से चला गया। तब रावण की तरह उसका भी भयानक अन्त होने लगा ॥८५॥

आगतश्च ततो रात्रौ प्रेत आह गुरूत्तमम् ।
किं प्रभोथ मया कार्यं ब्रूहि देवाविलम्बतः ॥८६॥

फिर रात को वह प्रेत आकर बोला, हे गुरुदेव, आज्ञा कीजिये, कि अब मुझे क्या काम करना होगा ? ॥८६॥

गच्छ मोक्षं न कर्तव्यं वर्ततेद्य तु तेऽनघ ।
सत्यनामप्रभावेन प्राह देवः कृपाकरः ॥८७॥

श्रीगुरु ने कहा, हे निष्पाप, अब तुम इस प्रेतयोनि से मुक्त हो जाओ। कोई कर्तव्य करने का नहीं है। सत्यनाम के पुण्यप्रताप से तुम शुद्ध हो गये हो ॥८७॥

इदं श्रुत्वा गतःशीघ्रं निजं रूपं सनातनम् ।
प्रेत भावं परित्यज्य सतामेतद्धि पौरुषम् ।८८॥

यह सुनते ही उसका प्रेता भाव छूटा और पूर्वरूप प्राप्त हुआ। अहो, संतो का बल-पौरुष सर्वदा अमोघ-प्रभावकारी होता है ॥८८॥

प्रेतमोक्षं नृपः श्रुत्वा सुप्रसन्नो बभूव ह ।
मते स्वीये प्रवेशाय प्रेषयामास मानवम् ॥८९॥

उसके मोक्ष की चर्चा सुन कर बादशाह अतिप्रसन्न हुआ। किन्तु उसने श्रीगुरु को अपने धर्म में लाने के लिये पुनः अपना विशिष्ट-व्यक्ति भेजा, जो तुरन्त वहां आ पहुंचा ।।८९।।

श्रीगुरुरुवाच :— व्यत्यासे सूर्यचन्द्रादेरपि नैवं भविष्यति ।
सूकरोद्योभवद्भिः स्यात्तदाप्येवं न युज्यते ।।९०।।

श्रीगुरु ने कहा, अरे, सूर्य, चांद, ग्रह, नक्षत्र आदि भले ही अपने स्थान से विचलित हो जायें, परन्तु मैं नहीं फिरूंगा। तुम लोग सुअर खाकर भी ऐसा कहो, तो भी मैं अपना धर्म नहीं छोड़ूंगा, कभी नहीं छोड़ूंगा ।।९०।।

इदं श्रुत्वातिकुप्तोभून्नृपो दुष्टो निरंकुशः ।
दृढं चाथ गुरोश्चक्रे हस्तपादादिबन्धनम् ।।९१।।

यह प्रतिवाद सुन कर, बादशाह क्रोध से खलबला उठा और उसने उनके हाथ-पाओं में कड़ी-बेड़ियां डलवा दीं ।।९१।।

इदं दृष्ट्वा मतीदासश्चाह देवमिदं वचः ।
गुरो शीघ्रमहं कुर्यामिन्द्रप्रस्थविपर्ययम् ।।९२।।

श्रीगुरु का यह अपमान देख कर शिष्य मतिदास ने उनसे कहा, कि हे देव, यदि आप कहें, तो मैं सारी दिल्ली को उलट कर रख दूं ।।९२।।

कुतः शक्तिरिति प्रश्ने गुरोरुच्छिष्टभक्षणात् ।
इति प्राह न चैवं भोस्त्वया कार्यं ममाज्ञया ।।९३।।

श्रीगुरु ने पूछा, "तुम्हें इतनी शक्ति कहां से मिली ?" वह बोला, आपके उच्छिष्ट-भक्षण से। तब उन्होंने उसे समझाया, कि नहीं, तुम ऐसा न करो, बस, यही मेरी आज्ञा है ॥६३॥

इदमुक्त्वा लिलेखासौ गुरुगोविन्दसम्मुखे ।
बलं नष्टं ममेत्यादि प्रेषितं शिष्यपाणिना ॥६४॥

मतिदास को समझा-बुझा कर, श्रीगुरु ने अपने सुपुत्र श्रीगोविन्द सिंह को एक पत्र लिखा और शिष्य द्वारा भिजवा दिया। उसमें उन्होंने लिखा" कि अब मेरा बल नष्ट हो गया है, ...इत्यादि ॥६४॥

पाटलीपुत्रमायातो लखनौरं मतान्तरे ।
सता दृष्ट्वाथ पत्रं तन्मस्तकान्ते समर्पितम् ॥६५॥

वह पत्रवाहक (शिष्य) पत्र लेकर, पटना अथवा लखनऊ में पहुंचा। श्रीगोविन्द सिंह ने पत्र को देखकर माथे से लगा लिया ॥६५॥

पत्रिकेयं परीक्षार्थं प्रेषिता गुरुसत्तमैः ।
प्राह देवश्चिदानन्दे कथं बिह्वलता भवेत् ॥६६॥

फिर वे गम्भीर-विचार करने लगे, कि यह पत्र, उन्होंने (श्रीगुरु ने) मेरी परीक्षा के बहाने से भेजा है। परन्तु वे स्वयं आनन्द-स्वरूप, परम सिद्ध-महात्मा हैं, उनमें व्याकुलता का लेशमात्र नहीं हो सकता ॥६६॥

एवमेवानुचिन्त्याशु प्रेषयामास पत्रिकाम् ।
बलं जातं तवेत्यादि वाक्यमेकं लिलेख ह ॥६७॥

पर्याप्त विचार-विमर्श के वाद उन्होंने प्रत्युत्तर में लिख भेजा, कि हे सद्‌गुरु, आपका बल जागृत है,...... इत्यादि......॥९७॥

तां च दृष्ट्वा प्रसन्नोभूदिन्द्रप्रस्थे गुरूत्तमः ।
पुत्रज्ञानस्य गाम्भीर्यं स्वयं ज्ञात्वा समन्ततः ॥९८॥

उनकी जबावी-चिट्ठी को पढ़ कर, श्रीगुरु दिल्ली में रहते हुए भी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने सुपुत्र की बुद्धि-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥९८॥

गुरुगोविन्दसिंहश्च प्राह गच्छामि मातरम् ।
शूरवीरप्रकारेण गुरोर्देशं न संशयः ॥८९॥

उधर श्रीगोविन्द सिंह ने अपनी माता से कहा, कि अब मैं वीर-वेश धारण कर, श्रीगुरु के देश (पंजाब) को प्रस्थान करता हूं ॥९९॥

ततो देवः परीक्षार्थं पूर्वदेशनिवासिनः ।
प्राह शिष्यान् गृहीतव्यं शस्त्रजातं ममाज्ञया ॥१००॥

तब उन्होंने पूर्व की ओर रहने वाले अपने शिष्यों से कहा, कि "अब तुम लोग, मेरा कहा मानो और हथियार ग्रहण करो ॥१००॥

मेनिरे न यदा शीघ्रं तदायातो गुरोःपुरम् ।
मात्रादिबन्धुसंयुक्तो वीरवेषसमन्वितः ॥१०१॥

जब उन शिष्यों ने इन्कार किया तब वे (श्रीगोविन्द सिंह) जल्दी ही अपने कुटुम्ब को साथ लेकर, वीर-वेश धारण कर, श्रीगुरु के पवित्र-स्थान पर आगये ॥१०१॥

प्रेषितश्च तदा शिष्य इन्द्रप्रस्थपुरं प्रति ।
तत्र गत्वा स नत्वा च प्राह वृत्तं गुरूत्तमम् ॥१०२॥

वहां से उन्होंने अपने एक शिष्य को, दिल्ली में श्रीगुरु की सेवा में भेजा । वह शीघ्र ही वहां गया और वन्दना कर सारा सामयिक समाचार श्रीगुरु को सुनाने लगा ॥१०२॥

सुप्रसन्नो बभूवासौ गुरुः श्रुत्वा समागतिम् ।
नालिकेरादि दत्वा च प्रेषितःस च सेवकः ॥१०३॥

उस सेवक से, श्रीगोविन्दसिंह के अपने गुरु स्थान पर आगमन को सुन कर, श्रीगुरु अति प्रसन्न हुए । उन्होंने नारियल आदि मंगल-फल देकर, उस सेवक को विदा किया । १०३॥

इन्द्रप्रस्थपतिर्मूढः पुनः प्राहाथ सद्गुरुम् ।
गुरुभावं मदीयं भो दुर्लभं किं न मन्यसे ॥१०४॥

दिल्लीपति (औरंगजेब) ने मूर्खतावश पुनःश्रीगुरु को अपने-मत में लाने पर जोर दिया कि मेरे आचार्य-पद को क्यों ठुकराते हो, यह बड़ा दुर्लभ है ? ॥१०४॥

निजांकन्यां तु दास्यामि शिष्यो भूत्वाथ सेवनम् ।
प्रतिनित्यं करिष्यामि संशयो नात्र युज्यते ॥१०५॥

एक बार स्वीकार तो करो, मैं अपनी बेटी को तुम्हारे लिये अर्पण कर, स्वयं भी शिष्य बन कर' हररोज सेवा करूंगा । हां, यह सत्य समझो ? ॥१०५॥

श्रीगुरुरुवाच —: सूकरं भक्षयित्वा चेद्वक्ष्यसीदं तदोत्तरम् ।
वक्ष्यामो वान वक्ष्यामः प्रश्नस्यास्य न संशयः ॥१०६॥

श्रीगुरु ने कहा, अरे, तुम सुअर खाकर भी ऐसा कहोगे, तो भी मैं इस प्रश्न का उत्तर दूं अथवा न दूं। यह मेरी अपनी इच्छा है। इसे सत्य जानो ॥१०६॥

प्राह श्रुत्वा स हन्तारं दग्धो भूत्वा विनानलम् ।
पंचशिष्यैः सहैवास्य शिरश्छित्वाश्वमानय ॥१०७॥

यह कोरा जबाव सुन कर, बादशाह बिना आग के जल-भुन गया। उसने अपने अनुयायी बधिक (कसाई) को आदेश दे दिया, कि तुम इस (गुरु) के पांच शिष्यों सहित, सब के सिर काट कर, कल मेरे सामने लाओ ॥१०७॥

इदं ज्ञात्वा तु ते शिष्याः कम्पिता गुरुसन्निधौ ।
आह देवोथ रात्री तान् गम्यतां भो निजेच्छया ॥१०८॥

यह कठोर-आदेश सुन कर शिष्यों को भय से कंप-कंपी लग गई। तब रात के समय श्रीगुरु ने कहा, कि तुम लोग इच्छानुसार यहां से जा सकते हो ॥१०८॥

शिष्याऊचु :— हस्तपादादि बद्धं नो कारागृहमिदम्पुनः ।
यन्त्रितं राजभृत्याश्चबहिःस्था नः कथङ्गातेः ॥१०९॥

शिष्य बोले, हे देव, हमारे हाथ-पाओं बंधे हुए हैं। यह जेल का स्थान है, जो चारों ओर से बन्द है। बाहिर भी आस-पास राज-

पुरुष (सिपाही) खड़े हैं। ऐसी दशा में हम कहां, कैसे, कब, यहां से जा सकते हैं ? ॥१०६॥

गम्यतां भो न विघ्नः स्यात्कोपि वाचा मदीयया ।
इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं गताश्चत्वार एव ते ॥११०॥

श्रीगुरु ने कहा, "अरे, तुम लोग मेरी वाणी पर विश्वास कर, चले जाओ। रास्ते में कोई विघ्न-बाधा न होगी।" यह आज्ञा पाकर चार शिष्य वहां ले चलते बने ॥११०॥

आह शिष्टो न गच्छामि गुरुं त्यक्त्वा कदाप्यहम् ।
एतत्यागो हि जीवानां घोरसंसारकारणम् ॥१११॥

पांचवें शिष्य ने कहा, कि मैं कभी श्रीगुरु को छोड़ कर नहीं जाऊंगा। श्रीगुरु का त्याग, जन्म-मरण के चक्र में ही घूमते रहने का कारण बन जाता है ॥१११॥

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मैश्रीगुरवे नमः ॥११२॥

श्रीशिवजी के कुपित हो जाने पर, श्रीगुरु देव, साधक (शिष्य) के संरक्षक होते हैं। परन्तु श्रीगुरु के क्रुद्ध हो जाने पर कोई भी रक्षा नहीं करता। श्रीगुरु ही परम-ब्रह्म-रूप हैं, उन को सदा २ अनन्त प्रणाम ॥११२॥

इत्यादि शिष्टवाक्यानि वेदमूलानि सन्ति हि ।
गुरोर्मानं महत्वेतत्तस्य त्यागो न युज्यते ॥११३॥

इत्यादि शिष्ट-वचन, वेदानूकूल ही हैं। श्रीगुरु का सम्मान, महत्व, गौरव आदि अकथनीय हैं। इसलिये उनका (गुरु का) परित्याग करना सर्वथा अनुचित है ॥११३॥

दशां तस्यावलोक्याह शिष्य धन्यास्ति ते मतिः।
गुरुदेवोथ शिष्यं तं प्राह शिक्षान्तरं वरम् ॥११४॥

उस (पांचवें) शिष्य की उपर्युक्त दशा को देख कर, श्रीगुरु ने कहा, कि "हे प्रिय, तुम धन्य हो, मतिमान् हो।" फिर उन्होंने उसे अन्य उपयोगी शिक्षा दी ॥११४॥

आगमिष्यत एवात्र द्वे विमाने तु पावने।
तयोश्चैकं समारुह्य प्राप्स्यामि परमं पदम् ॥११५॥

उन्होंने उसे समझाया, कि दो, देव-विमान यहां आएगे। एक पर चढ़ कर, मैं परम-पद-प्राप्ति के लिये अमरलोक में चला जाऊंगा और......॥११५॥

त्वया चैकं समारुह्य ह्युत्तमाङ्ग-मदीयकम् ॥
प्रापणीयं गुरुस्थाने तव सेवेति शिष्यते ॥११६॥

दूसरे विमान पर, मेरे बलिदान-रूप शिर को लेकर, तुम सवार होना और उसे अपने गुरुस्थान पर पहुंचा देना। तेरी यह गुरु-सेवा अभी शेष है ॥११६॥

ततः किंचिद्गते काले मत्समीपमवाप्स्यसि।
लोकचर्चा कुचर्चा स्याद्यदीदानीं गमिष्यसि ॥११७॥

उसके कुछ समय के पश्चात् तुम भी मेरे पास (अमरधाम) आ जाओगे। परन्तु यह सब किये बिना, बीच में ही यदि तुम चले जाओगे (भागोगे) तो इस लोक और परलोक में भी तुम्हारी घोर-निन्दा होगी ॥११७॥

प्राह शिष्य इवं श्रुत्वा सत्यवाक्यं गुरूदितम् ।
भवेज्जाताथ वेलापि गुरोः स्नानस्य पावनी ॥११८॥

श्रीगुरु की शुभ-शिक्षा को सुन कर, उस शिष्य ने कहा, हे देव, मैं ऐसा ही करूंगा ।, अब आप स्नान-पानी करें। समय हो गया है ॥११८॥

यदा स्नानं कृतं पुण्यं जपपाठादिकं पुनः ।
तदा जातः प्रकाशो वै सूर्यकोटिप्रभोपमः ॥११९॥

जब स्नान, पूजा, पाठ, जप आदि नित्य-कर्म समाप्त हुआ तो श्रीगुरु के आस-पास अनन्त-सूर्यों के समान प्रकाश फैल गया ॥११९॥

विष्णुरुद्रादिदेवांश्च स्वीयशक्तिसमन्वितान् ।
तत्र लीलावतारांश्च दृष्टवानथ सद्गुरुः ॥१२०॥

उस प्रकाश में श्रीगुरु ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, उनकी शक्तियों एवं अन्य राम, कृष्ण, आदि अवतारी-स्वरूपों के दर्शन पाये ॥१२०॥

आगते च विमाने द्वे तयोरेकत्र सद्गुरुः ।
स्थापयामास शिष्येण शिरोनैजं स्वपाणिना ॥१२१॥

फिर वहां दो देव-विमान आये। एक पर श्रीगुरु ने अपने हाथ से बलिदान किये शिर को, शिष्य द्वारा रखवाया। शिष्य भी बैठा ॥१२१॥

देहत्यागश्च तत्रैव कृतो म्लेच्छस्य नाशने ।
द्वितीयं तु समारुह्य निजं धाम जगाम सः ॥१२२॥

अपने तन को वहीं (दिल्ली में) त्याग दिया, जिससे म्लेच्छों का विनाश सम्भव था । तब आत्माराम वे दूसरे विमान पर विराजमान होकर अपने अमरधाम को चले गये ॥१२२॥

अगतं च गुरुस्थाने विमानस्थं शिरो यदा ।
ठीकरेत्यादि वाक्यां तूच्चारयामास सद्गुरुः ॥१२३॥

जब शिष्य द्वारा सुरक्षित, विमान पर संस्थित, श्रीगुरु का शिर अपने गुरुस्थान पर पहुंचा, तो सद्गुरु (श्रीगोविन्द सिंह) ने "ठीकर" इत्यादि गुरुवाणी का पाठ पढ़ा ॥१२१॥

देहदाहश्च तत्रैव कृतः शिष्यैर्यदा पुनः ।
तदैवात्रापि सर्वज्ञः शिरोदाहं चकार ह ॥१२४॥

फिर जिस समय पर दिल्ली में दिवंगत सद्गुरु के शरीर का दाह-संस्कार, शिष्यों ने किया । उसी समय पर गुरुस्थान पर उनके शिर का भी दाहसंस्कार, सर्वज्ञ श्रीगुरु गोविन्दसिंह ने किया ॥१२४॥

इवं कृत्वा कृतं सर्वं गुरोः कर्म समन्ततः ।
विप्राश्च तृप्तिमापन्ना ध्वनिं वेदस्य चक्रिरे ॥१२५॥

दाह-संस्कार के पश्चात्, उन्होंने दिवंगत सद्गुरु का शास्त्रोक्त सब उत्तरकर्म किया । उस ससय आचार्य-ब्राह्मणों ने सन्तोष पूर्वक वेद-पाठ किया ॥१२५॥

शिष्टा ऊचुः— महाधन्योस्ति धन्योस्ति त्यागबह्वादरो गुरुः ।
धर्मरक्षा यतो जाता को भविष्यति तादृशः ॥१२६॥

सभ्य जनों ने कहा, श्रीगुरु त्यागबहादुर धन्य हुए, महान् धर्मोद्धारक हुए । उनके द्वारा जो धर्म-रक्षा हुई है, वैसा उदाहरण मिलना कठिन है ॥१२६॥

दृष्टान्तो धर्मरक्षायामयं जातो गुरूत्तमः ।
अन्यथा धर्मनाशे हि दृष्टान्तोयं न संशयः ॥१२७॥

वे शिर बलिदान कर, धर्मरक्षा का ज्वलन्त उदाहरण बन गये । यदि ऐसा न करते, तो सम्भवतः इसके विपरीत, धर्मनाश का ही दृष्टान्त दे जाते ? ॥१२७॥

॥ चौदहवां विश्राम समाप्त ॥



पंचदशो विश्रामः

यो वै शक्तिमनादिदेवशरणामारध्य चक्रे स्वकम् ।
पन्थानं निखिलारिपुञ्जदमनं दीनैकरक्षापरम् ।
त्यक्त्वा सर्वमुपाधिमन्तसमये लीनः परे ब्रह्मणि ।
वन्दे तं जगदीशरूपमजरं गोविन्दसिंहं गुरुम् ॥१॥

पन्द्रहवां विश्राम प्रारम्भ

सब देवताओं की शरणभूता, अनादि शक्ति श्रीभवानी की आराधना कर, अपने पन्थ को, शत्रु-विजयी एवं दीन-रक्षक बना कर, अन्त समय पर, सब माया-उपाधियों को त्याग कर, परं ब्रह्म ज्योति में विलीन, अजर, अमर, जगदीश-स्वरूप, श्रीगुरु गोविन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥१॥

गुरुगोविन्दसिंहस्य श्रूयतामथयद्वरम् ।
यशोधर्मस्य रक्षायै सन्मार्गस्य प्रवर्तनात् ॥२॥

अब श्रीगुरु गोविन्द सिंह की यशो-गाथा सुनिये, जिनकी श्रेष्ठकीर्ति, धर्म-मार्ग की सुरक्षात्मिका होने से, सदा २ के लिए स्मरणीया बन गई है ॥२॥

सिन्धुमद्रादिदेशेभ्यः शिष्यसंघाः समागताः ।
काबुलीयाश्च गान्धारा जंगलादिनिवासिनः ॥३॥

उनके गुरुपद पर आसीन होने पर, सिन्ध, पंजाब, काबुल, गांधार, कुरू-जांगल आदि प्रदेशों के शिष्य लोग वहां आ पहुंचे ॥३॥

पूजयामासुरेनं ते मन्यमाना महेश्वरम् ।
शस्त्रविद्योपदेशं तान् गुरुश्चक्रे निरन्तरम् ॥४॥

उन सब शिष्यों ने, श्रीगुरु गोविन्द सिंह का ईश्वरोपम आदर-सत्कार कर पूजन किया । तब श्रीगुरु ने उन्हें सामयिक शस्त्रविद्या का उपदेश दिया ॥४॥

भीमचन्द्रादिभिः साकं कृतं युद्धं परीक्षणे ।
भंगाणी नामके ग्रामे शिष्यसंघस्य चादिमम् ॥५॥

फिर उन्होंने वीरता की सुपरीक्षा केलिए "भंगाणी" नामक गांव में, स्वयं अपने शिष्य, भीमचन्द्र प्रभृति से प्रथम युद्धाभ्यास किया ॥५॥

पावटे च ततः स्थित्वा कृता ग्रन्थस्य निर्मितिः ।
देशमेकान्त माश्रित्य विश्रान्तिश्च कृपालुना ॥६॥

निदौणनामके ग्रामे ततो युद्धं चकार ह ।
भीमचन्द्रादिरक्षार्थं सतां ह्येषा कृपालुता ॥७॥

तत्पश्चात् उन्होंने "निदौण" गांव में, भीमचन्द्र आदि वीर शिष्यों की सुरक्षा के लिये युद्ध करते हुए, अपनी दयालुता प्रकट की ॥७॥

उद्वाहत्रितयं जातं ततः पुत्रचतुष्टयम् ।
ततः शक्तिप्रसिध्द्यर्थं महोत्साहं चकार ह ॥८॥

तदनन्तर क्रमशः उनके तीन विवाह हुए, जिसके फलस्वरूप यथा समय चार पुत्रों का शुभ-जन्म हुआ । फिर उन्होंने शक्ति (देवी) सिद्धि के लिये विशेष-उत्साह से प्रयत्न किया ॥८॥

याचितो ज्येष्ठपुत्रो हि बलिदानाय शक्तये ।
नैव दत्तो यदा मात्रा तदा शापं स दत्तवान् ॥९॥

भगवती चण्डी को बलिप्रदान के हेतु उन्होंने अपने बड़े बेटे को चुना । परन्तु उसकी माता ने उसे नहीं दिया । तब उन्होंने उसे शाप दे दिया ॥९॥

प्रादुर्भूता यदा देवी कृता पूजा यथोचिता ।
सता शक्त्या तदा दत्तः स्वीयखड्गः स्वपाणिना ॥१०॥

तीव्र-साधना से जब शक्ति-माता साक्षात् प्रकट हुईं, तो उन्होंने उपयुक्त-साधनों से (आत्म-समर्पण से) उनकी पूजा की, जिससे सुप्रसन्न होकर, भगवती ने अपनी तलवार उन्हें उपहार में दी ॥१०॥

तत्स्पृष्टेन जलेनासौ शिष्यमूर्धाभिषेचनम् ।
गुरुश्चक्रेथ शिष्येषु क्षात्रधर्मः समागतः ॥११॥

उस दिव्य खड्ग के स्पर्श से प्रभावोत्पादक जल से सींचे हुए मस्तक वाले गुरु-शिष्यों में अद्भुत-क्षात्र-भाव पैदा हो गया ॥११॥

धर्मसिंहौदयासिंह तत्र मुख्यौ चकार ह ।
सात्विके सात्विकौ मत्वा राजसे सति राजसौ ॥१२॥

तब उन्होंने सब शिष्यों में से चुनकर, धर्मसिंह व दयासिंह को मुख्य-वीर माना । उन दोनों में यह विशेषता थी, कि वे सत्व-वृत्तिवालों से शान्त और रजोगुणी-मनुष्यों से उग्र-व्यवहार करने में कुशल थे ॥१२॥

मसंदानामथो वृत्तं यथा जातं तथोच्यते ।
नटेभ्योनुकृतिं दृष्ट्वा तेषु कोपं चकार सः ॥१३॥

उस वीर-निर्माण काल में मसन्द-जाति के लोगों का जैसा व्यवहार रहा, उसका यथोचित वर्णन किया जाता है कि उन नटुओं की नक्ल करने की प्रवृत्ति से खिन्न होकर, श्रीगुरु ने उन पर क्रोध किया ॥१३॥

तानाहूयाथ देशेभ्यो निर्णीयाथापि योग्यताम् ।
ददौ दण्डं मसन्देभ्योनुग्रहं च चकार ह ॥१४॥

श्रीगुरु ने सब ओर से उन लोगों को बुला कर, उनकी योग्यता-पात्रता आदि का सुनिर्णय किया और दण्डनीय को दण्ड एवं दयायोग्य को क्षमा कर दिया ॥१४॥

फेरुर्भक्ति परां दृष्ट्वा सुप्रसन्नो गुरूत्तमः ।
प्राह चैनं समागच्छ सर्वसंगतिमावह ॥१५॥

गुरुभक्त 'फेरु' की दृढ़भक्ति से, वे बड़े खुश हुए। उन्होंने उसे प्रसन्नता-पूर्वक वरदान दिया, कि हे प्रिय, तुम सब की संगति में रहो। अर्थात् सब तुम्हें प्रिय मानें और तुम भी सब को स्नेही जानो ॥१५॥

ततो युद्धं नृपैः साकं गुरोर्जातं भयानकम् ।
किंचिन्निमित्तमासाद्य मृता सेना तदीयिका ॥१६॥

उसके बाद कुछ राजाओं से मतभेद के विशेष-कारणों से, उनका भयानक युद्ध छिड़ गया। उसमें शत्रु-पक्ष की सारी सेना मारी गई ॥१६॥

इन्द्रप्रस्थं ततो गत्वा प्राहुरेवं महीपतिम् ।
भूभृदेको गुरुर्जातः क्षात्रंधर्मं बभार सः ॥१७॥

तब पराजित-राजाओं ने दिल्ली में जाकर, बादशाह से दीन-विनय की कि हे स्वामी, एक और गुरु प्रकट हुआ है, जिसने वीर-व्रत (क्षात्र-धर्म) को अपना लिया है ॥१७॥

अस्मदीया प्रभो सेना हता तेन मनस्विना ।
अतो जानीम एवं स इन्द्रप्रस्थं विजेष्यति ॥१८॥

हे मालिक, हमारी भारी-सेना को, उस वीर शिरोमणि ने मार गिराया है। इससे हम समझते हैं, कि वह दिल्ली को जीत लेगा ॥१८॥

धनुर्विद्याप्रवीणत्वे रामचन्द्रो द्वितीयकः ।
अतः शीघ्रं हि कर्तव्यः प्रतीकारस्तदीयकः ॥१६॥

वह वीरवर, धनुर्विद्या में परमनिपुण, दूसरा रामचन्द्र ही है। इसलिए आप यथाशीघ्र ही उसे अंकुश में लायें ॥१६॥

कम्पितः स वचः श्रुत्वा प्राह भूयोथ सैन्यपम् ।
सैदखानाथ गन्तव्यं जयं कृत्वा तमानय ॥२०॥

कायर राजाओं के सभय-वचनों को सुनकर बादशाह का हृदय हिल गया। तब उसने अपने सेनापति से कहाः कि सैदखान, तुम जाओ और जीत कर उसे (श्रीगुरु को) यहां लाओ ॥२०॥

सैंदखान इदं श्रुत्वा लक्षसेनासमन्वितः ।
गुरोर्देशं तदा गत्वा महायुद्धं चकार ह ॥२१॥

बादशाह की आज्ञा पाकर, सैदखान (यवन-सेनाध्यक्ष) ने एक लाख सेना को साथ लिया और श्रीगुरु के इलाके में जाकर घोर-संग्राम छेड़ दिया ॥२१॥

स्वल्पां सेनां गुरोर्दृष्ट्वा निजां सेनां महत्तराम् ।
जयं चापि गुरोर्दृष्ट्वा सिद्धोयमिति बुद्धवान् ॥२२॥

उसने युद्ध करते २ अनुभव किया, कि मेरी भारी-फौज को, गुरु की थोड़ी-सी सेना हरा कर विजय पा रही है। इससे स्पष्ट है कि यह (गुरु) कोई सिद्ध-महापुरुष है ॥२२॥

द्वन्द्वं युद्धं ततो जातं संदखानेन सद्गुरोः ।
सुप्रसन्नो बभूवासौ तस्य दृष्ट्वाथ पौरुषम् ॥२३॥

फिर उसने श्रीगुरु के साथ द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ किया । तब उनके अद्भुत-बल विक्रम को देख कर, वह अति प्रसन्न हुआ ॥२३॥

आह देवो वरं ब्रूहि प्राह श्रुत्वा स आत्मधीः ।
गुरो देया तथैवास्तु प्राहं सैवं गुरूत्तमः ॥२४॥

प्रसन्नता से युद्ध-विरत उसे देखकर श्रीगुरु ने कहा, "अरे, कोई वर चाहो तो, मांग लो ।" यह सुन कर उसने कहा, हे सद्गुरु यदि कुच्छ देना है, तो आत्मा-बुद्धि (ज्ञानोपदेश) दे दीजियौ तब श्रीगुरु ने उसे स्वीकार कर लिया ॥२४॥

इदं विश्व यतो जातं ब्रह्म विद्धि तदेव हि ।
अयं जीवो यदल्पज्ञं दृश्यते संद चेतनम् ॥२५॥

उन्होंने कहा, हे संदखान, यह सारा संसार जिससे पैदा हुआ है, उसे ब्रह्म और स्वल्प-शक्तिमान्-सा लगने वाला चेतन ही यह जीव है, ऐसा समझो ॥२५॥

विनोपाधिद्वयं साधो विद्यते न भिदा चितोः ।
तदेवाहमिति ज्ञात्वा नैव केनाप्यसौ वदेत् ॥२६॥

परन्तु चेतन ब्रह्म और चेतन जीव में भेद का कारण, केवल उपाधि, माया अथवा अज्ञान ही है । ज्ञान द्वारा उसका संविनाश होने

पर, मैं वही ब्रह्म हूं, यह जानकर, प्रबुद्ध-पुरुष किसी से वृथालाप नहीं करता ॥२६॥

आत्मबुद्धिरियं ज्ञेया सा च भक्तिमपेक्षते ।
विना भक्तिं हरेः साधो ज्ञानयोगकथा वृथा ॥२७॥

इसे ही "आत्म-बुद्धि" कहा जाता है। परन्तु इस को भी भक्ति की अपेक्षा रहती है। श्रीप्रभु-भक्ति के बिना कोरे ज्ञान व योग की चर्चा निष्फल ही होती है ॥२७॥

इमं श्रुत्वोपदेशं स गतः पूर्वमहद्गतिम् ।
आह चैनं नतिं कृत्वा वनं गच्छामि सद्गुरो ॥२८॥

यह सत्योपदेश सुन कर, सैदखान, पूर्व-संस्कार-वश महात्मागति का अनुभव कर बोला, हे सद्गुरु, आप को नमस्कार है, मैं अब वन में चला जाऊंगा ॥२८॥

श्रीगुरुरुवाच—अवनं गच्छ गृहं वापि क्षतिर्नास्ति तवाधुना ।
ईशभक्तेर्विहीनानां सैव सर्वत्र वर्तते ॥२६॥

श्रीगुरु ने कहा, हे साधु, आत्मबोध और प्रभु-भक्ति के सत्पात्र होकर, अब तुम घर या जंगल में रहो। इस से कुच्छ तुम्हें हानि नहीं है। हानि तो उन्हें मिलती है, जो ईश्वर से विमुख हैं ॥२६॥

इयं चापि मया लीला निर्मिता धर्मरक्षणे ।
पुत्रभार्यादिसम्भिन्ना स्वयं लीना भविष्यति ॥३०॥

मैंने जो लौकिक-व्यवहार का प्रदर्शन कर रक्खा है, सो सब एकमात्र धर्म-रक्षा के निमित्त हैं। अपने समय पर यह सब लीला स्वयमेव विलीन हो जायेगी। तब पुत्र-स्त्री आदि से मेरा कोई सम्बन्ध-विशेष न रहेगा ॥३०॥

रजोवृत्तितमोवृत्ती स्वयं त्यक्त्वा दिगन्तरम्।
प्राप्स्यामि निर्मलं वेशमासाद्य निजवांछितम् ॥३१॥

धर्म-रक्षा के कर्तव्य को पूरा कर, मैं भी, रजोगुण व तमोगुण के कार्यों को त्याग कर, स्वतः शुद्ध सत्ववृत्ति को धारण कर, एकान्त-वास कर, निर्मल-शान्त-वेश को अपनाऊंगा ॥३२॥

गतः श्रुत्वोपदेशं वै संदखानो गुरुत्तमात्।
नारदात्तु यथा दाक्षा तथा चन्द्रात्प्रतर्दनः ॥३२॥

इस प्रकार श्रीगुरु से शान्ति-शिक्षा प्राप्त कर, संदखान वापिस चला गया, जैसे कि श्रीनारद और देवराज इन्द्र से ब्रह्म-शिक्षा पाकर, दाक्षायणी और प्रतर्दन लौटे थे ॥३२॥

इदं दृष्ट्वा गता सेना या तदीया बलीयसी।
पर्वतीयाश्च राजानो गुरुस्थानं गुरुत्तमः ॥३३॥

यह वातावरण देख कर, उसकी बची-खुची सेना, पर्वतीय-राजा, आदि सब अपनी २ सीमा पर लौट गये। तब श्रीगुरु भी अपने गुरुस्थान पर चले आये ॥३३॥

भवितव्यं समालोच्य गुरुश्च तच्चकार हु ।
इन्द्रप्रस्थीयशिष्यैश्च प्रेषयामास बान्धवान् ॥३४॥

अपने स्थान पर आकर उन्होंने भावी-घटनाओं की छाया देखी और दिल्ली-निवासी-शिष्यों के साथ २ रपने कुटुम्ब-जनों को सुरक्षित-स्थान पर पहुंचा दिया ॥३८॥

अथोशिष्यान् परीक्षार्थं प्राह देब इदं वचः ।
आगमिष्यति दुष्टानां सेना युद्धं भविष्यति ॥३५॥

फिर उन्होंने अपने शिष्यों की परीक्षा के लिये, उनसे कहा, कि तुम लोग सावधान रहो। दुष्ट-दुश्मनों की सेना आयेगी और पुनः भयङ्कर-युद्ध होगा ॥३५॥

भीरुशिष्या इदं श्रुत्वावदन्देवं दिगन्तरम् ।
गम्यतां भो वयं स्वल्पास्तत्रापि न स्तिशंबलम् ॥३६॥

पुनः युद्ध का नाम सुन कर, कायर-शिष्यों ने तुरन्त प्रार्थना की, कि हे देव, उससे पहले ही हमें कहीं दूसरी ओर चले जाना चाहिये। हम थोड़े हैं, शत्रुओं की सेना बड़ी है। इससे हमारा कल्याण नहीं हैं ॥३६॥

भीरुवाचमिमां श्रुत्वा प्राह देवोथ गम्यताम् ।
यत्र स्वेच्छा लिखित्वा च शिष्यभावविहीनताम् ॥३७॥

उन कायरों की अमङ्गल-वाणी को सुन कर, श्रीगुरु ने स्पष्ट घोषणा की, कि जो चाहे, जा सकता है, परन्तु यह लिख कर देना होगा, कि आज से हम शिष्य नहीं रहे ॥३७॥

एवं कृत्वा गताः केचित्कैश्चिदुक्तं न योग्यता ।
आदिकाले यतोन्यस्तं शिरः श्रीगुरुपादयोः ॥३८॥

तदनुसार कुछ लोग वैसा ही कर गये । कईयों ने सोचा कि ऐसा करना ठीक नहीं है । क्योंकि हमने स्वयमेव पहले अपना सिर श्रीगुरु-चरणों पर भेंट कर दिया है ॥३८॥

किंचित्काले गते चैवं दुष्टसेना समागता ।
पर्वतीयश्च राजानो वन्हियन्त्राण्यनेकशः ॥३८॥

उसके थोड़े समय के बाद दुष्ट-सेना आ पहुंची । उसमें अनेक पहाड़ी राजा एवं अनगिनत तोपें वगैरह शामिल थीं ॥३९॥

वेष्टिता च पुरी सर्वा बलेनैकरसेन सा ।
दुर्गबाह्यगतेरर्थं नैवमार्गोपि रक्षितः ॥४०॥

उस शत्रु-सेना ने आते ही, श्रीगुरु के पुर को सब ओर से घेर लिया । हर ओर दुश्मन इस तरह मण्डरा गये, कि किले से बाहिर आने का रास्ता भी नहीं बच सका ॥४०॥

व्यूहाकारं बलं दृष्ट्वा हर्षयुक्तो बभूव ह ।
एडिकाराशिमापश्यन् यथा सिंहो गुरूत्तमः ॥४१॥

इतने पर भी, व्यूह-रचना से खड़ी हुई उस असंख्य-सेना को देख कर, श्रीगुरु अति प्रसन्न हुए, कि जिस प्रकार भेड़-बकरियों की कतारों को देख कर सिंह आनन्द मनाता है ॥४१॥

आह सिंहानथो देवो गम्यतां भो दिगन्तरम् ।
भक्षयित्वा निजं भक्ष्यं तच्च मार्गे हि विद्यते ॥४२॥

तब उन्होंने किले के अन्दर इकट्ठे हुए, अपने सिंह-शिष्यों से कहा, कि हे वीरगण, अब यहां से पृथक् २ दिशा की ओर निकल पड़ो और रास्ते में पड़े हुए अपने खाद्य (शत्रुगण) को भक्षण (मर्दन-मारण) करते हुए आगे बढ़ो ॥४२॥

स्वस्य लीला विकाशोपि मया कार्योऽधुना पृथक् ।
पूर्वलीलासकाशात्स विपरीतो भविष्यति ॥४३॥

अब मैं अपनी विचित्र-लीला, दूसरे ही ढंग से करूंगा । जो पहले की युद्ध-क्रीड़ा से एक दम न्यारी होगी ॥४३॥

इदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं बद्धशस्त्राश्च गर्जिताः ।
आहुरेनं तथाकार्यं यथा ह्याज्ञा त्वदीयिका ॥४४॥

यह वीर-संदेश सुनकर, सिंह-शिष्यों ने अस्त्र-शस्त्र संभाले और गर्जना की । सबने एक-स्वर से श्रीगुरु को बिश्वास दिलाया, कि हम आपकी आज्ञानुसार ही सब कुछ करेंगे ॥४४॥

दुर्गद्वारं विमुच्याशु गतो बाह्यं गुरूत्तमः ।
मत्तहस्ती स्थितस्तत्र दुर्गद्वारविमर्दने ॥४५॥

तब श्रीगुरु ने किले के द्वार को छोड़ कर, तीव्रगति से बाहिर की ओर कदम बढ़ाये । वहां शत्रुओं द्वारा एक मद-मत्त हाथी, द्वार तोड़ने को खड़ा किया गया था ॥४५॥

प्रहारश्चित्रसिंहेव कृतः कुन्तस्य मूर्धनि ।
तद्गजस्याथ विद्धोऽसौ विपरीतं जगाम ह ॥४६॥

तब सिंह-शिष्य चित्रसिंह ने अपने खड्ग का तीव्र-प्रहार किया, जिससे घायल-मुख वह मस्त-हाथी उलटा पीछे की ओर, यवन-सेना पर ही दौड़ पड़ा ॥४६॥

मद्यपानप्रभावेग तेन सेनाथ मर्दिता ।
सैन्यपस्य शिरश्छित्वा धर्मसिंहोपि गर्जितः ॥४७॥

उसे कई गैलन शराब पिलाई गई थी, जिससे प्रमत्त होकर उसने अपनी ही सेना को कुचल डाला। इतने में वीर-शिष्य धर्मसिंह ने यवन-सेनापति का सिर काट गिराया और घोर-गर्जना की ॥४७॥

अन्यैःसिंहैश्च सेनायाः कृतो ध्वंसो गजानुगैः ।
गुरोर्मार्गं गतो हस्ती गुरुभक्तः पुरानः ॥४८॥

अन्य गुरुशिष्यों ने भी उस हाथी के पीछे २ जाकर, शत्रुसेना का संहार किया। फिर वह उन्मत्त-हाथी श्रीगुरु के रास्ते पर आता दिखाई दिया, जैसे कि वह उनका कोई पुराना शिष्य ही था ॥४८॥

निःसृतः सर्वसेनातो गुरुः पुत्रादिसंयुतः ।
यदा सैन्यंतो हस्ती मारितं च यथेच्छया ॥४९॥

श्रीगुरु, सारी सेना में से, पुत्रादि से युक्त, सकुशल, आगे निकल गये। वह उद्दण्ड-हाथी पुनः सेना की ओर बढ़ा और मारकाट मचाने लगा ॥४९॥

सर्वसिंहैः शनै रात्रौ गतौ देवोथ रोपड़म् ।
नैवकारं ततःश्रुत्वा चमकौरं जगाम ह ॥५०॥

फिर अपने चुने हुए वीर शिष्यों के साथ, रात ही रात, श्रीगुरु 'रोपड़' में चले गये । वहां उन्हें आशानुकूल वातावरण दिखाई नहीं दिया, तो वे 'चमकौर' में जा पहुंचे ॥५०॥

महायुद्धं बभूवात्र दुष्टसेनासमागतौ ।
दर्शनार्थं च युद्धस्य देवकन्याः समागताः ॥५१॥

परन्तु पीछे २ दुश्मनों की सेना भी आगई । तब वहां पर महायुद्ध हुआ, जिसे देखने को, सुर-बालाएं गगनमण्डल पर जहां तहां खड़ी हो गईं ॥५१॥

पंचविंशतिसिंहैश्च गुरोः पुत्रावथात्र वै ।
हत्वा दशसहस्राणि गतौ वैकुण्ठधामनि ॥५२॥

उस युद्ध में श्रीगुरु के दो पुत्र, पच्चीस वीर सिंहों को साथ लेकर, दस हजार शत्रुओं को मार कर, अन्त में स्वर्ग को सिधारे थे ॥५२॥

इदं वृत्तं यदा जातं दयासिंहमुवाच ह ।
सद्गुरुः सर्वमेवेदं दुःखरूपं विवेकिनः ॥५३॥

अन्ततः युद्ध-परिणाम पर गम्भीर विचार कर, श्रीगुरु ने दयासिंह से कहा, कि भाई, विवेकी-पुरुषों के लिए यह सब कुछ दुःख-रूप ही है ॥५३॥

ध्रुवाद्यास्ते महीपाला गतास्त्यक्त्वाखिलं जगत् ।
अत एवेदमालोच्य परित्याज्यं विनश्वरम् ॥५८॥

ध्रुव प्रभृति महाराजा भी इस असार-संसार को छोड़ गये । इस गति को देखते हुए, विनाश शील, प्रपंचरूप जगत से अलग हो जाना चाहिये ।।५४।।

धर्मरक्षाकृते चक्रुराहवं भुवि पाण्डवाः ।
कृष्णदेवस्य सत्वेपि गताः पुत्रविहीनताम् ॥५५॥

भले ही पाण्डवों ने भी धर्म-रक्षा के निमित्त ही महाभारत-युद्ध किया था । परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् के रहते हुए भी, वे लोग अन्त में पुत्रों से वियुक्त हो गये । ॥५५।।

अतो जाने पुराकृत्यान्नैव जीवो विमुच्यते ।
मूर्छितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा रामचन्द्रः शुशोच ह ।।५६।।

इससे स्पष्ट है, कि अपने पूर्व-कर्मों से, जीवका छुटकारा नहीं होता । वे भोगने ही पड़ते हैं । देखो, लङ्का-युद्ध में मूच्छित हुए श्रीलक्ष्मण के लिए, भगवान् श्रीरामचन्द्र अति व्याकुल हुए । ।।५६।।

धर्मरक्षा कृता साधो मया पन्थाश्च निर्मितः ।
शनैःसिंहाः करिष्यन्ति दुष्टनाशं न संशयः ।।५७।।

हे प्रिय, मैंने यथासम्भव धर्म-रक्षा और सिंह-दीक्षा देकर पन्थ की प्रस्थापना की है । अब धीरे २ सिंह-शिष्य दुष्ट-दमन करते चले जाएंगे ।।५७।।

कृतं कृत्यं मया सर्वं धर्मपक्षेथ शिष्यते ।
मोक्षपक्षस्य सिद्ध्यर्थं निर्मलाध्वप्रवर्तनम् ॥५८॥

धर्ममार्ग का यथायोग्य कर्म-समाप्त कर, अब मैं मोक्षमार्ग के प्रसाधक, निर्मल-पन्थ का भी श्रीगणेश करना चाहता हूं ॥५८॥

तदर्थमद्य रक्षामि निजं देहं प्रयत्नतः ।
देशकालादि संयोगे तस्य त्यागो भविष्यति ॥५९॥

इसी लिए अभी मैं इस भौतिक देह की, यत्न-पूर्वक रक्षा करूंगा । देश-काल और परिस्थिति पर, तो अवश्य ही इसे त्यागना होगा ॥५९॥

म्लेच्छराजस्य नाशं भो इतिहासैः पुरातनैः ।
स्वयं कृत्वा दयासिंह ततो यास्यमि जङ्गलम् ॥६०॥

हे दयासिंह, पुराने-इतिहासों के आधार पर, मैं भी उग्र-शत्रु यवन-बादशाह का सर्वनाश कर, स्वयमेव यति-व्रत लेकर बनवास के लिए प्रस्थान करूंगा ॥६०॥

वीरवेशेन शस्त्राणामपि त्यागो विधीयते ।
कृतं कृत्यं यतश्चैतैर्वृथा भारो न शोभते ॥६१॥

तब वीर-वेश में धारण किये गये, शस्त्रास्त्रों को त्यागना होगा । क्योंकि अपना वीरोचित-कर्म कर लेने के बाद, इनको उठाये फिरना, बेकार का बोझ ढ़ोना है ॥६१॥

इदमुक्त्वा तथा कृत्वा दयासिंहादिपंचभिः
अर्धरात्रौ गतो देवो माच्छिवाड पुरं प्रति ॥६२॥

ऐसा कह कर और तदनुसार कर्म कर, वे दयासिंह आदि पांच वीर-शिष्यों के साथ आधीरात को "माच्छिवाड" गांव में जा पहुंचे ॥६२॥

तत्रचैको मसन्वोभूद् गतस्तस्य गृहं गुरुः ।
कृता सेवा गुलाबेन दुष्टसेनापि चागता ॥६३॥

वहां 'गुलाब' नाम का एक गुरुभक्त मसन्द रहता था। उसने श्रीगुरु की यथेष्ट सेवा की। परन्तु पीछे २ शत्रु-सेना भी आ पहुंची ॥६३॥

तस्मिन् काले स्वयं देव उच्चपीरानुकारताम् ।
खट्वारूढो गतः कृत्वा पंचशिष्यैश्च तादृशैः ॥६४॥

तब श्रीगुरु ने एक बड़े पीर का स्वरूप बनाया और एक खाट पर बैठ कर, पांच शिष्यों के साथ वे, उसी स्वरूप में वहां से निकल पड़े ॥६४॥

धर्मसिंहदयासिंहौ मानसिंहस्तृतीयकः ।
नवीखानश्च ते सर्वे गुरोः खट्वातिवाहकाः ॥६५॥

धर्मसिंह, दयासिंह, मानसिंह और नवीखान, इन चार-शिष्यों ने उनकी खाट उठाई थी ॥६५॥

गनीखानोग्रतो गच्छद्दण्डहस्तः प्रतापवान् ।
उच्चपीरः समायाति गच्छ दूरमिति ब्रुवन् ॥६६॥

उनका पांचवां साथी गनीखान, आगे २, हाथ में डण्डा लिए हुए, "चलो, हटो, रास्ता छोड़ो, हमारे बड़े पीर साहिब आरहे हैं, यों सब लोगों को सुनाता हुआ, चला जा रहा था ।।६६।।

रायकोटं गतो देवः फत्तशापादनन्तरम् ।
तत्र चक्रे कलारायो गुरोः सेवामतीव हि ।।६७।।

चलते २ वे "रायकोट" में पहुंच गये। वहां पर कारणवश उन्होंने "फत्त (फत्तू, एक सम्भावित-अनुयायी) को शाप दे दिया तब दूसरे एक सदनुयायी 'कला राय' ने उनकी यथेष्ट सेवा की ।।६७।।

ततश्चाह कलारायं गुरुः साधोथ गम्यताम् ।
अन्वेषणाय बालादीन् वै सरन्दादिसम्मुखम् ।।६८।।

फिर श्रीगुरु ने कलाराय से कहा, कि हे प्रिय, अब तुम जाओ और हमारे छोटे बालक तथा अन्य परिवार की खोज कर संवाद ले आओ। यहां से सीधा सरन्द (सरहन्द) की ओर जाना होगा ।।६८।।

म्लेच्छपीठात्सरंदाच्चेद्गता अग्रेपि बान्धवाः ।
इन्द्रप्रस्थं गता ज्ञेयास्तदा चेन्न च नो तथा ।,६९।।

यदि हमारा कुटुम्ब, म्लेच्छों के प्रमुख स्थान सरंद (सरहंद) से आगे चला गया होगा, तो समझना कि वह दिल्ली में जा पहुंचा है। अन्यथा, वहीं, आस-पस खबर करना ।।६९।।

इवं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं गतश्चारकसंयुतः ।
सर्वतोथ दशां ज्ञात्वा गतः श्रीगुरुसन्निधिम् ।।७०।।

श्रीगुरु की आज्ञा सुन कर कलाराय, एक अन्य सेवक को साथ लेकर चल पड़ा। उसने यथास्थान पहुंच कर, भली भान्ति सब इतिवृत्त जाना और फिर श्रीगुरु के पास आ गया ॥७०॥

प्राह देवं नतिं कृत्वा पाचकः स्वगृहे प्रभो ।
रक्षयित्वाथ बालादीन् सूचयामास दुर्जनम् ॥७१॥

उसने गुरु-वन्दना कर, उन्हें पूरा समाचार सुनाना आरम्भ किया, कि हे देव, आपका सेवक, रसोई बनाने वाला, आपके कुमारों व अन्य बन्धुओं को यहां से सीधा अपने घर ले गया। और फिर उसने दुष्ट-शत्रुओं को उनकी सूचना दे दी ॥७१॥

द्रव्यलोभेन विप्रोपि क्रूरकर्म चकार ह ।
प्रेषितोथ वजीदेन बालबन्धाय चारकः ॥७२॥

हा ! शोक ! कि एक ब्राह्मण (पाचक) भी धन के लोभ से महा-क्रूर कर्म करने पर तुल गया ? सूचना पाते ही वजीदखान (बादशाह का कर्मचारी) ने उस ब्राह्मण के घर में, अपना कोई उग्रदूत भेजा, जिसने गुरु-पुत्रों को काबू में कर लिया ॥७२॥

बालमात्रं गृहीत्वासौ गतो दुर्जनसन्निधौ ।
वृद्धमातापि मोहेन गता पौत्रसमीपताम् ॥७३॥

उन दोनों सुकुमारों को बांधकर, वह (यवन-कर्मचारी) अपने अधिनायक के पास ले गया। तब प्रिय-पौत्रों के स्नेह-वश वृद्धा माता (दादी) ने भी उन्हीं का अनुगमन किया ॥७३॥

इन्द्रप्रस्थीयशिष्यैश्च चालितं शिबिकाद्वयम् ।
इन्द्रप्रस्थं गता:शीघ्रं दशा चैषास्ति सद्गुरो ॥७४॥

दिल्लीनिवासी शिष्यों ने भी दो डोलियां उठाई थीं। वे उन्हें उठा कर दिल्ली को चले गये। हे गुरुदेव, बस, यह है, आपके प्रिय-परिवार का दुःखद-समाचार ॥७४॥

बालवृत्तमबाच्यत्वान्नैव वक्ष्यामि सर्ववित् ।
कलारामवचः श्रुत्वा गतो मौनं गुरूत्तमः ॥७५॥

आह ? वहां उन दोनों सुकुमारों को कैसी बीभत्स-यातना मिली। यह इतिवृत्त कहने में मैं असमर्थ हूं। आप सर्वज्ञ हैं, सब जान सकते हैं।" कलाराय की बातें सुन कर, श्रीगुरु मौन हो रहे ॥७५॥

मित्रप्यारे नु हालेति शव्दस्योच्चारणं कृतम् ।
नेत्रनीरं गुरोर्दृष्ट्वा रोदनं सकलैः कृतम् ॥७६॥

कुछ देर के बाद उन्होंने "मित्तर प्यारे नूं हाल" इत्यादि वाणी को उचारा। उनकी तेजस्वी आंखों में आंसू छलक उठे। यह देख कर सभी पार्श्ववर्ती साथी रोने लगे ॥७६॥

बरं दत्त्वा मलेरस्थान् कलारायं च सद्गुरुः ।
अश्वारूढस्ततः शीघ्रं गतो देवोथ ढिल्लमान् ॥७७॥

फिर मलेर (मलेर कोटला) में रहने वाले शिष्यों और कलाराय को शुभाशीर्वाद देकर, श्रीगुरु घोड़े पर सवार होकर "ढिल्लों जाति" के बन्धुओं के पास चले गये ॥७७॥

तत्र सेवा कृता प्रीत्या कौलनाम्ना तु सोढिना ।
श्वेतवस्त्राणि दत्तानि नीलवेशो निवारितः ॥७८॥

वहां "कौल" नामक सोढ़ी-बन्धु ने, उनकी सप्रेम सेवा की । उसने साग्रह एवं सानुरोध उनसे नीले-कपड़े त्यागने को कहा और सफेद-वस्त्र धारण करने के लिए समर्पित किये ॥७८॥

ततो दीने गतो देवो लखमीरेण सेवितः ।
योधरायस्य पौत्रेण तत्र प्रीत्या तु सर्वतः ७९॥

उसके बाद वे 'दीन' गांव में चले गये । वहां उनके पूर्व गुरुभक्त, योधराज के पौत्र "लखमीर" ने प्रीतिपूर्वक सेवा की ॥७९॥

तत एवारिघाताय पुस्तकं निजनिर्मितम् ।
प्रेषितं मारयित्वा तं दयासिंहः समागतः ॥८०॥

वहां रहते हुए उन्होंने 'शत्रु-संहार' के लिये एक पुस्तक लिखी और अपने अनुयायियों के पास भिजवाई । तदनुसार दयासिंह ने अपना कार्यक्रम बनाया और दुश्मन को मार कर वह श्रीगुरु की सेवा में हाजिर हो गया ॥८०॥

कर्पूरस्य ततःकोटं गतो ढिल्लों तु सोढिनाम् ।
जैतोग्रामं ततो गत्वा स्थितो देवोथ तत्र हि ॥८१॥

फिर श्रीगुरु, ढिल्लों एवं सोढ़ि-बन्धुओं के साथ कर्पूर, (कपूरथला) के दुर्ग (किला) में चले गये और कुछ समय के बाद वहां से 'जैत' गांव में जाकर रहने लगे ॥८१॥

श्रुतं वृत्तमिदं दुष्टैर्वर्ततेद्यापि सद्गुरुः ।
सरंदादागतो म्लेच्छो बलं कृत्वा समन्ततः ॥८२॥

जब उनके शत्रुओं को पता मिल गया कि, अभी "आर्य-गुरु" विद्यमान हैं। तब यवनों का एक सरदार भारी-फौज को साथ लेकर सरंद (सरहंद) से चल पड़ा ॥८२॥

वृत्तमेतच्छ्रुतं सिंहैर्मद्रदेशनिवासिभिः ।
तैर्मिलित्वा कृतं सर्वैर्भाषणं सु परस्परम् ॥८३॥

यह दुःख संवाद सुन कर, पंजाब के वीर-शिष्यों ने परस्पर समयोचित विचार-विमर्श कर, गुरु-महिमा का वर्णन किया ॥८३॥

एकेनैव कृतं युद्धं सता धीराः कुजातिभिः ।
चमकौरं ततो यातो मृतौ पुत्रावथाहवे ॥८४॥

कि, श्रीगुरु ने अकेले रह कर भी, कुजातिक-शत्रुओं से संग्राम किया। फिर वे चमकौर में चले गये, तो पुनः युद्ध में, उनके दो बड़े पुत्र भी मारे गये ॥८४॥

ततश्चान्यौ लघू पुत्रौ मारितौ येन पापिना ।
सचेदानीं श्रुतं याति गुरोर्मारणहेतवे ॥८५॥

उसके बाद स्थानान्तर को जाते समय, उनके दो छोटे बालकों को, जिस पापी ने संहारा था, वही दुष्ट-दस्यु आज श्रीगुरु का वध करने के लिए दल-बल लेकर, उस ओर जा रहा है ॥८५॥

सन्ति धन्यास्तु ते शिष्या ये मृता गुरुहेतवे ।
भाग्यहीना वयं जाता गुरुं त्यक्त्वा समागताः ॥८६॥

अहो ? वे शिष्य कितने भाग्यवान् थे, जो श्रीगुरु के लिए शहीद हो गये ? हाय, हम लोग अत्यन्त कृतघ्न हैं, जो उनकी सेवा से विमुख होकर, उन्हें त्याग कर चले आये ॥८६॥

अतः सर्वैश्च गन्तव्यं जंगले गुरुसन्निधौ ।
प्रायश्चित्तं तु कर्तव्यं प्राणदानं विकर्मणः ॥८७॥

इसलिये अब हमें अपने हीन-कर्म का प्रायश्चित करने के लिये जंगल में संस्थित श्रीगुरु के पास जाकर, प्राणों की भेंट समर्पण करनी चाहिये ॥८७॥

एवमुक्त्वा गताःशीघ्रं यत्र देवो बभूव ह ।
तत्र शस्त्रादिसंपन्ना मद्रदेशनिवासिनः ॥८८॥

यह कह कर पंजाबी शिष्य-वीरों ने अपने अस्त्र-शस्त्र संभाले और श्रीगुरु के वास-स्थान (जंगल) में चल पड़े ॥८८॥

तत्र देशे बभूवैकः खिदराणेति संज्ञकः ।
वृक्षसंघट्टकान्तारे ग्रामदूरे जलाशयः ॥८९॥

उस वन्य-प्रदेश में, गांव से दूर, अनेक प्रकार के घने वृक्षों के समूह से घिरा हुआ, एक वनस्थ-मध्यस्थान था, जहां पर 'खिदराण' नाम का एक तालाब बना हुआ था ॥८९॥

गुरुं तत्रैव ते श्रुत्वा गतास्तस्याथपादयो। ।
नता भक्त्योपहारैश्च पूजयामासुरूर्जितम् ॥६०॥

"वहीं पर श्रीगुरु विराजमान हैं" यह पता पाकर वे शिष्य वहां गये और असीम श्रद्धा-भक्ति से, अनेक प्रकार के उपहार समर्पण कर, उनके पवित्र-चरणों में झुक गये ॥६०॥

उदासीनं गुरुं दृष्ट्वा व्यवधानेन संस्थिताः ।
प्रायश्चित्तं करिष्याम इति मत्वा न ते गताः ॥६१॥

इतने पर भी श्रीगुरु यथापूर्व उदास ही बने रहे । तब उन शिष्यों ने कुछ दूर, इधर-उधर ठहरने की व्यवस्था कर, प्रण कर लिया, कि अब हम प्रायश्चित्त किये बिना, यहां से नहीं हटेंगे ॥६१॥

आगता दुष्टसेनापि गुरुं ज्ञात्वाथ तत्र हि ।
घोरयुद्धं तया जातं मद्रदेशनिवासिनाम् ॥६२॥

इतने में श्रीगुरु की खोज-खबर लगा कर, शत्रु-सेना भी वहां आ पहुंची । तब उस भीषण सेना से वीर-शिष्यों का भयंकर युद्ध हुआ ॥६२॥

अर्धा सेना यदा नष्टा तदा दुष्टैर्विचारितम् ।
मृतं सैन्यमथो शिष्टं विना वारि मरिष्यति ॥६३॥

उस युद्ध में म्लेच्छों की आधी सेना मारी गई । तब उस के नायकों ने विचारा, कि आधी फौज लड़कर मरी और शेष सेना तो बस, अब पानी के बिना ही मर जायगी ॥६३॥

विपरीतं हि गन्तव्यं गुरोः सेना गरीयसी ।
इदं ज्ञात्वा गता देशं मद्रवासिनिवारिताः ॥६४॥

"इस लिये बुद्धिमत्ता यही है, कि हमें वापिस हो जाना चाहिए । गुरु की सेना बलवती है, अजेय है ।" यह निश्चय कर वे अपने देश को वापिस चल दिये, क्योंकि पंजाब के वीर शिष्यों ने उन्हें आगे बढ़ने से लाचार कर दिया था ॥६४॥

गुरुर्दृष्ट्वाथ युद्धं तत्सुप्रसन्नो बभूव ह ।
वरं ब्रूताथ भो शिष्याः प्राह सिंहान् गुरूत्तमः ॥६५॥

श्रीगुरु ने वह युद्ध देखकर, अति प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, कि हे प्रिय शिष्य-गण, तुम लोग मनभाया बर मांग लो ॥६५॥

त्रुटितः शिष्यभावो यो मेलनीयोद्य सद्गुरो ।
आहुरेवमिदं श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं तु मद्रजाः ॥६६॥

श्रीगुरु की कृपापूर्ण वाणी को सुन कर, उन शिश्यों ने निवेदन किया कि हे देव, हमारी अज्ञानता से जो शिष्यभाव तोड़ा गया था, उसे पुनः जोड़ने की दया कीजिये ॥६६॥

शिष्यवाक्यमिदं श्रुत्वा प्राह देवस्तथास्तु वै ।
त्यक्त्वा देहं गताःसिंहा मोक्षमेतत्सरस्तटे ॥६७॥

शिष्यों की चतुरता एवं प्रिय-पात्रता जन कर, श्रीगुरु ने उसे (शिष्य प्रार्थना को) स्वीकर कर लिया । वे बोले, कि इस जल.शय

(खिदराण-सर) के तीर पर, कितने ही सिंह-शिष्यों ने देह-त्याग कर मुक्ति पाई है ॥९७॥

मोक्षदातृत्वशक्त्येदं भवेन्मुक्तसरोवरम् ।
इदं कृत्वा दयासिन्धुस्तलवण्डीं जगाम ह ॥९८॥

इसलिए मोक्षप्रदाता होने से इस सरोवर का नाम अब मुक्त-सर (मुक्ति-सरोवर) होगा। यह विधान देकर वे तलवण्डी में चले गये ॥९८॥

कृता सेवा मनोवाग्भ्यांन्तत्र डल्लेन सद्गुरोः ।
क्रोशमात्रं ततो दूरे गुरुर्नित्यमुवास ह ॥९९॥

वहां पर "डल्ल" नाम के गुरुभक्त ने उनकी यथेष्ट सेवा की। श्रीगुरु, उसके निवास-स्थान से कोस भर दूर ही टिके थे ॥९९॥

विश्रान्तिस्तत्र संजाता चिरंकालादनन्तरम् ।
अतश्चक्रे दयसिन्धुस्तन्नामेति दमंदमः ॥१००॥

बहुत-समय तक वहां रहने के पश्चात् उन्हें विश्रामपूर्वक शान्ति का वातावरण प्राप्त हुआ। इसीलिए उन्होंने उस स्थान का नाम 'दमंदम' रख दिया ॥१००॥

अयं देशोपि विज्ञेयो जंगलो न च मालवः ।
आम्रवृक्षाश्च विज्ञेया इमे वृक्षा अमीक्षवः ॥१०१॥

उन्होंने घोषणा की, कि इस देश को जंगल-प्रदेश ही जानना,

मालवा नहीं। यहां के आम के वृक्षों को साक्षात् अमृत के पेड़ ही समझना ॥१०१॥

इमे ज्ञेयास्तु गोधूमाः शालयश्च वरा इमे।
पुष्टिं तुष्टिं विधास्यन्ति जनानां मोदहेतवः ॥१०२॥

इस भूमि के गेहूं और चावल (प्रायःसभी अन्न) लोगों की शक्ति, तृप्ति को बढ़ाने वाले, अत एव सुखकारी होगें ॥१०२॥

इमा नद्यः समायान्ति बालुका न च विद्धि भोः।
इदं चेत्थं हि मन्तव्यं प्राह डल्लं गुरूत्तमः ॥१०३॥

ये सामने नदियां ही वह रही हैं, रेत का ढ़ेर नहीं। बस, उपर्युक्त सब बातें ठीक हैं, सत्य हैं, ऐसा ही तुम दृढ़ निश्चय करो ॥१०३॥

इदं नैवं च दैवं च प्राह डल्लोथ मूढधीः।
भक्तवाचमिमां श्रुत्वा प्राह देवस्तथास्तु भोः ॥१०४॥

'नहीं, महाराज ? ऐसा कहां है ? यह देश तो उजड़ा-पुजड़ा-सा है। सीधे-सादे डल्ल ने श्रीगुरु को सुना दिया। उसकी बात सुन कर वे बोले, कि अगर नहीं है, तो वैसा हो जाये, अर्थात् तुम्हारा प्रदेश हरा-भरा बन जाये ॥१०४॥

वाक्यजातस्य साफल्यं परन्त्वग्रे भविष्यति।
सतां विश्रान्तिहेतुत्वादस्य देशस्य सर्वदा ॥१०५॥

किन्तु इस वरवाणी की सफलता कुछ समय के बाद होगी। यहां

पर सन्तों ने विश्राम-स्थल ढूंडा है। अतः यह प्रान्त उन्नत हो रहेगा ॥१०५॥

कृत्वा च तत्र विश्रान्ति स्वस्थचित्तो बभूब ह।
यदा देवस्तदा चक्रे शिष्यबोधाय पौरुषम् ॥१०६॥

कुछ दिन वहां विश्राम पाकर, श्रीगुरु शान्तचित्त हुए। तब उन्होंने शिष्यों को सदुपदेश-प्रदान का कार्यक्रम बनाया ॥१०६॥

प्राह शिष्यांश्च गन्तव्यं धीरमल्लस्य सन्निधौ।
आनेयश्च ततो ग्रन्थः सद्‌गुरोर्मोक्षसाधनम् ॥१०७॥

अपने शिष्यों को संबोधन कर, श्रीगुरु ने कहा, हे प्रिय, तुम में से कुछ लोग धीरमल्ल (स्ववंशीय पूर्व-पुरुष) के पास जाओ और वहां से पूर्व-गुरुओं द्वारा विरचित 'गुरु-ग्रंथ' ले आओ। उसमें मोक्ष-हेतु का भली प्रकार उपदेश किया गया है ॥०७॥

गुरोराज्ञानुरोधेन गताः पंचाथ सेवकाः।
धीरमल्लनर्ति कृत्वा श्रावितं गुरुभाषितम् ॥१०८॥

उचकी आज्ञा से पांच शिष्य गये और वहां जाकर उन्होंने धीरमल्ल को नमस्कार-पूर्वक, श्रीगुरु का सन्देश सुनाया ॥१०८॥

धीरमल्ल उवाच —: किंचिन्निमित्तमासाद्य पूर्वमेव गुरोर्गृहे।
गतो ग्रन्थोथ नद्यां तैरर्पितो न च रक्षितः ॥१०९॥

धीरमल्ल बोला, अरे, किन्हीं कारणों से बहुत काल पहले ही यहां से "गुरु ग्रन्थ" ले जाया गया था। परन्तु गुरु (श्री त्यागबहादुर) ने उसे अपने पास न रख कर, नदी (व्यसा) में प्रवाहित कर दिया था ॥१०९॥

ग्रन्थाश्रिता न पूजास्ति स्वयं पूज्या वयं यतः ।
मनस्येवास्ति मे सर्वमिति मत्वा विसर्जितः ॥११०॥

ऐसा सुना जाता है, कि उन्होंने यह कह कर उसे नदी में बहा दिया था, कि किसी ग्रन्थ के आधार पर किसी की पूजा न करना ही ठीक है। हम तो स्वयमेव पूजनीय हैं। हमारे अन्दर सब सत्ता और महत्ता विद्यमान है, आदि २...॥११०॥

तस्य पुत्रस्य कापेक्षा ग्रंथपत्रावलोकने ।
निर्मास्यति स्वयं ग्रन्थं यथा पन्थास्तु निर्मितः ॥१११॥

और फिर, अब अनके पुत्र (श्रीगोविन्दसिंह) को उस ग्रन्थ के पन्ने बांचने की क्या जरूरत पड़ गई है ? वह तो अपना नया ग्रन्थ बनायेगा, जैसे कि नया पन्थ चालू किया है ? ॥१११॥

इति श्रुत्वा गता सिंहा गुरु स्थानमनुत्तमम् ।
आहुरेनं यथा जाता धीरमल्ल कथा तथा ॥११२॥

यह व्यंग्यपूर्ण प्रत्युत्तर सुन कर, पांचों गुरुशिष्य श्रीगुरु के पास लौट आये। उन्होंने यथानुरूप धीरमल्ल की अनुभूत-कथा श्रीगुरु को सुनाई ॥११२॥

इदं श्रुत्वा स एकान्ते वस्त्रसाध्यगृहान्तरे ।
गुरुग्रन्थो मनीसिंहं श्रावितो गुरुसत्तमैः ॥११३॥

यह सब सुन कर, श्रीगुरु ने एकान्त में केवल वस्त्रों से आच्छादित मण्डप में, आसन लगा कर, सारा "गुरु ग्रन्थ" भाई मनीसिंह को सुनाया ॥११३॥

तेन श्रुत्वा लिखित्वा च कृतं चारु हि पुस्तकम् ।
श्रावितं सर्वशिष्येभ्यः श्रीमुखेन गुरूत्तमैः ॥११४॥

भाई मनीसिंह ने, उनके मुखारविन्द से उसे सावधानी से सुना और साथ २ लिख कर, अति सुन्दर पुस्तकाकार में संग्रहीत कर लिया। तदनन्तर श्रीगुरु ने अपने अन्यान्य शिष्यों को उसका श्रवण करवाया ॥११४॥

मनीसिंह उवाच —: प्रभो भक्तिस्तु मुख्यैव गुरुग्रन्थे प्रतीयते ।
कुत्रचित्त्वेव बोधस्य सन्महत्वं निरूपितम् ॥११५॥

भाई मनीसिंह ने पूछा, हे सद्गुरु, इस "गुरुग्रन्थ" में प्रभुभक्ति को ही विशेषतः प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान-चर्चा तो कहीं २ पर ही चरितार्थ की गई है ॥११५॥

तथा योगस्य यागादेः कर्मणश्च विभो कथा ।
कथमेतद् व्यवस्था स्याद्वर्तते देव संशयः ॥११६॥

योग, यज्ञ, कर्म प्रभृति की शिक्षा भी यत्र तत्र दी गई है। तब यह सन्देह-सा हो जाता है, कि इनकी साधन-व्यवस्था कैसे समझी जा सके। अर्थात् इनमें ठीक २ श्रेयस्कर साधन कौन-सा है ? ॥११६॥

श्रीगुरुरुवाच—: यथा वेदेपि बोधस्य वर्तते नाधिका कथा ।
तथा ग्रन्थेपि बोधव्यमर्माधिकारो हि दुर्लभः ॥११७॥

श्रीगुरु ने कहा, जिस तरह वेद में ज्ञानकाण्ड का स्वल्प ही वर्णन है, उसी प्रकार इस "गुरुग्रन्थ" में भी उसका थोड़ा ही व्याख्यान किया गया है । क्योंकि ज्ञान का अधिकारी होना अति-कठिन है ॥११७॥

कलौ काले च योगस्य प्रक्रियैव न विद्यते ।
तथा कर्मापि नैवोक्तं द्रव्यशुद्धेरभावतः ११८॥

इस कलियुग में तो योग की पद्धति ही नष्टप्राय है यज्ञ-कर्म का अनुष्ठान भी, द्रव्य-शुद्धि के अभाव में असम्भव है ॥११८॥

हरेर्भक्तिस्तु बोधादेः चारणं विश्वतारिणी ।
अतः प्राधान्यतः सैव गुरुग्रन्थे निरूपिता ॥११९॥

परन्तु श्रीहरि-भक्ति ही, विश्व-मंगला एवं ज्ञान को पैदा करने वाली है । इस सिद्धांत को प्रमुख मान कर, उसी का इस गुरुग्रंथ में विशेषतः प्रतिपादन हुआ है ॥११९॥

विष्णुभक्ते तु दुःखादि स्पृशत्येव न कर्हिचित् ।
विष्णोरेव सुखावाप्तिः सात्विकत्वेन हेतुना ॥१२०॥

वस्तुतः श्रीहरि के प्रेमी भक्तों को, दुःख की छाया भी नहीं लग सकती । श्रीमन्नारायण से ही सब सुखों की संप्राप्ति होती है । क्योंकि सत्वप्रधान होने से उन्हीं में यह विशेषता है ॥१२०॥

अतः सत्वप्रधानस्य हरेर्भक्तिः सयुक्तिका ।
स्वीयकार्यस्य सिद्ध्यर्थं सदा कार्या मुमुक्षुणा ॥१२१॥

इस लिये मुक्ति के साधकों को सत्वप्रधान श्रीविष्णु की भक्ति का सहेतुक आश्रय-ग्रहण करना ही समुपयुक्त है। उसी से सब प्रकार की संसिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥१२१॥

इमं श्रुत्वोपदेशं ते विष्णुभक्तिपरायणाः ।
गुरोः शिष्यास्तु संजाता निर्मलाध्वयियासवः ॥१२२॥

श्रीगुरु का यथार्थ सदुपदेश सुनकर, उनके कुछ शिष्य, श्रीविष्णु की भक्ति में आसक्त होकर "निर्मल-पंथ (मोक्षमार्ग) के अनुयायी बन गये ॥१२२॥

गुरुदेवोथ शिष्यान्वै सुप्रसन्न उवाच ह ।
इयं काशी मदीयास्ति मोक्षविद्याप्रदा यतः ॥१२३॥

तब श्रीगुरु ने उन भक्त-शिष्यों को स्पष्ट-सूचना दी, कि यह "निर्मल पंथ" (मोक्षमार्ग) ही मुक्ति-प्रद होने से मेरी काशी पुरी है ॥१२३॥

ततो रामत्रिलोकादीनमृतं तेन पायितम् ।
राज्यभाजस्तु ते जाताः सप्तमस्यगुरोर्वरात् ॥१२४॥

फिर उन्होंने अपने प्रिय पात्र, राम, त्रिलोक प्रभृति शिष्यों को अमृत पिलाया। वे उसी से राज्यभोग पा गये। क्योंकि अपने सातवें गुरु (श्रीहरिराय) का ऐसा ही वरदान पूर्व-प्राप्त था ॥१२४॥

एवं किंचिद्गते काले सता चैवं विचारितम् ।
शान्तचित्तेऽपि विक्षेपो जायते दुष्टसन्निधौ ॥१२५॥

उसके कुछ समय के बाद श्रीगुरु ने विचारा, कि दुर्जनों की संगति में, शान्त-चित्त भी विचलित हो जाता है ॥१२५॥

अतो देशमिमं त्यक्त्वा गमनीयं दिगन्तरम् ।
स्थितौ यत्र न वैभंज्याच्चेतसश्चैकतानता ॥१२६॥

इसलिये इस देश को त्याग कर, कहीं दूसरी-ओर चले जाना चाहिए, कि जहां रहते हुए एकाग्र-मन में कोई बाधा वृत्ति या भेदावस्था का उद्गम न हो सके ॥१२६॥

यदा म्लेच्छा विनंक्ष्यन्ति मम शिष्यप्रभावतः ।
तदाभ्यासं करिष्यन्ति स्वयं चात्रापि सज्जनाः ॥१२७॥

जब मेरे शिष्य-संप्रदाय द्वारा म्लेच्छ-शत्रुओं का सर्वनाश हो जायगा, तो इस देश में भी लोग धर्म-कर्म और मोक्ष साधना आदि में संप्रवृत्त हो रहेंगे ॥१२७॥

एवमुक्त्वा गतो देवः समं शिष्यैस्तु दक्षिणाम् ।
गोदावरीतटे तत्र कृतो वासोतिपावने ॥१२८॥

यह कह कर वे अपने उदासीन (साधु) शिष्यों को साथ लेकर दक्षिण की ओर, गोदावरी के तीर पर जाकर एक पवित्र स्थान में टिक गये ॥१२८॥

तत्र सेवां समाचक्रुर्गुरोःशिष्याः समन्ततः ।
परमार्थं च वांछन्तः केचिदर्थं च राजसाः ।।१२९।।

वहां अनेक शिष्य उनकी सेवा करने लगे। उनमें कोई परमार्थ के अभिलाषी, सतोगुणी और कई लौकिक-सुख के इच्छुक रजोवृत्ति-वाले भी थे ।।१२९।।

कदाचित्तु स्वशिष्याणां गुरुश्चक्रे परीक्षणम् ।
रात्रिशेषे स्वयं गत्वा तत्र तत्रावलोकितम् ।।१३०।।

एक बार उनके मनमें आया कि यहां शिष्य बहुत बढ़ गये हैं, परन्तु इनकी सदसत् परीक्षा भी होनी चाहिये। तब वे एक दिन बहुत-सबेरे ही जहां-तहां-जाकर, शिष्यों का दशा-ज्ञान करने लगे ।।१३०।।

तत्र दृष्टास्तु केचिद्वै घ्राणप्राणाभिघातजान् ।
नानाशब्दांश्च कुर्वन्तो मुक्तकेशा दिगम्बराः ।।१३१।।

आश्रम के अलग २ स्थानों पर उन्होंने दृष्टिपात किया, तो कहीं ऐसे शिष्य देखे, जो नंग-धड़ंग पड़े, गाढ़ निद्रा में खुर्राटे भर रहे थे ।।१३१।।

गुरोर्वाणीं पठन्तो वै बद्धशस्त्रास्तु केचन ।
प्रार्थयन्तश्च राज्यादीं स्तत्पठित्वा गुरूत्तमात् ।।१३२।।

दूसरी ओर कुछ ऐसे नजर आये, कि जो शस्त्रास्त्र धारण कर, गुरुवाणी का पाठ करते हुए, श्रीगुरु से राज्यलाभ की विशेष-प्रार्थना कर रहे थे ।।१३२।।

हरेर्ध्यानं हि कुर्वन्तः केचिद्दृष्टा नरोत्तमाः ।
उपांशुं च जपं वा ते सात्विकत्वेन निश्चिताः ॥१३३॥

तीसरी जगह पर कुछ ऐसे दीख पड़े, जो वस्तुतः श्रीहरि के ध्यान में तल्लीन, उपांशु-जप, या प्रभु-स्तुति में लगे हुए थे । उन्हीं को सात्विक-शिष्य निश्चित किया गया ॥१३३॥

एवं दृष्ट्वा त्रिधा शिष्यान् गतो देवो निजासनम् ।
स्वल्पाश्च सात्विका जाता राजसाद्यास्तु पुष्कलाः ॥१३४॥

इस प्रकार तीन तरह के शिष्यों को देख कर, श्रीगुरु अपने आसन पर जा बैठे । उन्होंने जान लिया कि इनमें सात्विक थोड़े और राजस-तामस ही अधिक हैं ॥१३४॥

नैव च्छन्नं गुरोः किंचित्सर्ववेतृत्वहेतुतः ।
तथापि लोकदृष्ट्येदं कृतं चैवं परीक्षणम् ॥१३५॥

यद्यपि सर्वज्ञ होने से, वे उन सबको भली भान्ति जानते ही थे । परन्तु लोकाचार की परम्परानुसार उन्होंने उनकी यों परीक्षा की ॥१३५॥

प्रातःकाले ततो देवः सभामध्य उवाच ह ।
इमे मे निर्मलाः शिष्याः सात्विकत्वेन हेतुना ॥१३६॥

प्रातः उन्होंने सत्सङ्ग-सभा में पृथक् २ दिशा में बैठे हुए अपने शिष्यों को स्पष्ट-संकेत कर दिया, कि ये (इस ओर बैठे हुए) शिष्य निर्मल सतोगुणी हैं ॥१३६॥

राज्य भाजस्त्विमे ज्ञेया राजसत्वेन हेतुना ।
काम्यमानं तु लप्स्यन्ते निजोपासानुरोधतः ॥१३७॥

और ये (उस ओर बैठे हुए) शिष्य राज्य-कामी, भोगेच्छुक होने से राजस हैं। अतः ये सभी (दोनों प्रकार के) शिष्य यथाकाम अपना २ मनोरथ सफल कर लेंगे ॥१३७॥

एषां तु सेवनं कृत्वा जीवयिष्यन्ति तामसाः ।
एवं कृत्वा विभागं वा उपदेशं चकार ह ॥१३८॥

शेष सभी तामस-वृत्ति के शिष्य हैं। परन्तु वे भी इन दोनों (सात्विक-राजस) की सेवा करने से अपना जीवन-यापन कर सकेंगे। यह विभाग करने के बाद उन्होंने क्रमशः उपदेश देना आरम्भ किया ॥१३८॥

सात्विकेषु दयासिंहो मुख्यः शिष्यो बभूव ह ।
कृत्वा तमग्रतो देवः प्राह वेदादिसम्मतम् ॥१३९॥

सात्विक (निर्मल) शिष्यों में दयासिंह को प्रधान-शिष्य बना कर, श्रीगुरु ने आर्य-सदुपदेश (वेदानुकूल) आरम्भ-किया ॥१३९॥

इदं मिथ्या हि दृश्यत्वाच्छुक्तिकारजतं यथा ।
सत्यभेदाच्च विज्ञेयं यन्न चैवं न तत्तथा ॥१४०॥

कि हे प्रिय ? यह सारा विश्व-प्रपंच अज्ञानतः दृश्य होने से मिथ्या हीहै । जैसे कि सीपी में चांदी का आभास होने का भ्रमात्मक

(मिथ्याभूत) व्यापार है। सत्य से भिन्न होकर ही यह असत्य है। जो तत्व ऐसा नहीं है, वह मिथ्या भी नहीं है। अर्थात् सत्यरूप एक ब्रह्म ही है ॥१४०॥

एवं ज्ञात्वा त्वया साधो सत्यनामैव केवलम्।
सदाभ्यस्यं ततः शीघ्रं दुःखमात्रं विनंक्ष्यति ॥१४१॥

यह सत्य जानकर तुम सदा "सत्यनाम" का ही अभ्यास करो। इसी से सब दुःखों का संविनाश हो जाएगा ॥१४१॥

विना नाम न कोप्यस्ति व्यापारो मोक्षहेतवे।
कलौ साधो वदन्त्येवं शास्त्रतत्वविमर्शकाः ॥१४२॥

हे साधु, नाम के बिना अन्य कोई भी साधन (व्यापार) इस कलिकाल में मोक्षप्रदाता नहीं बनाया जा सकता। ऐसा सब तत्वदर्शी साधकतथा सिद्ध लोग कहते हैं ॥१४२॥

दयासिंह उवाच —: गुरो ज्ञानाद्धि मोक्षस्य जनिर्वेदेन भाषिता।
भक्तिहेतुत्वपक्षे तु व्यभिचारो भविष्यति ॥१४३॥

दयासिंह बोला, हे गुरुदेव, वेद भगवान् तो ज्ञान से मुक्ति की उत्पत्ति (प्राप्ति) होना कहते हैं। भक्ति से मोक्षोत्पत्ति मानने से तो व्यभिचार-दोष की संप्राप्ति संभव होगी ॥१४३॥

इति वाच्यं न मोः साधो ज्ञानद्वारैव हेतुता।
यतश्चोक्तांथ भक्त्यैव जायते ज्ञानमुत्तमम् ॥१४४॥

श्रीगुरु ने कहा, हे भद्रमुख, ऐसा मत कहो। व्यभिचार आदि किसी दूषण की कल्पना नहीं होनी चाहिये। क्योंकि "ज्ञान से मुक्ति" वाले वाक्य में ज्ञान की हेतुता ठीक ही है। परन्तु वह उत्तम ज्ञान तो सर्वथा भक्ति से ही उपजता है ॥१४४॥

परोक्षं तच्च विज्ञेयं हरेर्भक्तेः सुसाधानम् ।
जायते न यतः प्रेमा विनोपास्यस्य कुत्रचित् ॥१४५॥

वह ज्ञान भी भक्ति का ही परोक्ष-साधन है और उपास्य (आराध्य) के सुनिर्णय बिना प्रेम (भक्ति) की संप्राप्ति नहीं होती ॥१४५॥

अतो ज्ञानस्य सिद्ध्यर्थं शास्त्रचिन्तापि युज्यते ।
ततो भक्तिस्ततो ज्ञानं ततोमोक्ष इति स्थितिः ॥१४६॥

इसलिये यथार्थतः ज्ञान-लाभ के लिये शास्त्राभ्यास भी अवश्य करना चाहिये। उससे भक्ति, भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञान से मोक्ष, यह क्रम सत्य-निर्णय है ॥१४६॥

एतां श्रुत्वा गुरोर्वाचं नताः पादारविन्दयोः ।
सात्विका निर्मलाः सन्तस्तत्परत्वमुपागताः ॥१४७॥

श्रीगुरु का शास्त्रानुकूल सदुपदेश सुन कर, सत्व-सम्पन्न, निर्मल-शिष्य उनके श्रीचरणों पर नतमस्तक हुए और तदनुसार ही साधना में तत्पर हो गये ॥१४७॥

निर्मलान्सात्विकानेवमुपदिश्याथ राजसान् ।
धर्मसिंहस्य मुख्यत्वं तत्र मत्वेदमुक्तवान् ॥१४८॥

उक्त क्रम से सात्विक, निर्मल शिष्यों को उपदेशामृत पिला कर, श्रीगुरु ने राजस-शिष्यों में धर्मसिंह को प्रधान मान कर, उन्हें भी उपयुक्त-शिक्षा देना आरम्भ किया ॥१४८॥

धर्मसिंहस्य शान्तत्वाद्यद्यपीच्छा न युज्यते ।
व्यवहारस्य सिद्ध्यर्थं तथाप्यत्र नियुज्यते ॥१४९॥

कि यद्यपि धर्मसिंह भी शान्त-प्रकृति का साधक है, अतएव वह अन्य बात (लौकिक-कामना) से विरक्त होकर तदभिलाषी नहीं है । परन्तु केवलमात्र व्यवहार-सिद्धि के लिये उसे राजसश्रेणि में रक्खा गया है ॥१४९॥

श्रीगुरुरुवाच —: राज्यभाजो भविष्यन्ति भो भवन्तो न संशयः ।
सति चैवं तु कर्तव्या धर्मरक्षा समन्ततः ॥१५०॥

श्रीगुरु बोले—: प्रिय व्यावहारिक-बन्धुओ, अपनी रजोमुख्या साधना से तुम लोग निश्चय ही राज्यभोग प्राप्त करोगे । परन्तु स्मरण रहे, कि अधिकार-बल पा लेने पर सदा धर्म की सुरक्षा करनी होगी ॥१५०॥

निर्मलाध्वप्रवृत्तानां सतां संगश्च सेवनम् ।
सदा कार्यं ममाज्ञेयं मत्स्वरूपा हि ते यतः ॥१५१॥

निर्मल-पंथ के अनुगामी सन्तों की सेवा, संगति भी अवश्य करनी चाहिये । यही मेरी आज्ञा है । क्योंकि वे संत मेरे ही स्वरूप हैं ॥१५१॥

मातृसेवा पितुः सेवा वृद्धसेवा च सर्वदा ।
दीनरक्षा च कर्तव्या म्लेच्छध्वंसस्तु सर्वथा ॥१५२॥

माता-पिता, गुरु, वृद्ध प्रभृति की सेवा, दीन-हीनों की रक्षा, तथा म्लेच्छों की संहार-क्रिया भी अवश्यमेव करनी होगी ॥१५२॥

ब्राह्मणे तु क्षमा कार्या कुत्सिताचारवर्जिते ।
सुहृन्मित्रे च माधुर्य स्वराष्ट्रे न्यायशीलता ॥१५३॥

आचारवान् ब्राह्मण के प्रति क्षमा, सखा, बन्धु-जन से माधुर्य-भाव एवं अपने राष्ट्र में न्याय-व्यवहार का बर्ताव होना चाहिये ॥१५३॥

ईदृशस्य तु भूपस्य शिलोंछेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥१५४॥

इस रीति-नीति से वर्तनेवाले शासक को, भले ही शिलोंछवृत्ति से भी स्वजीवन बिताना पड़े, परन्तु उसका उज्वल यश सर्वत्र फैल जाता है, जैसे कि पानी में तेल की बूंद ॥१५४॥

अतस्तु विपरीतस्य भूपते रजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥१५५॥

लेकिन इससे प्रतिकूल चलने वाले, असंयमी, शासन कर्ता की कीर्ति कभी कहीं पर विस्तार नहीं पाती, जैसे कि जल में घी की बूंद ॥१५५॥

सदा सत्सु विनीतः स्याद् ब्राह्मणेषु च नित्यशः ।
विनीतात्मा हि राजासौ नो विनश्यति कर्हिचित् ॥१५६॥

साधु-पुरुषों तथा ब्राह्मणों में सदा नम्रता का आचरण करे । क्योंकि विनीत-स्वभाव का प्रशास्ता कभी किसी से विनष्ट नहीं होता ॥१५६॥

बहवोऽविनयान्नष्टा भूभुजः सपरिच्छदः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥१५७॥

इतिहास साक्षी है, कि अनेक विनयहीन राष्ट्र-नायक, समूल उखड़ गये और विनयशील वनवासी राजाओं ने पुनः अपना स्वत्वाधिकार प्राप्त कर लिया ॥१५७॥

वेणो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदासो यवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥१५८॥

प्रमाणतः वेण, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख, निमि प्रभृति नरेन्द्र अविनय के कारण ही नष्ट-भ्रष्ट हो गये ॥१५८॥

पृथुश्चविनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुवेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥१५९॥

और विनय-व्रत से ही पृथु, मनु प्रभृति राजर्षियों ने राज्य पाया । कुवेर धनपति और विश्वामित्र ब्रह्मर्षि-पद पा गये ॥१५९॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥१६०॥

प्रशासक को सदा इन्द्रियविजय पर सचेत रहना, चाहिये । क्योंकि विजितेन्द्रिय महापुरुष ही प्रजाओं को शासन में रख सकता है ॥१६०॥

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥१६१॥

काम-जन्य दस, तथा क्रोध-जन्य आठ व्यसनों को पतन का मूलहेतु कहा गया है। इसलिये श्रेष्ठ-शासक सदा उनसे दूर रहे। कभी उन्हें न अपनाये ॥१६१॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेस्वात्मनैव तु ॥१६२॥

क्योंकि काममूलक दस व्यसनों में फंस कर, राजा को धन और धर्म से विहीन होना पड़ता है और क्रोधमूलक आठ व्यसनों में आसक्त होकर, वह स्वयमेव नष्ट हो जाता है ॥१६२॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥१६३॥

शिकार, जुआ, दिन में सोना, परनिन्दा, नारी-आसक्ति, मदान्धता गीत, नृत्य, वाद्य की आधीनता, व्यर्थ-भ्रमण, ये कामज दस दोष हैं ॥१६३॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोपि गणोष्टकः ॥१६४॥

पिशुनता, साधु-पीड़न, द्रोह, ईर्ष्या, गुण-निन्दा, धन का दुरुपयोग, वाणी व दण्ड द्वारा अत्युग्रता, ये क्रोधज आठ दूषण हैं ॥१६४॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेताउभौ गणौ ॥१६५॥

इन दोनों प्रकार के व्यसनों का मूल कारण है, लोभ ? ऐसा सब बुद्धिमानों का एकमत है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक उस लोभ पर ही काबू पाना चाहिये, कि जिससे उपर्युक्त दोनों व्यसन-गण पैदा होते हैं ॥१६५।

पानमक्षः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥१६६॥

काम-समुद्भव दस व्यसनों में भी, मद्यपान, जुआ-खेलना, स्त्री-आसक्ति, पशु-हिंसा (शिकार) क्रमशः ये चार दोष अतिकष्टप्रद होते हैं ॥१६६॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥१६७॥

दण्ड-प्रदान, वाणी की उग्रता, धनका दुरुपयोग, ये तीन दोष, क्रोध-जन्य आठ व्यसनों में अधिक दुःख कर होते हैं ॥१६७॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं-पूर्वं तु विज्ञेयं शिष्य कष्टतरं सदा ॥१६८॥

हे शिष्य-गण, इन सात (चुने हुए) दूषणों में भी प्रथम-प्रथम, गणना से अतिक्लेशकर होता है । प्रायः ये दूषण सब जगह अपना प्रभुत्व बनाये रखते हैं ॥१६८॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
अधोधो व्यसनी नित्यं स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥१६९॥

दुर्व्यसन और मरण, इन दोनों में व्यसन ही अधिक हानिकर हैं। व्यसनग्रस्त मनुष्य का नित्य अधःपतन होता रहता है और निर्व्यसन-पुरुष मर कर भी सुर पुर (ऊपर) को जाता है ॥१६६॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥१७०॥

राजा को सात या आठ मन्त्री रखने चाहियें, जो अमात्यकुलज, शास्त्रज्ञ, वीर प्रकृति, लक्ष तक पहुंचने वाले और सुपरीक्षित हों ॥१७०॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥१७२॥

क्योंकि प्रायः कोई सुगम कार्य भी, किसी अकेलेव्यक्ति के लिये कठिन हो जाता है। राज्य संचालन तो सदा सहायकों के सहारे से ही अभीष्ट प्रगति से किया जा सकता है ॥१७१॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक्पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥१७२॥

प्रत्येक मन्त्री के मन्तव्य को अलग २ प्रकार से जान कर फिर अपने हितकारी-कार्यक्रम से राज्यकार्य चलाना चाहिये ॥१७२॥

दूतं चैवं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्र विशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥१७३॥

अपने राज्य के राजदूत-पद के लिये, सब शास्त्रों के जानकार,

संकेत, आकार आदि चेष्टाओं के मर्मज्ञ, पवित्र, निपुण, शुद्ध-वंश के कर्मठ-व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिये । १७३॥

दूत एव हि सन्धते भिनत्येव च संहितान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा नवा ॥१७४॥

क्योंकि राजदूत ही भेद और मिलाप के कुशल-कर्मचारी होते हैं । वे ऐसा कार्य कर सकते हैं, जिससे फूट और गुटबंदी का जन्म हो सके ।।१७४॥

बुद्ध्वा च सर्वतत्त्वेन पर राजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥१७५॥

परराज्य के दृष्टिकोण एवं मन्तव्य को भली भान्ति समझकर ही, तदर्थ सुप्रयत्न करना चाहिये । परन्तु उस प्रयत्न में भी इस बात का ध्यान रहे कि यथाशक्ति स्वशासन को विशेष कष्ट न हो ॥१७५॥

पात्रे दानं सदा कुर्याद् ब्राह्मणे गुरुसेवनम् ।
सतां सेवी सदैव स्यादयं धर्मः प्रशस्यते ॥१७६॥

हमेशा सत्पात्र ब्राह्मणों को दान, गुरु-सेवा, संतों की संग आदि उत्तम-कर्मों का आचरण करना चाहिये, जिससे धर्म का ह्रास न होने पाये ॥१७६॥

समोत्तमाधमैं राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥१७७॥

अपनी प्रजा का परिपालन करता हुआ राजा, समान, अधिक और हीन बलवाले दूसरे अधिनायकों से निमन्त्रित किये जाने पर, क्षत्रियत्व का अनुचिन्तन कर कभी युद्ध से विमुख न हो ॥१७७॥

एषोऽविगर्हितः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माच्च नो च्यवेद्वीरस्ताडयेत्तु रणे रिपून् ॥१७८॥

यह सत्यशील एवं सदा प्रशंसनीय वीरधर्म कहा गया है । शूरवीर कभी इससे पीछे नहीं हटते । वरन् वे डट कर, युद्ध में शत्रुओं से जूझते हैं ॥१७८॥

संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा विप्रसाधूनां राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥१७९॥

रण में पीछे न हटना, प्रजा का संपरिपालन, गौ-ब्राह्मणसाधुओं की सेवा, इत्यादि पवित्र कर्मों से राजाओं का परम कल्याण होता है ॥१७९॥

आहवेषु मिथोन्योन्यं जिघांसन्तो महीभुजः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥१८०॥

युद्ध-स्थल में, परस्पर एक दूसरे पर मार-काट करने वाले, शूरवीर राजा लोग, पीछे न हट कर, पराक्रमपूर्वक लड़ते हुए, पुण्यशील स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं ॥१८०॥

नकूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलनतेजनैः ॥१८१॥

युद्ध करते समय गुप्त-शस्त्रास्त्र, कर्णाकार-तीर, विषाक्त-बाण, अग्नि-प्रदीप्त फलक आदि हथियारों से कभी शत्रु पर प्रहार न करना चाहिये ॥१८१॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृतांजलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥१८२॥

रथ आदि से हीन, नपुंसक, हाथ जोड़ कर खड़े हुए, सिर के बाल खोल कर खड़े हुए, बैठे हुए, "मैं तुम्हारा हूं,, ऐसा कहने वाले दुश्मन को नहीं मारना चाहिये ॥१८२॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं नापश्यन्तं न परेण समागतम् ॥१८३॥

सोये हुए, दुःखार्त्त, नंगे, शस्त्र विहीन, न लड़ते हुए, सम्मुख न देखते हुए, दूसरों के साथ आये हुए शत्रु को मारना वर्जित है ॥१८३॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरीक्षितम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥१८४॥

हथियारों की अस्त-व्यस्त दशावाले, पीड़ित, अतिपरिक्षित, भयग्रस्त, युद्धविरत रिपु को मारना उचित नहीं है । ऐसी, धर्म युद्ध के समर्थकों की मर्यादा है, जिसे स्मरण रखना चाहिये ॥१८४॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१८५॥

स्वयं निश्छलवृत्ति से रहे, कभी माया का व्यवहार न करे, परन्तु शत्रु की कपट-चातुरी को सदा जानता रहे। गुप्तभाव में रहे ॥१८५॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥१८६॥

अपने रहस्य को शत्रु से गुप्त रखना और वैरी के रहस्य को जान लेना चाहिये और कच्छुआ की तरह अपने अवयवों को छिपाना, सदा अपने भाव को सुरक्षित रखना चाहिये ॥१८६॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुंपेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥१८७॥

बगुला की तरह धन-संग्रह की चिन्ता करे। शेर की भांति पराक्रम शील बना रहे। भेड़िया की नाईं द्रव्य का लोप करे और शशक की रीति से दौड़-धूप में सावधान रहे ॥१८७॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥१८८॥

इस प्रकार, नीति-रीति से विजयाभिलाषी, उदार-शासक, अपने विरोधि-वर्ग को साम, दान, भेद, दण्ड, इन उपायों से यथाक्रम अपने वश में लायें ॥१८८॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसाध्यैतांछनकैर्वशमानयेत् ॥१८९॥

यदि शत्रु-पक्ष के लोग साम, दान, भेद से अपने वश में न हों तो दण्ड से ही उन्हें अपने काबू में लाना चाहिये ॥१८६॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्रा भिवृद्धये ॥१६०॥

उक्त चार उपायों के विशेषज्ञ, नीतिकारों ने साम और दण्ड को ही राष्ट्र-वृद्धि का परम-उपाय बतलाया है ॥१६०॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥१६१॥

जिस प्रकार छांट करने वाला कृषक धान्य के छिलकों (तुष) को अलग कर धान्य (कण-भक्ष्य) को बचा लेता है, ठीक उसी तरह, राष्ट्र-नायक (प्रशासक-राजा) भी अपने विरोधियों का दमन कर, राष्ट्र की सुरक्षा करे ॥१६१॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीवितं च्च सबान्धव ॥१६२॥

परन्तु जो प्रशासक, मोहवश अपने ही राष्ट्र को उत्पीड़ित करता है, वह बहुत जल्दी राज्य-भ्रष्ट होकर इष्ट-बन्धुओं सहित विनष्ट हो जाता है ॥१६२॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥१६३॥

जिस प्रकार शरीर के पीड़ित रहने से जीवों के प्राणों की शक्ति क्षीण होती रहती है, उसी तरह राष्ट्र-पीड़न से राजाओं (राष्ट्र-नायकों) के प्राण-तत्त्व को भी हानि पहुंचती है ॥१९३॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१९४॥

सत्य-पराक्रमी क्षत्रिय (प्रशासक) के लिये, प्रजा-पालन ही परम-धर्म है और यथायोग्य कर (टैक्स) लेकर शासन-करने वाला प्रशासक ही धर्मात्मा हो सकता है ॥१९४॥

कृतो धर्मः सकामस्य स्वर्गहेतुर्विधीयते ।
निष्कामस्य तु शुद्ध्यर्थं भवेन्मोक्षोपकारकः ॥१९५॥

क्योंकि धर्माचार (धर्मव्यवहार) कभी निष्फल नहीं होता । यदि सकामभाव से धर्माचरण किया जाये, तो उसमे स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है और निष्काम होकर किया गया धर्मकर्म मुक्ति के द्वार खोल देता है ॥१९५॥

वाक्यजातं मनोःसारं धर्मसिंह मयोदितम् ।
दीर्घसंसाररोगस्य भेषजं तद्विचिन्तय ॥१९६॥

हे धर्मसिंह ? संक्षेप से मैंने यह मनु आदि धर्माचार्यों का धर्म-सार तुम्हें बतला दिया है । संसार-रूप महारोग का, एकमात्र यही महौषध है । इसे तुम सत्य ही जानो ॥१९६॥

तामसा अपि मे शिष्या यदि सेवासु तत्पराः ।
सात्त्विकानां भविष्यन्ति तमस्तेषां विनंक्ष्यति ॥१९७॥

अगर तमोवृत्ति के शिष्य लोग, सत्व-प्रधान संतों की सेवा में मन लगाएंगे, तो उससे निश्चित ही उनका तमोभाव विनष्ट हो जायेगा ॥१६७॥

यदि निन्दां करिष्यति सतां साधोथ तामसाः ।
अधस्तदा गमिष्यन्ति प्राह कृष्णो यथार्जुनम् ॥१६८॥

यदि तामस लोग (शिष्य) सन्तों की निन्दा को अपनाएंगे, तो उससे उनका निरन्तर अधः पतन होता रहेगा । यही सदुपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था ॥१६८॥

उपदेशं गुरोः श्रुत्वा धर्मसिंहादिसेवकाः ।
महाभाग्यं निजं ज्ञात्वा नताः पादारविन्दयोः ॥१६६॥

श्रीगुरु से उपयुक्त धर्मोपदेश सुन कर, धर्मसिंह प्रभृति शिष्यों ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए, उनके चरणों पर मस्तक झुका दिये ॥१६६॥

ततो देवो गतोऽरण्यं लीलयाखेटहेतवे ।
आश्रम च नदीतीरे दृष्टवानथसुन्दरम् ॥२००॥

तदनन्तर श्रीगुरु लीलापूर्वक शिकार के बहाने से वन की ओर चले गये । वहां उन्होंने नदी के किनारे पर एक मनोहर आश्रम देखा ॥२००॥

तत्र शय्या समीचीनावर्ततैका सुगन्धिता ।
सर्ववेत्ता परीक्षार्थं तत्र सुष्वाप निर्भयम् ॥२०१॥

वहां एक सुन्दर शय्या लगी हुई थी, जिसमें मनमोहक सुगन्ध भरी पड़ी थी । श्रीगुरु परीक्षा वश, अभय होकर उस पर सो गये ॥२०१॥

सिंहसङ्घोऽपि तत्रैवावस्थितो गुरुसन्निधौ ।
स्वीयवीरादिदं श्रुत्वा माधवश्चकितोऽभवत् ॥२०२॥

उनके सिंह-शिष्य भी वहीं पर आस-पास में संस्थित थे। उधर "माधव" (यक्षनायक) ने अपने अनुचर से यह सब घटना सुनी, तो वह आश्चर्य करने लगा ॥२०२॥

प्रेषिताश्च ततो वीरास्तेन शय्याविपर्यये ।
नैव जातोथ यक्षाणां तथाकर्तुं पराक्रमः ॥२०३॥

उसने अपने यक्ष-योद्धाओं को, शय्या उल्टाने के लिये प्रेरित किया। परन्तु उनको उस निरादर-कार्य में सफलता नहीं मिली ॥२०३॥

इदं श्रुत्वा स्वयं गत्वा नतः श्रीपदकंजयोः ।
प्राह चैनं कृपासिन्धो विद्धि मामपि सेवकम् ॥२०४॥

अपने अनुचरों की असफलता देख कर "माधव" वहां पहुंचा और श्रीगुरु के चरणों पर नतमस्तक होकर कहने लगा, कि हे कृपालु, आप मुझे भी अपना सेवक ही मानिये ॥२०४॥

परीक्षार्थं गुरोः श्रीमन्मया चैषा विडम्बना ।
निर्मिता चाथ जाता सा नो भविष्यतः परम् ॥२०५॥

यक्षपति (माधव) ने कहा, हे सद्गुरु, केवल परीक्षा-हेतु से ही मैंने ऐसा प्रपंच रचा था। जो हुआ, सो हुआ। अब कभी यह अभद्र-व्यवहार न होगा ॥२०५॥

अथो तत्वस्य बोधार्थमुपदेशो विधीयताम् ।
उपायनं तु बोधस्यमुत्तमाङ्गं मदीयकम् ॥२०६॥

अब आप तत्व-बोध की शिक्षा देने की कृपा करें और शिक्षा के प्रथमोपहार में यह मेरा मस्तक सेवा में समर्पित समझिये ॥२०६॥

श्रीगुरुरुवाच —: तत्वमेकं हरिं विद्धि ततो भिन्नमतत्वकम् ।
अयं जीवोऽपि तद्रूपः परिच्छेदेनिर्वर्तिते ॥२०७॥

श्रीगुरुने कहा, हे जिज्ञासु, श्रीहरि ही एक परम तत्व हैं, उनसे भिन्न सब कुछ अतत्व ही समझो । यह जीव भी परिच्छेद (भेदज्ञान) के अभाव में तत्स्वरूप ही होता है ॥२०७॥

परिच्छेदस्य हानिस्तु जायते गुरुवाक्यजे ।
सति ज्ञानेथ बोधस्य मूलमेतच्चतुष्टयम् ॥२०८॥

गुरुमुख से सुने हुए "तत्वमसि" इत्यादि महावाक्य से ही परिच्छेद (भेद) की समाप्ति होती है । ज्ञान भाव पैदा होता है । उस ज्ञान के मूलभूत ये चार साधन हैं......॥२०८॥

विवेकः साधनं चाद्यं वैराग्यं च द्वितीयकम् ।
शमादयस्तृतीयं स्याच्चतुर्थं च मुमुक्षुता ॥२०९॥

विवेक, वैराग्य शम-दम, मुमुक्षुता, क्रमशः एक, दो, तीन और चार, बस ये बोध के आदिकरण हैं ॥२०९॥

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्रमेणैतस्य धारणे ।
नाममात्र श्रुतौसाधो भवेज्ज्ञानजनिः कुतः ॥२१०॥

इनके सतत-सेवन एवं अभ्यास से ही क्रमशः ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। केवल "ज्ञान" के नाम मात्र श्रवण से, तो कभी कहीं किसी को ज्ञान नहीं हुआ करता ॥२१०॥

माधव उवाच —: गुरो नामापि नैतेषां ये विजानन्ति मानवाः।
ज्ञानिनं स्वं च मन्यन्ते गतिस्तेषां तु कीदृशी ॥२११॥

माधव (यक्षनेता) ने निवेदन किया, कि हे गुरुदेव, जो मनुष्य इन ज्ञान-साधनों का नाम भी नहीं जानते और फिर भी अपने को ज्ञानी मानते हैं, उनकी कैसी स्थिति है ? ॥२११॥

श्रीगुरुरुवाच—: अष्टादशापि निरयान् पूरयिष्यन्ति ते नराः।
मृषाज्ञानं पुरस्कृत्य ये चरन्ति हि वंचकाः ॥२१२॥

श्रीगुरु ने सुनाया, हे भद्र, जो लोग झूठ-मूठ के ज्ञान को आगे रख कर, संसार को ठगते फिरते हैं, उनके लिये अठारहनरकों के द्वार हमेशा खुले रहते हैं ॥२१२॥

नित्यमेकं चितो रूपं ततो भिन्नं विनश्वरम्।
इति ज्ञानं दृढं साधो साधनं प्रथमं विदुः ॥२१३॥

एक चिति सत्ता ही नित्य है, और सब विनाशशील हैं, इस ज्ञान की दृढ़ता को ही प्रथम-साधन (विवेक) कहा जाता है ॥२१३॥

द्वितीयं तु भवेदेतन्नश्वरे रागहीनता।
मनो नाशं शमं विद्धि दमं चेन्द्रियसंयमम् ॥२१४॥

विनश्वर-पदार्थों में लगाव न रखना, दूसरा साधन (वैराग्य) कहा गया है। मनः संयम को शम और इन्द्रिय-विजय को दम कहते हैं ॥२१४॥

उपरामस्तु विज्ञेयः कर्म विक्षेपहीनता।
सा तितिक्षा तु विज्ञेया यैव द्वन्द्वसहिष्णुता ॥२१५॥

कर्मों में विक्षेप न होना उपराम समझो और सुख-दुख आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तितिक्षा होती है ॥२१५॥

श्रद्धा च गुरुवाक्येषु दृढो विश्वास इष्यते।
समाधानं तदुक्ते या चेतसश्चैकतानता ॥२१६॥

श्रीगुरु के वचनों (उपदेशों) पर सुदृढ-आस्था (विश्वास) ही श्रद्धा है। उनकी सत्य-शिक्षा पर विचारपूर्ण, मन की लीनता ही समाधान के नाम से प्रसिद्ध है। यह शमादि-सम्पत्ति-वर्ग ही (ज्ञान का) तीसरा साधन है ॥२१६॥

मुक्तीच्छा तु मुमुक्षा स्याद्भवेत्तीव्रतरा च या।
साधनानीति बोधस्य तैर्विना नो स जायते ॥२१७॥

मोक्ष की अत्युत्कट इच्छा को मुमुक्षा कहते हैं; जो ज्ञान का चौथा साधन है। इन चार प्रकार के पूर्व-साधनों के बिना ज्ञान का होना सवर्था असम्भव है ॥२१७॥

साधनानि विना ये तु ज्ञानमिच्छन्ति मानवाः।
धान्यराशिं विना बीजं किं न चेच्छन्त्यचेतसः ॥२१८॥

जो मनुष्य इन साधनों के बिना ही ज्ञान-पोत पर चढ़ना चाहते हैं, वे उसी प्रकार की असफल-कल्पना करते हैं, जो कि बीजबोये बिना ही धान्य-राशि (फसल) पाने की योजना बनाई जाये ॥२१८॥

प्रज्ञानं ब्रह्म चेत्याह ऋग्वेदो नात्र संशयः ।
यजुर्वेदस्य वाक्यं चाहं ब्रह्मास्मीति विश्रुतम् ॥२१९॥

ऋग्वेद कहता है, कि "प्रज्ञान ही ब्रह्म" है। यह सत्य समझो। यजुर्वेद की शिक्षा है, कि "मैं ब्रह्म हूं"। यह भी समुपयुक्त है ॥२१९॥

सामवेदस्य वाक्यं च विद्धि तत्वमसि त्विदम् ।
अथर्वण्यप्ययमात्मा ब्रह्मं तच्च निगद्यते ॥२२०॥

सामवेद की घोषणा है, कि "तुम वही (ब्रह्म) हो।" यह निर्विवाद है। अथर्ववेद में भी "यह आत्मा ब्रह्म है।" यह सत्य-संदेश मिलता है ॥२२०॥

अतः स्वं ब्रह्मरूपत्वं विद्धि वन्द्यो भविष्यसि ।
अपि देवैस्तदा साधो संशयो नात्र युज्यते ॥२२१॥

इसलिये हे साधु, तुम गुरुवाक्य एवं शास्त्राभ्यास से साधन-सम्पन्न होकर अपने "ब्रह्मस्वरूप" को पहचान लो। ऐसा करने पर सब देवता भी तुम्हें पूजा-सम्मान प्रदान करेंगे। इस सत्य को यथार्थ जानो ॥२२१॥

इमं श्रुत्वोपदेशं स नतः श्रीगुरुपादयोः ।
प्रभो वन्दस्त्वदीयोस्मि प्राह देवमिदं वचः ॥२२२॥

श्रीगुरु के सदुपदेश को सुन कर, उनके चरणों पर सिर रख कर उसने विनीत-स्वर में प्रार्थना की, कि हे देव ? मैं आप का "वन्दा" (सेवक-शिष्य) हूं ॥२२२॥

श्रुत्वा च श्रीगुरोर्वृत्तं शिष्यसङ्घात्पुरातनम् ।
प्राह देवं भवेदाज्ञा दुष्टध्वंसाय सद्गुरो ॥२२३॥

फिर उसने श्रीगुरु के शिष्यों से, उनका पूर्व-इतिहास सुना । उसके बाद पुनः श्रीगुरु से आज्ञा मांगी, कि हे देव, कृपा कर मुझे दुष्ट-दमन की स्वीकृति दीजिये ॥२२३॥

तं च कृत्वा भविष्यामि किंचिन्मुक्तो गुरो ऋणात् ।
दग्धं चित्तं करिष्यामि शीतलं करुणानिधे ॥२२४॥

हे कृपालु आपकी कृपा से दुष्ट दुश्मनों का विनाश कर, मैं गुरु-ऋण से उन्मुक्त हो जाऊं और अपने संतप्त-हृदय को शांत कर पाऊं ॥२२४॥

श्रीगुरुरुवाच—: गच्छ साधो यदीच्छा स्यात्तत्र कार्यं परन्त्विदम् ।
स्त्रीयोगो न त्वया कार्यः पथोभेदश्च कर्हिचित् ॥२२५॥

श्रीगुरु ने कहा, हे प्रिय, अगर तुम यही चाहते हो, तो जाओ । लेकिन यह याद रखना, कि स्त्रीसंग और पंथ-भंग न करना ॥२२५॥

जितेन्द्रियो हि वीरःस्याल्लोभहीनश्च सर्वदा ।
इत्यादि क्षितिपालानां धर्मजाते मयोदितम् ॥२२६॥

श्रेष्ठ-शासक के वर्णन में पहले ही कहा जा चुका है, कि उसे

जितेन्द्रिय, शूरवीर, लोभहीन होकर अपना कर्तव्य पालना चाहिये ॥२२६॥

अयं खड्गो गृहीतव्यः सिंहसंघेन गम्यताम् ।
तत्रापि बहुसिंहानां परिवारो भविष्यति ॥२२७॥

यह लो तलवार और सिंह-वीरों के साथ जाने को तैय्यार हो जाओ । वहां अन्य भी अनेक सिंह-शिष्य तुम्हारे साथ हो जाएंगे ॥२२७॥

इदं श्रुत्वा प्रभोर्वाक्यं नतः पादारविन्दयोः ।
गुरोराज्ञानुसारेण मद्रदेशं जगाम सः ॥२२८॥

श्रीगुरु की यथार्थ आज्ञा पाकर वह उनके चरणों पर नतशिर हुआ और फिर मद्र (पंजाब) की ओर चल पड़ा ॥२२८॥

वृत्तमेतच्छ्रुतं सिंहै यदानेके समागताः ।
तदा वन्दः सरंदादौ गतो वीरसमन्वितः ॥२२९॥

यह संवाद सुन कर पंजाब के अनेकसिंह-शिष्य भी उसके साथ हो लिये । तब वीरवर "वन्दा" (बन्दा वैरागी) सरंद (सरहंद) आदि म्लेच्छ-बहुल नगरों की ओर आगे बढ़ा ॥२२९॥

म्लेच्छजातीयसंहारे तेन वीरा नियोजिताः ।
कृत्वा च दुर्दशां यक्षैर्मारिता गुरुशत्रवः ॥२३१॥

उस पराक्रमीयोधा ने अपने वीर-साथियों को यवनों के संहार-कार्य में नियुक्त कर दिया । तब यक्ष-वीरों ने शत्रु लोगों की बहुत दुर्दशा की और उन्हें मारकर मिटा दिया ॥२३०॥

महाद्रोही सरंदस्थो मारितोऽवाच्यकर्मणा ।
शूराणामथ यक्षाणां श्रूयतां कर्म चाद्भुतम् ॥२३१॥

उस यक्षनायक (बन्दा) ने सरंद (सरंहद) के यवन-शत्रु, उद्दण्ड-द्रोही को अकथनीय-रीति से मार डाला। उसके बाद यक्षवीरों ने जो विचित्र कार्य किया, सो अब सुनिये...॥२३१॥

म्लेच्छजातिं च ते धृत्वा काष्ठराशावथाग्निना ।
दग्धवन्तस्तु वन्देन प्रेरिता यक्षजातयः ॥२३२॥

वीरशिरोमणि बन्दा से प्रेरित, यक्ष-योधाओं ने यवन-लोगों को पकड़-धकड़ कर, लकड़ी के घेरों में डाला और उनमें आग सुलगा कर भस्मसात् करना शुरू किया ॥२३२॥

म्लेच्छजातविदं श्रुत्वा तदा कोलाहलोऽभवत् ।
अहो दैव किमायातं प्राहुरेवं परस्परम् ॥२३३॥

यह विनाशकाल देखा, तो म्लेच्छ-परिवारों में त्राहि-त्राहि मच गई। "उफ तोबा, यह क्या आफत आगई" सब कहीं यही कोलाहल होने लगा ॥२३३॥

पर्वतीयाश्च वन्देन स्वयं युद्धेविदारिताः ।
सिंहसंघैर्मिलित्वाथ स्वयं वन्दोऽपि न स्थितः ॥२३४॥

पर्वतीय-शत्रुओं को, बन्दा ने स्वयं युद्ध कर समाप्त कर दिया। उस समर में कुछ सिंह-शिष्य भी उसके साथ थे। अन्त में रण करते २ वह स्वयं ही वीरगति को प्राप्त हुआ ॥२३४॥

उल्लंघितं गुरोर्वाक्यं यदा वन्देन वन्दता ।
गता शीघ्रं समं प्राणैर्मोक्षप्राप्तौ न संशयः ॥२३५॥

क्योंकि उसने श्रीगुरु की निषेधाज्ञा का कुच्छ उल्लंधन किया था, जिससे उसकी वन्दता (शिष्टता या शिष्यता) प्राणों के साथ शीघ्र ही मोक्ष-यात्रा पर निकल पड़ी ॥२३५॥

अत्रवृत्तमिदं जातं गुरोर्वृत्तमथोच्यते ।
कदाचित्तु गुरुः शिष्यान् प्राह देहं समुत्सृजे ॥२३६॥

इधर बन्दा की लीला समाप्त हुई । अब उधर श्रीगुरु की अग्रिम-कथा कही जाती है । एक दिन उन्होंने अपने शिष्यों से स्पष्ट कहा, कि अब मैं नश्वर देह का परित्याग करूंगा ॥२३६॥

गुरुस्थाने गुरुग्रन्थः पूजनीयोथ सेवकैः ।
तत्र चक्रे यतो देवः सर्वसिद्धान्त संग्रहम् ॥२३७॥

किन्तु अब तुम लोग गुरु के स्थान पर गुरुग्रन्थ की ही सुप्रतिष्ठा कर पूजा किया करना । क्योंकि इसमें पूर्वगुरु ने सब समुचित, आर्य-सिद्धान्त की स्पष्टशिक्षा दे रक्खी है ॥२३७॥

बेदरूपोऽत एवासाविष्टदेवसमस्तथा ।
गुरूपदेशरूपत्वात्सर्वपूज्योऽस्ति सर्वदा ॥२३८॥

यह महान् गुरुग्रन्थ वेद तुल्य, इष्टदेव-सदृश ही सदा सम्मान का स्थान है । इसमें गुरुजनों के सर्वविध सदुपदेश संग्रहीत हो चुके हैं ॥२३८॥

पाठकालेतिभक्तस्य प्रत्ययस्त्ववति जायते ।
सम्भाषणं सता साकं मयेदानीं विधीयते ॥२३९॥

इस दिव्य-ग्रन्थ के पाठकाल में श्रद्धालु भक्त को ऐसा भाव उपजता है, कि मैं साक्षात् गुरुदेव से ही बात-चीत करता जा रहा हूं । ॥२३९॥

बालवृद्धादिमूढानामपि स्पष्टं प्रतीयते ।
भक्तिमार्गे निविष्टानामर्थजातं गुरूदितम् ॥२४०॥

बालक, वृद्ध, मन्दमति प्रभृति सब के लिये यह उपयोगी है । जो कोई प्रभु-भक्ति के कल्याण-मार्ग पर अग्रसर होने का अभिलाषी है, उसे गुरु-प्रतिपादित नीति-रीति का स्पष्ट बोध हो जाता है ॥२४०॥

पक्षपातो न तत्रास्ति मध्वरामानुजादिवत् ।
गुरोर्भक्ति सतां सेवां हरेराराधनं विना ॥२४१॥

इसमें श्रीगुरु-भक्ति, सन्त-सेवा, हरि-उपासना के अतिरिक्त और कोई चर्चा नहीं है, जिस से किसी प्रकार का पक्षपातदोष हो, जैसा कि मध्व, रामानुज प्रभृति आचार्यों के मत में पाया जाता है ॥२४१॥

धर्मसिंह उवाच —: प्रभो वांछा मदीयास्ति सतां लक्षणबोधने ।
यानि दृष्ट्वा तु चिन्हानि भवेत्सेवा तदीयिका ॥२४२॥

धर्मसिंह बोला, हे गुरुदेव, कृपा कर आप मुझे सन्तों का लक्षण समझा कर कहें, जिससे जान-पहचान कर उनकी सेवा की जा सके॥२४२॥

रक्तवस्त्रं तु मन्यन्ते मुण्डितं केपि मानवाः ।
मालां तिलकमित्यादि दण्डभस्मादिकं तथा ॥२४३॥

कई लोग केवल लाल-कपड़ा, मुंडा-हुआ सिर, लम्बी माला ऊंचा-तिलक, मोटा-डण्डा, गाढ़ीभस्म-रेखा को ही सन्त होने का प्रमाण मानते हैं ॥२४३॥

जातिमात्रं हि मन्यन्ते चाश्रमामासमेव तु ।
अतो देवाद्य वक्तव्यं पूजनीयसक्तां वपुः ॥२४४॥

इसी प्रकार एक जाति अथवा आश्रम-मात्र को "साधु" नाम देते हैं। इसलिए हे देव ? आप स्पष्ट निर्देश करें, कि वस्तुतः संतों का मानार्ह-स्वरूप क्या है ? ॥२४४॥

श्रीगुरुरुवाच :— तत्ववेत्तृत्ववैराग्ये दमः शान्तिश्च चेतसः ।
दया सर्वेषु भूतेषु मानदानं सुशीलता ॥२४५॥

श्रीगुरु ने कहा, तत्वज्ञान, वैराग्य-वृत्ति, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, दयाभाव, मान-दान, दानशीलता, शील-प्रकृति...॥२४५॥

उपदेशस्तु पात्रेषु दुष्टवाक्यसहिष्णुता ।
निन्दात्यागोऽथ सर्वस्य वृथावाक्येषु मौनता ॥२४६॥

अधिकारी को उपदेश-प्रदान, दुष्टों की वाणी को सहना, निन्दा-त्याग, व्यर्थ-भाषण का अभाव...॥२४६॥

शास्त्रवित्वं च गाम्भीर्यं द्वेषरागादिशून्यता ।
मैत्र्यादिभावनावत्वं दुष्टसंगविवर्जनम् ॥२४७॥

शास्त्राभ्यास, गम्भीरता, द्वेष-राग-विहीनता, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना (यथानियम) दुष्ट-संग का परित्याग,......॥२४७॥

निर्जनागारसंवासो राजद्वाराद्यसेवनम् ।
मिताहारादिसंपत्तिर्वर्जितान्नाद्यभक्षणम् ॥२४८॥

एकान्त वास, राज गृह आदि आश्रयों में अरुचि, हित-मित आहार, निषिद्धान्न का असेवन,......॥२४८॥

हृदि ज्ञानं मुखे भक्तिर्वैराग्येणैव वर्त्तनम् ।
धर्मसिंह सतां साधो लक्षणानीति बुध्यताम् ॥२४९॥

हृदय में ज्ञान, मुख में भक्ति, वैराग्यपूर्वकलोक व्यवहार इत्यादि लक्षणों से संतों की पहिचान करनी चाहिये । हे धर्मसिंह ? तुम इनको अच्छी तरह समझ लो ॥२४९॥

इमं कृत्वोपदेशं वै बद्धपद्मासनो गुरुः ।
योगिराजपथारूढो गतो धाम निजं प्रति ॥२५०॥

यह सदुपदेश देकर, श्रीगुरु ने पद्मासन लगाया और योगीश्वरों के मार्ग से प्राणगति को विसर्जित कर, अमरधाम की ओर प्रस्थान कर दिया ॥२५०॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
अष्टाङ्गयोगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः ॥२५१॥

योगाभ्यासी योगीवर और रण में शूरगति पाने वाला वीरवर, ये दोनों सूर्यमण्डल का भेदन कर, ऊर्ध्वगति पाते हैं ॥२५१॥

इतिवाक्याद्गतो देवो रामरूपं निजात्मकम् ।
कर्मखण्डादिदेशस्थं सत्यखण्डनिवासि यत् ॥२५२॥

इस सिद्धान्त के अनुसार ही श्रीगुरु (गोबिन्दसिंह) अपने उस सत्य-सनातन-राम (ईश्वर) रूप में विलीन हो गये, जो कि कर्मखण्ड प्रभृति लोकों में अवस्थित होकर भी यथार्थतः सत्यखण्ड में नित्य वास-शील है ॥२५२॥

गुरोरूर्ध्वंगतौ शिष्या गता वैराग्यमातुराः ।
शास्त्रोपदिष्टमार्गेण कृतं कर्म समन्ततः ॥२५३॥

उनकी ऊर्ध्वयात्रा के बाद शिष्य लोग अति उदास हो गये। फिर उन्होंने यथा शास्त्र उनका उत्तरकर्म सम्पन्न किया ॥२५३॥

धर्मसिंह उवाच दयासिंह प्रति,

योगिशूरगतिस्तुल्या शास्त्रकारैर्निरूपिता ।
निजे ग्रन्थे सताप्येवं तत्रतत्र निबोधितम् ॥२५४॥

धर्मसिंह ने दयासिंह को पूच्छा,

योगी और योधा की एक जैसी ऊर्ध्वगति को, शास्त्रकारों ने माना है। अपने गुरु-ग्रन्थ में श्रीगुरुने भी प्रसंग वश इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है ॥२५४॥

अतो मृत्युं रणे त्यक्त्वा कथं चक्रे गुरुस्तथा ।
इति मे संशयो भ्रातस्त्वां बिना किं विनंक्ष्यति ॥२५५॥

इतने पर फिर उन्होंने (श्रीगुरुने) रणभूमि में मृत्यु को स्वीकार न कर, योगमार्ग-से क्यों देह छोड़ा ? यह मेरा एक सन्देह है। हे भाई ? तुम ही इसका निवारण कर सकते हो ॥२५५॥

दयासिंह उवाच :— सत्यमेवं तथाप्यत्र विद्यते किंचिदन्तरम् ॥२५६॥
धर्मयुद्धं कलौ काले दुर्लभं हि स्ववांछितम् ॥२५६॥

दयासिंह बोला, हे प्रिय, योगी और योधा की समान-गति-प्राप्ति का वर्णन सत्य है। परन्तु उसमें भी धर्मयुद्ध करने वाले वीर को चुना जाता है और इस कलियुग में धर्मयुद्ध का अभाव है ॥२५६॥

त्रिधा विभज्य शिष्यांश्च कृतं यत्तूपदेशनम् ॥
कर्तुं कस्तु समर्थोऽस्ति धर्मसिंह गुरुं विना ॥२५७॥

हे धर्मसिंह, इसलिये उन्होंने सत्व, रजः और तमो वृत्तिवाले अलग-२ गुणोपेत शिष्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दशानुसार शिक्षा दी है, जो उनके बिना दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥२५७॥

सतां साधोऽवतारोपि स्वार्थमेव न जायते ।
अस्मदाद्यनुरक्तानामुपकाराय केवलम् ॥२५८॥

हे साधु, सत्पुरुषों का आविर्भाव, अपने स्वार्थ के लिये नहीं होता, अपितु वे तो हम जैसे अनुरागीदासों के कल्याण के लिये ही अवतरित होते हैं ॥२५८॥

चमकौरे हि संजातो गुरोः सङ्कल्प ईदृशः ।
नैव युद्धं करिष्याम इतश्चाग्रेथ कर्हिचित ॥२५६॥

चमकौर के युद्ध के वाद ही उन्होंने यह सङ्कल्प कर लिया था, कि अब भविष्य में हम युद्ध नहीं लड़ेंगे ॥२५९॥

सात्विकत्वं न भज्येत यथा राजसवृत्तिभिः ।
तथोपायो मया कार्यः सता चैतद्विचारितम् ॥२६०॥

राजसवृत्तियों से सत्वभाव का तिरोभाव न हो, ऐसा ही सदुपाय करने का उन्होंने सुदृढ़ निश्चय कर रक्खा था ॥२६०॥

अत एव स्वदासोऽन्यः प्रेरितो दुष्टहिंसने ।
यक्षानुरूप इत्यादि न्यायमाश्रित्य वै सता ॥२६१॥

इसीलिये इसबार उन्होंने दुष्ट-विनाश के लिये अपना एक अनन्य-सेवक यक्ष (बन्दा) नियुक्त किया था, जिसे यक्षानुरूप ही कार्य करना पड़ा ॥२६१॥

धर्मसिंह इदं श्रुत्वा सुप्रसन्नो बभूव ह ।
अहो भ्रातर्गता शङ्का दयासिंहमुवाच सः ॥२६२॥

यह युक्ति-युक्त उत्तर सुन कर धर्मसिंह ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए,, दयासिंह से कहा, कि हे बन्धुवर, अब मेरी शङ्का जाती रही ॥२६२॥

एवं शिष्या निजहृदि गुरोः पादपद्मस्य चिन्ताम् ।
नित्यं चक्रुः सरलमनसस्तत्परास्ते बभूवुः ।
केचित्सन्तो हरिपदरतास्तत्र भद्रं प्रयाताः ।
केचिद्वीरा अचलनगरे देवसेवासु लग्नाः ॥२६३॥

इस प्रकार सद्गुरु के शिष्य प्रतिदिन अपने हृदय में श्रीगुरु-चरणों का ध्यान करते थे। सरल स्वभाव से वे उन्हीं के उपदिष्ट मार्ग पर चलते थे। कई सेवक तो प्रभु-भक्ति में रमे हुए सन्त बन कर पंजाब की ओर चले गये तथा कुच्छ लोग 'अचल नगर' में ही उनकी सेवा (स्थान-पूजा, सुरक्षा, प्रचार आदि) में तत्पर हो गये ॥२६३॥

यतो दुःखरूपं प्रपंचं विनासौ बभूवादिकाले निराकाररूपः ।
ततोनादिशक्त्या च साकाररूपस्तमीशं नमामीति गोविन्दसिंहम् ॥२६४॥

जो आदिकाल में, दुःखमय जगत्-प्रपंच के बिना ही अपने विशुद्ध निराकार रूप में समवस्थित थे और फिर अपनी दिव्य माया से साकार रूप में आविर्भूत हुए, उन सर्वशक्तिमान् परमेश्वर स्वरूप सद्गुरु श्री गोविन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२६४॥

क्रमेणापि वेदोऽक्रमेणापि वक्ति यतो विश्वमेतन्न सत्यं कदापि ।
अधिष्ठानमात्रे गुरौ ब्रह्मरूपे तमीशं नमामीति गोबिन्दसिंहम् ॥२६५॥

क्रम या अक्रम से वेद जिसे बतलाते हैं, कि यह सारा जगत् उससे उत्पन्न है, परन्तु जगत् फिर भी सत्य नहीं है। उस रूब के अधिष्ठान ब्रह्मरूप सद्गुरु श्रीगोविन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२६५॥

यथा दोषवन्तो भुजङ्गं विना हि भुजङ्गः प्रयातीति रज्जौ वदन्ति ।
तथा विश्वहीने यतो विश्वभानंतमीशं नमामीति गोविन्दसिंहम् ॥२६६॥

जैसे अज्ञान से, सांप न होने पर भी रस्सी में सांप की भ्रांति लोगों को हुआ करती है, वैसे ही संसार-प्रपंच से रहित जिस ब्रह्म में विश्व की भ्रांति होती है, तत्स्वरूप सद्गुरु श्रीगोविन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२६६॥

सुनासीरमातुर्निशम्यार्तवाचं बलिश्छद्मना वारितो येन राज्यात् ।
यतो वामनाकारमादाय शीघ्रं तमीशं नमामीति गोविन्दसिंहम् ॥२६७॥

देवराज इन्द्र की माता (अदिति) की करुण पुकार सुनकर, राजा बलि को राज्य से निवारण करने के लिये, वामनावतारधारी श्रीहरि के स्वरूप सद्गुरु श्रीगोविन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२६७॥

यतो नारसिंहस्वरूपेण कृत्वा विनाशं सुरारेः कृता भक्तरक्षा ।
यतश्चास्मदीया सता दुःखहानिस्तमीशं नमामीति गोविन्दसिंह ॥२३८॥

नृसिंहरूप धारण कर, देवशत्रु हिरण्यकशिपु का संहार कर, भक्तवर प्रह्लाद की रक्षा करने के अनुसार ही, अब हम जैसे सेवकों के कष्ट हरने वाले, श्रीहरि स्वरूप सद्गुरु श्रीगोन्दिसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२६८॥

श्रुतं ब्रह्मवाक्यं धराभारहानौ यदा रामचन्द्रस्य कृत्वा स्वरूपम् ।
यतोऽकारि देवेन दुष्टस्य नाशस्तमीशं नमामीति गोविन्दसिंहम् ॥२६९॥

पाप-ताप से सन्तप्त धरती का भार-हरण के लिये, श्री ब्रह्मा की पुकार सुन कर, श्रीरामचन्द्र का अवतार-ग्रहण कर, पापियों का विनाश

करने वाले प्रभु-स्वरूप सद्‌गुरु श्री गोविन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२६९॥

कृता गोपलीलाथ वृन्दावनादौ यतः कृष्णरूपेण पित्रोर्विमोक्षः ।
यतश्चादिदेवेन कंसादिनाशस्तमीशं नमामीति गोविन्दसिंहम् ॥२७०॥

वृन्दावन आदि पुण्यस्थलों पर गोप-क्रीड़ा करने वाले, अपने माता-पिता को दुष्टबन्धन से मुक्त करने वाले, कंस जैसे उग्र-शासकों का सवनाश करने वाले श्रीकृष्णावतारी, प्रभुस्वरूप सद्‌गुरु श्रीगोन्दसिंह को अनन्त प्रणाम समर्पित हैं ॥२७०॥

धृतो येन खड्गः कृता धर्मरक्षा सतां रक्षणे निर्मितः सिंहवेषः ।
कलौ काल एतादृशः कोस्ति वीरस्तमीशं नमामीति गोविन्दसिंहम् ॥२७१॥

अभय-हाथों में तलवार उठाकर धर्म की सुरक्षा करने वाले, धर्मानुयायी मानवों की मानवता के हित में सिंहरूप धारण करने वाले, श्रीगुरु के समान अन्य कौन वीर-पुरुष, इस कलियुग में हो सकता है ? ऐसे अनुपम सद्‌गुरु श्रीगोविन्दसिंह को अनन्तप्रणाम समर्पित हैं ॥२७१॥

गुरूणां प्रशस्तं मतं पारिजातं हरासिंहसाधुर्व्यधत्तानुरूपम् ।
सतां सेवया जायते बोधभानुस्तमोनाशको लीलया मोक्षकारी ॥२७२॥

इस प्रकार सद्‌गुरुओं के प्रशस्त (शास्त्रसम्मत) मत को संग्रहीत कर, हरसिंह साधु ने निर्मल-पंथ के अनुयायी बनकर इस "गुरुसिद्धांत-पारिजात" ग्रन्थ की यथोक्त रचना की है। इसका सर्व-संक्षेप रूप यह सत्-सिद्धान्त है, कि संतों की सेवा से ही ज्ञान-सूर्य का उदय होकर,

अज्ञान-अन्धकार का विनाश होता है और फिर मुक्ति का मार्ग सुगम-सरल बन जाता है ॥२७२॥

चन्द्राब्धिखण्डचन्द्रैश्च मिते वर्षे निबन्धकः ।
शिवरात्रावसौ काश्यां ब्रह्मकुट्यां समापितः ॥२७३॥

संवत् १९४१ में ग्रंथकार (हरसिंह साधु) ने, इस ग्रन्थ को काशी में प्रतिष्ठित "ब्रह्मकुटी" निर्मल आश्रम पर, शिवरात्रि के दिन पूरा किया ॥२७३॥

॥ पन्द्रहवां विश्राम समाप्त ॥

